प्रकाशक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, फैजाबाद रोड
लखनऊ

प्रथम बार
एकादश शत प्रतियाँ
मूल्य
आठ रुपया आठ आने

मुद्रक
पं० विहारीलाल शुक्ल
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस
लखनऊ

॥ इष्टदेव्यै मात्रे दुर्गायै नमः ॥

समर्पण

शुक्लाबाद—(शकूराबाद), तहसील सफीपुर, जिला उन्नाव,
लेखक की जन्म-भूमि—में 'रुद्रेश्वर' उत्तुङ्ग एवं
भव्य शिवालय (मुख-पृष्ठ - प्रासाद-
समाकृति) के कारक (यजमान)
परम शैव अपने पितृव्य-
चरण दिवंगत

पं० रुद्रधर शुक्ल

को

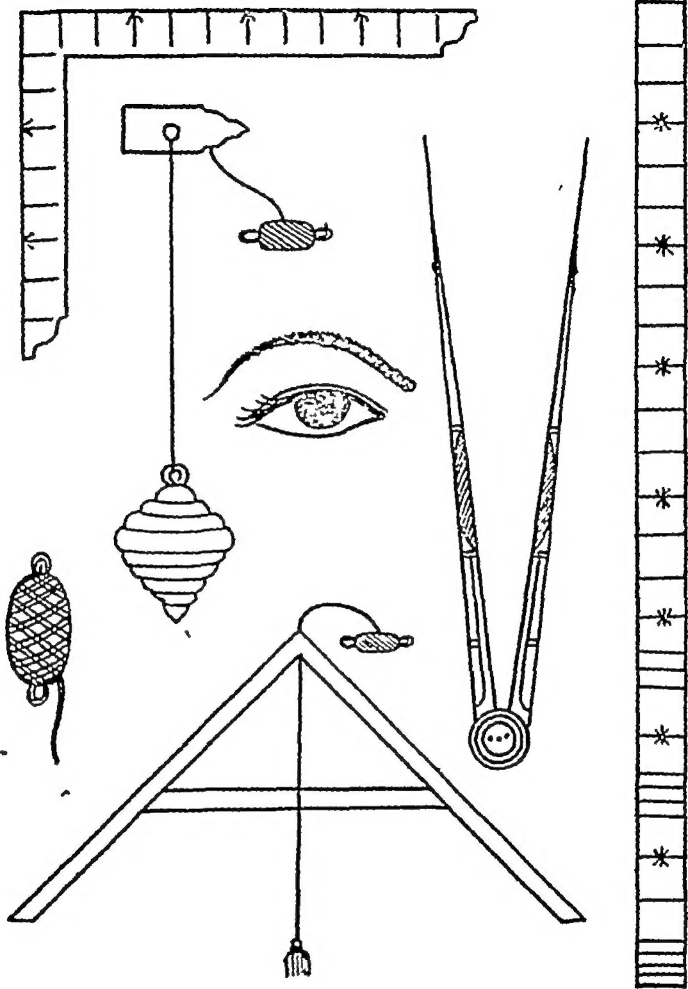
सादर

समर्पित ।

तदनुज—महादेवप्रसाद शुक्ल—आत्मज

—लेखक

अष्ट-सूत्र*



सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं कार्पासकं स्यादवलम्बसञ्ज्ञम् ।
काष्ठं च सृष्ट्याख्यमतो विलेख्यमित्यष्टसूत्राणिवदन्तितज्ज्ञाः ॥

* 'मान-योजना' में सूचित (देखो पृष्ठ ७६ तथा ८०) पर्यन्तस्य चित्र ।

प्राक्कथन

भारतीय वास्तु-शास्त्र के सर्वांग-पूर्ण अधिकृत एवं वैज्ञानिक ग्रंथ—धाराधिप महाराज 'भोजदेव' विरचित 'समराङ्गण-सूत्रधार' वास्तु-शास्त्र पर मेरे दीर्घ-कालीन अध्ययन एवं अनुसन्धान का यह द्वितीय प्रयास है। मेरा प्रथम प्रयास अंग्रेजी में 'डाक्टरेट-थीसिस' के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रदत्त है, इस ग्रन्थ का मूल्यांकन इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकेंगे। परन्तु इतना संकेत यहाँ पर पर्याप्त है कि इस अनुसन्धान-कार्य की रूप-रेखा तथा कतिपय स्थलों को जिन-जिन धुरंधर विद्वानों ने देखा तथा पढ़ा है उनका प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद प्रथम ही प्राप्त हो चुका है। इन विद्वानों में सर्वश्री प्रो० अय्यर अध्यक्ष संस्कृत-विभाग तथा डीन फैकल्टी आफ आर्ट्स, लखनऊ विश्वविद्यालय, डा० प्रसन्नकुमार आचार्य, भूतपूर्व प्रोफेसर संस्कृत विभाग तथा डीन फैकल्टी आफ आर्ट्स, प्रयाग विश्वविद्यालय, डा० बाबूराम सक्सेना वर्तमान अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा डीन फैकल्टी आफ आर्ट्स प्रयाग विश्वविद्यालय, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

"इसकी अनुसन्धान व सचित्र स्वरूप (Factual Presentation)– युक्त इस की अंग्रेजी थीसिस—"A Study of Bhoja's Samarāṅgaṇa Sūtradhāra" — पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने लेखक को इसी कनवोकेशन (२३/१/५६) में डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की है तथा भारतीय-विज्ञान के इस महत्वपूर्ण विषय पर इस अनुसन्धान के विशेषज्ञ विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा करते हुए लखनऊ विश्वविद्यालय को बधाई भी दी है, जिसने ऐसे महत्वपूर्ण विषय की अनुसन्धान विषय-प्रस्तावना की" —प्रकाशक

उदीयमान राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करने में सहायक हो सकेगा—इससे मुझे बड़ा हर्ष एवं सन्तोष है।

इस अनुसन्धान के प्रकाशन का श्रेय उत्तर-प्रदेश सरकार को है जिसने डा० आचार्य के प्रशंसित-अनुमोदन से इस अनुसन्धान को एक श्रेष्ठ-कृति (Work of outstanding merit) स्वीकार कर के अपनी तीन हजार रुपये की उदार सहायता (Subsidy) प्रदान की है।

वास्तु-शास्त्रीय क्षेत्र पर अनुसंधान सामग्री का एक पूरा (Manuscript) से सम्पन्न हुआ है, जिसका एक चौथाई भाग वास्तु विद्या एवं पुर-निवेश—प्रकाशित हो रहा है। दूसरा एक चौथाई भाग प्रतिमा-विज्ञान (Iconography) तथा चित्र-कला (Painting), जो इस अनुसन्धान का अन्तिम भाग है—शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है। शेष के दो चौथाई भाग—भवन-निवेश (House Architecture including Palace Architecture) एवं मंदिर रचना तथा प्रासाद निवेश (Temple Architecture) का प्रकाशन [illegible], उत्तर-प्रदेश सरकार की सहायता से पुनः साहाय्य प्राप्त हो सके—[illegible] पूर्ण आशा है।

इस ग्रन्थ की अध्ययन-पद्धति एवं समीक्षा-पद्धति आदि पर आगे के औपोद्घातिक अध्याय में प्रतिपादन है। अतः यहाँ पर इतना ही विशेष संकेत आवश्यक है कि इस विषय की जिन अधिकृत कृतियों से इस ग्रन्थ के प्रणयन में विशेष सहायता मिली है उन के लेखकों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। प्रथम पटल—वास्तु-विद्या के प्रणयन में डा० आचार्य की मानसारीय कृतियाँ, डा० भट्टाचार्य का A study of Vastu-Vidya or Canons of Indian Architecture, डा० क्रैमिश का Hindu Temple तथा विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज' विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय पटल के प्रणयन में विशेष सहायता श्री बी बी दत्त की Ancient Indian Town planning से मिली है। श्री विनोदविहारी दत्त महाशय का यह ग्रन्थ अब भी प्राचीन-भारत के नगर-निवेश का एक प्रामाणिक एवं पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ है। अतः दत्त महाशय का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अपने गुरुवर्य प्रो० अय्यर की कृपा का ऋण चुकाना असम्भव है जिन्होंने समराङ्गण-सूत्रधार को मेरे अनुसन्धान के लिये प्रस्तुत (prescribe) किया। आदि में मुझे बड़ा नीरस शुष्क एव जटिल प्रतीत हुआ परन्तु अब तो यह मेरे वैदुष्य-जीवन का एकमात्र साथी बन गया है। प्रो० अय्यर ने वास्तव में मेरे अध्ययन की एक बड़ी सुन्दर दिशा बताई।

आधुनिक वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान के जनक (Father of the modren Researches on Ancient Indian Architecture) डा० आचार्य की कृपा एवं उदारता का भी मैं अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने समय समय पर इस कार्य में मुझे व्यापक सुझाव सुझाये।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की कृपा को में कभी नहीं भूल सकता जिन्होंने अपने अद्भुत वास्तु-शास्त्रीय ज्ञान से मेरा चक्षुरुन्मीलन ही कर दिया। अतः डा० अग्रवाल की कृपा का किन शब्दों से बदला चुकाऊँ?

सतीर्थों (Colleagues) में डा० बैनर्जी तथा श्री मोतीलाल रस्तोगी (रस्तोगी जी मेरे पूर्व शिष्य हैं) विशेष धन्यवाद के योग्य हैं जिन्होंने छपते समय, प्रेस की परेशानी के समय, यदाकदा सर्वदा सहयोग देने की तत्परता दिखाई। इस अवसर पर शुक्ला प्रेस के संचालक पं० बिहारीलाल शुक्ल को मैं नही भुला सकता जिन्होंने इस टेक्निकल ग्रन्थ के प्रकाशन में वैयक्तिक-रूप से तत्परता दिखाई एवं अध्यवसाय किया। यह दुर्भाग्य ही है कि तब भी कहीं कहीं अशुद्धिया रह गयीं हैं।

अन्त में लखनऊ यूनिवर्सिटी के भूत-पूर्व वाइस-चांसलर आचार्य जुगुलकिशोर को विशेष स्मरण कर रहा हूँ जिन्होंने इस अनुसन्धान में बड़ी दिलचस्पी दिखाई तथा उत्तर-प्रदेश राज्य ने इसके प्रकाशन में सिफारिश भी की। अत. आचार्य जी की इस कृपा एवं औदार्य का मैं कृतज्ञ हूँ तथा बार बार धन्यवाद देता हूँ।

द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
शुक्ल-कुटी फैजाबाद रोड,
लखनऊ

विषय-तालिका

प्रथम पटल

वास्तु-विद्या

(१ से ८० पृष्ठ तक)

पुर-निवेश

द्वितीय पटल

(८१ से २१४ पृष्ठ तक)

पूर्व-पीठिका

(८१ से १३१ पृष्ठ तक)

विषय	पृष्ठ

उत्तरपीठिका

परिशिष्ट

वास्तु–विद्या

१

विषय-प्रवेश

अ. उपोद्धात—

महाराज भोजदेव की जीवन-गाथा भारतीय इतिहास में इने गिने राजर्षियों की गाथा में एक है। प्राप्त एवं अर्ध-प्राप्त भारतीय ऐतिहासिक सामग्री में राजर्षि 'प्रियदर्शि' अशोक, महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जन-समाज में अतिप्रसिद्ध राजा भोज ही हुआ है। महाराज विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है तो महाराज अशोक का धर्म-प्रचार और महाराज भोजदेव की साहित्यिक गरिमा। भारत की ऐतिहासिक सांस्कृतिक विकास-परम्परा में धर्म एवं दर्शन के बाद ही साहित्य का स्थान आता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, पुराण एवं स्मृतियों के बाद ही, अर्थात् श्रुति एवं स्मृति के उपरान्त ही लौकिक साहित्य—काव्य, नाटक, अलंकार, ध्वनि, कथा तथा आख्यायिका आदि का विकास पाया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के व्यापक विजृम्भण में भोजदेव सांस्कृतिक विकास की पराकाष्ठा के प्रतीक हैं। उनके राज्यकाल में संस्कृत-साहित्य के चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

इस देश में संस्कृति के समभ्युत्थान में जहाँ पारदर्शी मंत्रद्रष्टा महर्षियों ने पथ प्रदर्शन किया वेद-विद् ब्राह्मणों ने धर्म और दर्शन के अक्षुण्ण रक्षण में एवं परमार्थ-चिन्तन में तपस्या एवं साधना का आश्रय लेकर संस्कृति के जीवन में जीवन फूंका। और इस प्रकार इन लोगों ने भारतीय संस्कृति के आभ्यन्तरिक कलेवर अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के विकास को पराकाष्ठा तक पहुँचाया, वहाँ अशोक, विक्रम और भोज ऐसे राजर्षियों ने भारतीय संस्कृति के वाह्य कलेवर अर्थात् भौतिक जीवन के समभ्युत्थान में महान् योगदान दिया।

भारतीय जीवन सदैव राजसत्ता एवं राजतन्त्र से अनुप्राणित एवं प्रभावित रहा—यथा राजा तथा प्रजा—की कहावत सर्वथा इस देश में चरितार्थ रही। देश के सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन एवं कलात्मक जीवन का आश्रय राजा ही तो रहा। भारतीय जीवन की विभिन्न भौतिक परम्परायें—नृत्य, गीत, वाद्य, काव्य, साहित्य, नाट्य आदि ललित कलायें एवं वास्तु तथा स्थापत्य एवं चित्रकर्म आदि उपयोगी कलायें—राजाश्रय पाकर ही तो पनपी। लेखक की तो धारणा है कि भारतीय संस्कृति के वाह्य कलेवर—भौतिक-पक्ष की पुष्टि राजाश्रय पाकर ही सम्पन्न हुई। पुराणों की रचना धर्मप्रचारक ब्राह्मणों ने की। शिवपूजा, विष्णुपूजा की माहात्म्य-मन्दाकिनी के प्रवहण का श्रेय ब्राह्मणों को है परन्तु कालान्तर में पुराण-प्रतिपादित शिवपूजा और विष्णुपूजा के उपासना-स्थल प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों, वृहद एवं विशाल मन्दिरों की स्थापना तथा निर्माण का श्रेय तत्कालीन राजाओं को ही है। बिना राजाश्रय पाये सम्भवतः ही किसी स्थापत्यकला एवं वास्तु-कला निदर्शक प्रासादनिर्माण एवं प्रतिमानिर्माण सम्पन्न हुआ हो।

भारत के प्राचीन विभिन्न-कालीन स्मारकों की (अजन्ता, एलौरा के गुहामन्दिर, दक्षिण के विमानाकृति प्रासाद, उत्तर के उत्तुंग शिवालय एवं विभिन्न बौद्ध विहार, चैत्य तथा स्तूप आदि तथा जैनों के जाज्वल्यमान जिनालय आदि—देखिये पर्सी ब्राउन आदि—वास्तुकला विषयक लेखकों के ग्रन्थ) निर्माण-गाथा में तत्तत्कालीन मण्डलेश्वरों की वदान्यता, दानशीलता, वास्तुकला-प्रियता एवं अपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग, प्रपा, पुण्यशाला, धर्मशाला, मन्दिर आदि निर्माण-कार्य) के सचय के ओजस्वी प्रमाण प्रत्यक्ष हैं।

महाराज भोजदेव का अवतरण मालव राजमंच पर उस समय हुआ था जब हिन्दू-राज्य-सत्ता का सूर्य अस्त हो रहा था। ११वीं शताब्दी के पूर्व ही देश में मुस्लिम सत्ता ने जड़ पकड़ ली थी। दीपक जब बुझने लगता है तो एक बार पुन. चकाचौंध करने वाला प्रकाश करता है। भोजराज का राज्यकाल इसी कहावत की अतिरंजना है। काव्य-राधना, ग्रन्थरचना, कविगोष्ठी, विदग्ध-वैदग्ध्य आदि तभी शोभित होते हैं, पनपते हैं और जागरूक होते हैं जब जीवन सुखद एवं शान्त होता है। वैभव एवं ऐश्वर्य की कमी नहीं होती है। भोजदेव के राज्यकाल का साहित्यक वैभव तत्कालीन सुखद जीवन के बिना कैसे सम्भव था। कहा भी जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। सामाजिक जीवन की छाप तत्कालीन निर्मित साहित्य पर अवश्य पड़ती है।

महाराज भोज के सम्बन्ध में जो किम्वदन्तियाँ एवं जनश्रुतियाँ जन-समाज में आज तक परम्परा से प्रचलित हैं, भोज के सम्बन्ध में जो विभिन्न उल्लेख परवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में पाये जाते हैं, अथच भोज से सम्बन्धित जिन प्रशस्तियों एवं दान-पत्रों की उपलब्धि हुई है—इन सभी से इतना तो असन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि भोज का राज्यकाल संस्कृत साहित्य का एक स्वर्ण युग था। भोज की अतिरंजित शैली और उसका ऐश्वर्य उसकी सभी साहित्यिक कृतियों में एवं कार्य-कलापों में पाया जाता है।

भोज के समय की इस सर्वाङ्गीण समृद्धि एवं शांति तथा सुख के कारण ही उसके समय में संस्कृत-साहित्य के चरमोत्कर्ष के दर्शन होते हैं। अतः भोज के समय को हम यदि संस्कृत-साहित्य के समभ्युत्थान का चरम काल कहें तो अत्युक्ति न होगी।

भारत के सांस्कृतिक विकास के बाल्यकाल में साहित्य की अकृत्रिमता, सरलता एवं स्वच्छन्दता तथा शुद्धता के दर्शन वेदों-उपनिषदों के काल में हम पाते हैं। महाकाव्य—रामायण एवं महाभारत—तथा पुराणों के युग में उसके कैशोर-जीवन के चाञ्चल्य एवं उद्दाम प्रवाह का दर्शन करते हैं। कालिदास आदि कवि-पुंगवों के काव्य में उसके स्थैर्य एवं सौन्दर्य का साक्षात्कार पाते हैं। क्रमश. भोज के काल में साहित्य-पुरुष अपने प्रौढत्व को प्राप्त कर सजावट और बनावट, शृङ्गार एवं विलास की सभी सप्रयत्न चेष्टाओं के लिये और ठाट-बाट बनाने के लिये जीता जगता जागरूक प्रतीत होता है। एक शब्द में भोजदेव के समय में जीवन एवं साहित्य के सभी क्षेत्रों में हम एक अतिरञ्जित महान शैली—grand and eloquent Style का साक्षात्कार करते हैं। यह भोज-विनिर्मित विभिन्न ग्रन्थों के परिशीलन से पद-पद पर प्रतीत होता है।

भोज के शृङ्गार-प्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा राजमार्तण्ड आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ

पंडित-परम्परा में बड़े गौरव से गिने ही जाते हैं, समराङ्गण-सूत्रधार की उपलब्धि से महाराज भोज की वास्तुशास्त्रीय देन से भोज की स्थिर कीर्ति में चार चाद लग गये हैं।

राजा भोज स्वयं बड़ा विद्वान् था। वह विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता था। उसका राज्य-दरबार जहाँ शासन और न्याय के लिये प्रसिद्ध था वहाँ उसकी धवल कीर्ति का कारण उसका संस्कृत-विद्यानुराग था। भोज के दरबार के सम्बन्ध में तो उसे यदि एक विद्या-पीठ अथवा अनुसन्धानशाला या गवेषण-पीठ के नाम से पुकारा जाय तो अत्युक्ति न होगी। काव्य-स्वाद का दैनिक मनोरंजन की सामग्री मे एक अत्यन्त उच्चस्थान था, विभिन्न कवियों को काव्य-रचना का प्रोत्साहन तो इसी से अनुमित है कि एक-एक श्लोक पर एक-एक लक्ष पुरस्कार की बात तो आज तक लोगों में प्रसिद्ध है। परन्तु भले ही इनमें ऐतिहासिक सत्यता न हो परन्तु भोज के नाम से लगभग ३ दर्जन ग्रन्थों की जो उपलब्धि हुई है उससे तो विद्वान् यह निष्कर्ष निकाल ही सकते हैं कि भोज ने स्वत्र अथवा विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न कलेवरों पर ग्रन्थ लिखकर अथवा लिखवाकर संस्कृत-साहित्य के भण्डार को अमूल्य ग्रंथरत्नों से भरा। साहित्य के प्रायः सभी मुख्य अंगों पर निष्णात ग्रन्थों की रचना बिना अनुसन्धान, गवेषण एवं मनन के नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि भोज ने साहित्य-रचना मे बड़ा योग दिया। भोज के नाम से ज्योतिष, अलंकार, योगशास्त्र, राजनीति, धर्म-शास्त्र, शिल्प, नाटक, काव्य, व्याकरण, वैद्यक, शैवमत, संस्कृत-कोष आदि निम्नलिखित ३४ ग्रंथों की उपलब्धि हुई है:—

ग्रन्थ	विषय	
१. राज-मृगाङ्क	ज्योतिष	
२. राज-मार्तण्ड	,,	
३ विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्न ज्ञान	,,	
४. आदित्य प्रताप सिद्धान्त	,,	
५. भुजबल-निबन्ध	,,	
६. सरस्वती कण्ठाभरण	अलंकार	
७. शृङ्गार प्रकाश	,,	
८. राजमार्तण्ड-योगसूत्र-वृत्ति — पातञ्जल योगसूत्र-टीका	योग	
६. पूर्तमार्तण्ड	राजनीति और	धर्मशास्त्र
१० चाणक्य राजनीति शास्त्र	,,	,,
११. व्यवहार समुचय	,,	,,
१२. चारु-चर्या	,,	,,
१३. विविध विद्या-विचार चतुरा	,,	,,
१४ सिद्धान्तसार पद्धति	,,	,,
१५. समराङ्गण-सूत्रधार	शिल्प	
१६. युक्ति-कल्पतरु	,,	

१७. भोजचम्पू (चम्पूरामायण) पांचकाण्ड	नाटक और काव्य
१८. महाकाली-विजय	,, ,,
१९. विद्या-विनोद	,, ,,
२०. शृङ्गारमजरी (गद्यकाव्य)	,, ,,
२१. कूर्मशतक (प्राकृत)	,, ,,
२२. प्राकृत-व्याकरण	व्याकरण
२३. सरस्वती-कण्ठाभरण	,,
२४. विश्रान्तविद्याविनोद	वैद्यक
२५. आयुर्वेद-सर्वस्व	,,
२६. राजमार्तण्ड-सार-संग्रह	,,
२७ तत्वप्रकाश	शैवमत
२८ शिवतत्व-रत्न-कलिका	,,
२९. सिद्धान्त-संग्रह (विवृतिः)	,,
३०. नाम मालिका	कोष
३१. शब्दानुशासन	,,
३२. शालिहोत्र	विभिन्न विशय
३३. सुभाषित प्रबन्ध	,,
३४. राजमार्तण्ड (वेदान्त)—ज्योतिष से भिन्न	,,

इस विभिन्न-विषयक ग्रंथ-तालिका से भोज के उद्भट ग्रंथकार होने में तो किसी प्रकार संदेह हो ही नहीं सकता क्योंकि विभिन्न परवर्ती ग्रंथकारों ने भी भोज का विभिन्न-विषयक आचार्यत्व स्वीकार किया है। विशेषकर धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, कोष, व्याकरण आदि के अनेक लेखको ने अपने अपने ग्रंथों में इस तथ्य का निर्देश किया है।

Aufrecht की पुस्तक सूची में लिखा है कि शूलपाणि ने अपने बनाये प्रायश्चित्त-विवेक में, बौद्ध लेखक दशबल ने, अल्लाडनाथ ने और रघुनन्दन ने अपने-अपने ग्रन्थों में भोज का धर्म-शास्त्र के लेखक के नाम से उल्लेख किया है। भावप्रकाश और माधवकृत रुग्विनिश्चय में भोज को आयुर्वेद के ग्रन्थों का लेखक कहा गया है। केशवार्क ने भोज को ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथों का लेखक माना है। क्षीरस्वामी, सायण और महीप ने भोज को वैयाकरण और कोषकार की उपाधियों से विभूषित किया है। कवि चित्तप, दिपेश्वर, विनायक-शङ्कर सरस्वती और कुटुम्बदुहितृ ने भोज की काव्य-शक्ति की प्रशंसा की है।

इसी प्रकार अन्य कई लेखकों ने भी इनकी प्रशंसा में अनेक श्लोक लिखे हैं। संक्षेप में उनका थोड़ा सा उल्लेख करना यहाँ असंगत न होगा।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी द्वारा सम्पादित, गवर्नमेंट ओरिन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास की संस्कृत पुस्तकों की सूची भा. ३ खण्ड १ बी, पृ. ३३६२–६४ में सूचित "शब्द साम्राज्यम्' नामक व्याकरण ग्रन्थ में भोजीय व्याकरण के सूत्रों के अनुसार शब्द-सिद्धि दी गयी है। साथ ही इसमें अन्य व्याकरणाचार्यों के मतों का भी उल्लेख है। अतः भोज का व्याकरण-वैदुष्य एवं तद्विषयक ग्रंथ-निर्माण असन्दिग्ध है।

इसी प्रकार पूर्व निर्दिष्ट ओ. मै. ला०, मद्रास की संस्कृत-पुस्तक-सूची में 'गिरिराजीय-टीका' नामक एक पुस्तक की प्रति की सूचना है जो काट्यवेम द्वारा लिखित 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की टीका है। उसमें लिखा है:—

मुनीना भरतादीनां भोजादीनां च भूभृताम्।
शास्त्राणि सम्यगालोच्य नाट्यवेदार्थवेदिनाम्॥

इस उद्धरण से प्रकट है कि भरत मुनि के समान ही राजा भोज भी नाट्यशास्त्र का आचार्य माना जाता था।

इसी प्रकार ओर. मै. ला०, मद्रास की संस्कृत सूची में 'स्मृतिरत्नम्' नामक ग्रंथ में ग्रंथकार लिखता है:—

भोजराजेन यत्प्रोक्तं स्मार्तमन्यत्र चोदितम्।
न्यायसिद्धं च संगृह्य वचनानि पुरातनैः॥
अनुष्ठानप्रकाशार्थं स्मृतिरत्नं मयोच्यते।

इसी अवतरण से मतद्वैविध्य नहीं कि भोजराज धर्मशास्त्र के भी आचाय माने जाते थे।

इस हस्तलिखित सूची मे 'कन्दर्प-चूडामणिः' नामक कामशास्त्र विषयक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसके रचयिता श्री वीरभद्र राजा ने अपने ग्रन्थ में लिखा है:—

भोज इवायं निरतो नानाविधानिबन्धनिर्माणे,
समयोच्छिन्नप्राये सोद्योगः कामशास्त्रेऽपि।

अर्थात् इससे भोज का अनेक ग्रन्थ-रचना-पाटव एवं उसकी प्रसिद्धि सुतरा सिद्ध ही है।

इसी प्रकार 'सङ्गीत रत्नाकरः' नामक पुस्तक मे शार्ङ्गदेव जी लिखते हैं:—

रुद्रटोऽनभिभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
परमार्दी च सोमेशो जगदेकमहीपतिः॥
व्याख्यातार ....।

इस उल्लेख से राजा भोज का संगीत-शास्त्र का आचार्य होना पाया जाता है इसी प्रकार 'संगीत-समय-सारः' नामक ग्रन्थ में (देखिये कु० स्वा० द्वारा सम्पादित संस्कृत हस्तलिखित पुस्तक-सूची) ग्रन्थकार पार्श्वदेव लिखते हैं:—

शास्त्रं भोजमतङ्गकश्यपमुखा व्यातेनिरे ते पुरा

जिससे सुतरां सिद्ध है भोज ने संगीत शास्त्र पर प्रसिद्ध रचना की।

अथच "भेषज-कल्पसार-संग्रह" (मद्रास संस्कृत हस्तलिखित पुस्तक-सूची) मे ग्रथकार ने ग्रथ के प्रारम्भ में लिखा है:—

वाहटे चटके भोजे वृद्धभोजे च हारिते

इस उल्लेख से भोज के आयुर्वेदाचार्यत्व पर शंका नहीं हो सकती।

इसी प्रकार अनेक परवर्ती ग्रन्थकारों ने भोज के ग्रंथों पर तथा उसके आचार्यत्व एवं अनेक-शास्त्र-पाण्डित्य पर प्रकाश डाला है। साथ ही साथ भोज के काव्यानुराग एवं कवियों को आश्रय-

दान तथा उनकी दान-महिमा आदि विभिन्न वरेण्य गरिमाओं पर प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। यही नहीं भोज के समकालीन कवि, उसके दरबार की छटा, उसका राज्य-विस्तार, उसके समय आदि पर भी यत्र तत्र बहुल सामग्री प्राप्त होती है।

अतः इस सब सामग्री को एकत्रित कर भोज के सम्बन्ध में अनुसंधान-कार्य का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र विद्वानों के सम्मुख है। भोज के सम्बन्ध में अविकल रूप से ग्रंथ-प्रणयन का श्रेय श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ को है जिन्होंने अपने 'राजा भोज' नामक हिन्दी ग्रंथ में भोज से सम्बन्धित यत्र तत्र प्राप्त, श्रुत एवं पारम्परित सामग्री का उल्लेख करके राजा भोज के वंश, समय, तिथि तथा जीवन एवं कार्य के साथ-साथ उनकी साहित्यिक कृतियों की सूची एवं दरबारी कवियों के विवरण पर लगभग ४५० पन्नों की एक किताब लिखी है। इस पुस्तक में भोज के सम्बन्ध में एकत्रित सामग्री हमारा मनोरंजन कर सकती है एवं ऐतिहासिक ज्ञानवृद्धि में भी योग दे सकती है। परन्तु भोज की साहित्यक समीक्षा अर्थात उनके ग्रंथों का गवेषण या अनुसधान हमको इसमें नहीं मिलेगा। अतः भोज ऐसे साहित्यिक महारथी की कृतियों के एक अनुसन्धानात्मक ग्रंथ की अत्यन्त आवश्यकता देखकर ही लेखक इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ।

अतएव इस साहित्यिक महारथी एवं महान् नृप के सन्बन्ध में, अनुसन्धान करने के लिये लेखक ने 'राजा भोज—उसका जीवन एव उसकी कृतियाँ' शीर्षक विषय लेकर सन् १९४० ई० में (जब लेखक एम० ए० परीक्षा में लखनऊ विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण हुआ था) अनुसधान कार्य करने की ठानी थी परन्तु विभिन्न जीवन जटिलताओं एवं समयाभाव के कारण यह अनुसंधान कार्य लगभग ७ वर्ष तक यों ही पड़ा रहा। इधर जब से लेखक को लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन का अवसर (संस्कृत-विभाग में अध्यापक के रूप में) प्राप्त हुआ तो इस अनुसंधान के संबंध में नवीन स्फूर्ति, एक नव चेतना एवं प्रेरणा की प्राप्ति हुई। परन्तु यह इतना विशाल विषय था कि एक मात्र भोज की जीवनी—समय-निर्धारण, वंश परिचय, कला-वैभव, समकालीन कवि आदि-आदि जीवन संबन्धी प्रश्नों एवं समस्याओं—पर पूर्ण प्रकाश डालने के लिये एक सुन्दर एव ओजपूर्ण थीसिस लिखी जा सकती है क्योंकि प्राप्त एवं अर्धप्राप्त सामग्री पर जो निष्कर्ष विद्वानों ने भोज की तिथि एवं समय पर निकाले हैं वे सर्वथा सर्वांश में सुनिर्णीत नहीं हो पाये हैं।

इसके अतिरिक्त भोज की जिस ग्रंथ-तालिका का निर्देश ऊपर किया गया है उसको देखकर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि भोज के ग्रंथों पर एक व्यक्ति नहीं अनेक विद्वान् यदि विषय-वैशिष्ट्य के अनुसार अनुसन्धान करें तो सभवत. एक दर्जन से अधिक वृहद-ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। 'शृङ्गार-प्रकाश' को ही लीजिये। मद्रास विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध डा० राघवन ने उस पर अनुसन्धान किया जो विशालकाय है। अत लेखक ने लखनऊ वि० वि० के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष अपने श्रद्धेय गुरुवर्य श्रीयुत प्रोफेसर के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय के सत्परामर्श से पी० एच० डी० थीसिस के लिये पूर्व निर्धारित विषय के अन्तर्गत ही "भोजदेव-विरचित समराङ्गण-सूत्रधार—एक अध्ययन" इस विषय को लेकर (पूर्व विषय को सीमित कर) इस दिशा में कार्य किया है।

समराङ्गण के विषयानुक्रम से विवरणात्मक अध्ययन के पूर्व उसकी एक औपोद्घातिक समीक्षा एवं संक्षेप को हम आगे के अध्यायों में प्रस्तुत करेंगे। यहाँ इस विषय-प्रवेश के अन्त में दो विषयों—समीक्षा-पद्धति एवं अध्ययन-पद्धति—पर कुछ थोड़ा सा और निवेदन करना है।

ब. समीक्षा-पद्धति—

'समराङ्गण' वास्तु-शास्त्र का एक अत्यन्त प्रामाणिक, महत्वपूर्ण एवं अधिकृत ग्रन्थ है। इसकी रचना ११वीं शताब्दी में एक अत्यन्त ओजस्वी राजकुल के वातावरण में सम्पन्न हुई। धाराधिप महाराज भोजदेव ऐसे विद्याप्रेमी कलाप्रेमी एवं विदग्ध विद्वान की यह कृति मध्यकालीन-वास्तु-विद्या का अधिकृत ग्रन्थ है। अथच ११वीं शताब्दी तक इस महादेश के दोनों भूखन्डों—आर्यावर्त एवं दक्षिणापथ—पर भव्य से भव्य प्रासादों का निर्माण हो चुका था, अतः यह प्रश्न उठता है कि प्राचीन भारत अथवा मध्य भारत के शतशः वास्तु-स्मारकों के निर्माण में प्राप्त तत्तत्कालीन ग्रन्थों में प्रतिपादित पद्धतियों, नियमों और शैलियों का अवश्य अनुगमन हुआ होगा। दुर्भाग्यवश इस दिशा में अभी तक कोई भी सन्तोषप्रद प्रयत्न नहीं हुआ। भारतीय वास्तु-कला के निदर्शन प्राचीन स्मारकों पर आधुनिक विद्वानों (हैवेल, फर्ग्युसन, कुमारस्वामी, वर्सीब्राउन आदि-आदि) ने प्रौढ ग्रन्थ लिखे हैं तथा उनकी विस्तृत समीक्षा की है। इसके विपरीत डा० आचार्य ने अपने मानसारीय सप्तग्रन्थी अध्ययन में प्राचीन वास्तु-विद्या के एक प्रोन्नत ग्रन्थ का सम्पादन, अनुवाद, रेखाचित्र, पारिभाषिक-पद-कोष आदि-आदि पर स्तुत्य एवं महान् प्रयत्न किया है। परंतु जब तक स्मारकों (monuments) तथा वास्तु-ग्रन्थों (manuals) का समन्वयात्मक पद्धति पर इन कृतियों का अध्ययन एवं विवेचन नहीं होता तब तक अनुसन्धान अधूरा ही समझना चाहिये।

यद्यपि यह विषय बड़ा कठिन है। इस विषय की सामग्री भी पर्याप्त नहीं है। वास्तु विद्या की परम्परा अपढ कारीगरों में ही विशेषकर सीमित होने के कारण, वास्तु-ग्रन्थों की व्याख्या भी बड़ी दुरुह है तथापि इस दिशा में प्रयत्न परमावश्यक है। वास्तु ग्रन्थों में प्रतिपादित, पुर-निवेश-प्रक्रिया, भवन-निर्माण, भवनांग, भवन-वर्गीकरण, राजप्रासाद, देवतायतन (बहु-भूमिक तथा बहु-शिखर विमान एवं प्रासाद) आदि की निर्माण पद्धतियाँ, विभिन्न शैलियाँ एवं आकृतियाँ कोरे वर्णन नहीं माने जा सकते। उनका स्थापत्य में अवश्य समन्वय था। इसी का समुद्घाटन किसी भी वास्तु-ग्रन्थ के अध्ययन का परम आदर्श होना चाहिये।

मैंने इसी दृष्टिकोण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है। इस ग्रन्थ के 'अध्ययन' में सफलता की प्राप्ति कठिन है। प्रयत्न ही श्लाघ्य हो सकता है। दिशा-सूचन से सम्भवतः आगे प्रतिभा संपन्न विद्वान् इस ओर आकृष्ट हों।

भारतीय-विज्ञान (Indology) की इस अत्यन्त रोचक एवं विस्मयकारी शाखा (वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला) के अनुसन्धान, अध्ययन, गवेषण एवं विवेचन में इस

पद्धति के अवलम्बन से सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी स्वतः आ जाता है। संस्कृति एवं सभ्यता की ही कथा इन सभी कलाओं एवं विज्ञानों में भरी है। भारतीय वास्तु-कला सनातन से धर्माश्रया रही। अतः यहाँ की वास्तु-कला की यह धर्माश्रयता हिन्दू जीवन के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की परिचायिका है। आगे के अध्याय में इस विषय पर विशेष चर्चा होगी।

स. अध्ययन पद्धति—

समराङ्गण एक बृहद् ग्रन्थ है। ८३ अध्याय तथा लगभग दसहजार पंक्तियों में निबद्ध इस प्रौढ ग्रन्थ में, प्रधानतया निम्नलिखित पाँच प्रमुख विषयों पर विवेचन है :—

१. पुर-निवेश
२. भवन-निवेश
३. प्रासाद निवेश
४. प्रतिमा-निर्माण
५. यंत्र-घटना

अतएव इन पाँचों विषयों को लेकर आगे के पाँच पटल (भाग) अपने अध्यायों सहित इस ग्रन्थ का प्रधान कलेवर निर्माण करेंगे। परन्तु इन विषयों में स्थापत्य एवं स्थपति तथा अन्यान्य औपोद्घातिक विषयों का समावेश सम्भव न पाकर प्रथम पटल औपोद्घातिक है। इस प्रकार एक संख्या और बढ़ी। प्रतिमा निर्माण में चित्र-प्रतिमा—चित्रकला समराङ्गण की अपनी विशेष देन है अतः इस विषय को एक भिन्न पटल में विभाजित किया है। इस प्रकार एक संख्या और बढ़ी। समराङ्गण और समराङ्गण के इस अध्ययन को समन्वित करने के लिये एक परिशिष्ट की (लक्षण-ग्रन्थ के सन्दर्भ-अवतरण-तालिका) भी आवश्यकता है। इस प्रकार यह पञ्चमुद्री सप्तपर्णी में परिणत हो अष्टमंगला का आवाहन कर रही है।

अन्त में एक विशेष संकेत यह है कि डा० आचार्य महोदय ने समराङ्गण की विषयानुक्रमणिका (अध्याय योजना) की सुसंगति एवं तर्क-पूर्णता के साथ-साथ विषय संगठन के अभाव पर भी निर्देश किया है (देखिये हिन्दू आर्किटेक्चर इन्डिया एन्ड एब्राड पेज १७८—८१)। हो सकता है ग्रन्थकार राजा था, यह अध्याय संपादन किसी सहायक को सौंपा गया हो अथवा यह बाद के प्रतिलिपिकार की भूल हो। वास्तव में विषयों का सुसम्बद्ध क्रम (विशेषकर १—४८ अध्यायों में) नहीं पाया जाता है। अतः लेखक ने इस दोष का निराकरण कर नवीन योजना निर्दिष्ट की है जिसकी अनुक्रमणी निम्न रूप से द्रष्टव्य है:—

समराङ्गण-सूत्रधारस्य

सुसम्बद्धा-विषयानुक्रमणी

टिप्पणी १—समराङ्गणे त्र्यशीत्यध्याया परं सप्तपञ्चाशो मया अध्यायद्वये विभक्तः अत. चतुरशीत्यध्याया. ।

टिप्पणी २—समराङ्गण में वैसे तो ८३ अध्याय हैं परन्तु ५७वा अध्याय दो प्रासाद वर्गों का वर्णन करता है। अत उसको दो अध्यायों में विभक्त किया गया है। अत. ८४ अध्याय हुए।

२

भारतीय वास्तु-विद्या

अ. जन्म, विकास एवं विशेषता

भारतीय वास्तु-विद्या का जन्म - वेदाङ्ग-षट्क (विशेषतः ज्योतिष एवं कल्प) से हुआ। यतः भारतीय वास्तु-कला का आश्रय धर्म रहा है, अतः धार्मिक संस्कारों, यज्ञों एवं पूजाओं के सम्बन्ध में आवश्यक भूमिचयन, भू-संस्कार, भूमि के मान और उन्मान (नाप-जोख) एवं वेदि-रचना आदि-आदि आवश्यकीय अंगों के सम्बन्ध में जो निर्देश तथा विवरण इन सूत्र-ग्रंथों में मिलते हैं वे ही कालान्तर में वास्तु-विद्या के सूत्रपात करने में सहायक हुये।

हमारे देश की प्राचीन परम्परा में जिन-जिन विद्याओं का एक साथ उल्लेख हुआ है उनमें वास्तु-विद्या का समुल्लेख नहीं देख पड़ता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तु-विद्या विद्या-स्थान को ही नहीं प्राप्त थी। आवश्यकता आविष्कारों की जननी कही गई है। और भवन सम्बन्धी आवश्यकता (निवास) मानवता एवं मानव सभ्यता के साथ-साथ सनातन से सर्वत्र रही है। ऋग्वेद में ही वास्तु सम्बन्धी बहुल संकेत हैं जिनसे तत्कालीन वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला का सुदृढ़ अनुमान किया जा सकता है। यही नहीं सिन्धु नदी की सभ्यता में तो वास्तु-कला के विकास की सुन्दर उन्नति के सुदृढ़ निदर्शन प्राप्त हुये हैं। अतः वास्तु-विद्या का मानव-सभ्यता में एक अत्यन्त आवश्यक ज्ञान सनातन से सर्वत्र रहा है।

प्रत्येक काल की अपनी अपनी प्रमुख विशेषतायें होती है। वैदिक काल यज्ञोपासना का काल था। उस समय प्रतिमा-पूजा का प्रचार नहीं हो पाया था। अतः पूजा-वास्तु—वेदि-निर्माण तथा यज्ञ-शाला-रचना तक ही वास्तु-विद्या का विकास पनप सका। कालान्तर में न केवल वैदिक याग के प्रति ही आभ्यन्तारिक विद्रोह (आरण्यकों एवं उपनिषदों में जैसा प्रत्यक्ष है) उठ खड़ा हुआ, वरन् एक विपुल बाह्य विद्रोह, बौद्धों एवं जैनों के नवीन धर्म-संघ से वैदिक धर्म के प्रति भी प्रारम्भ हुआ और सारे देश में व्यापक हो गया। उस समय वैदिक ब्राह्मण-धर्म की कैसे रक्षा हो? नास्तिक बौद्धों के बृहद् धर्म-संघ में सम्मिलित इस देश की जनता को ब्राह्मण धर्म के प्रति कैसे पुनः आकर्षित किया जावे? धर्म के स्वरूप में एक नवीन सुधार की आवश्यकता का अनुभव हुआ। 'हिंसा-समन्वित' 'बहुद्रव्य-सापेक्ष' यज्ञ-कर्मकाण्ड के स्थान पर शिव-पूजा तथा विष्णु-पूजा, त्रिदेवोपासना (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) की एक उद्दाम गंगा का प्रवाह इस देश पर प्रवाहित हुआ। पुराणों की और आगमों की उपासना परम्परा पल्लवित हुई। शिवपूजा और विष्णुपूजा की प्रबल धारा हिमाद्रि उत्तर से दक्षिण सेतुबन्ध रामेश्वर तक बहने लगी। एक शब्द में शैव एवं वैष्णव

धर्म की इस उपासना-गंगा में भारतीय जनसमाज आबाल-वृद्ध-वनिता-अवगाहन कर मानों धर्म-वैमुख्य-जन्य पातक का प्रक्षालन कर पुनः वैदिक धर्म के परिष्कृत रूप में पल्लवित पौराणिक धर्म की पुण्य-भूमि पर विचरण करने लगी।

शिवभक्ति और विष्णुभक्ति, इन दो धार्मिक प्रगतियों के प्रसार से प्रतिमा-मापेक्ष इस नवीन पौराणिक धर्म के वृहद् विजृम्भण में देश के कोने-कोने में तीर्थ-स्थानों, शिव-मन्दिरों एवं विष्णु-मन्दिरों की स्थापना तथा उनका निर्माण प्रारम्भ हुआ। परिणामतः इस पौराणिक धर्म के प्रचार ने वास्तु-कला को चरम उन्नति पर पहुँचा दिया और इस देश के विशाल भू-भाग पर दक्षिणापथ तथा उत्तरापथ इन दोनों प्राचीन भू-खण्डों पर वास्तु-कला के चरमोत्कर्ष के अप्रतिम एवं प्रोज्वल निदर्शन देखने को मिलते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला का आश्रय धर्म रहा है यह तथ्य हृदयङ्गम हो सकता है।

भारतीय जीवन सनातन से अध्यात्म से प्रभावित रहा। धर्म एवं जीवन की पारस्परिक घनिष्ठता इस देश की सर्वप्रमुख विशेषता रही। भारतीय जीवन का कोई भी क्षेत्र धार्मिक प्रेरणा एवं चेतना से अछूता नहीं रहा। धारणा तो यह रही है कि बिना धार्मिक उपचेतना के वह जीवन क्षेत्र ही निष्प्राण है। सच भी है, भारतीय धर्म का कलेवर ही इतना विशाल रहा है कि मानव जीवन के सभी क्षेत्र भौतिक एवं पारमार्थिक उसके क्रोड में कवलित हो जाते हैं। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"—धर्म की इस परिभाषा में अभ्युदय अर्थात् ऐहिक उन्नति—सांसारिक ऐश्वर्य तथा निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष—पारमार्थिक चरम उन्नति—दोनों ही तो सम्मिलित हैं। अतः बिना धर्म से अनुप्राणित एवं प्रभावित कोई भी जीवन अंग यहाँ कैसे विकास को प्राप्त होता?

भारतीय जीवन की यह धर्मप्रियता भारतीय सभ्यता की उच्चता का प्रतीक है। रहन-सहन, खान-पान, भोजन-भजन, आचार-विचार, निवास एवं परिधान की कहानी ही तो सभ्यता की कहानी है। मानव जीवन की ये आवश्यकतायें जब नियंत्रित, सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित होकर एक अदृश्य अध्यात्म का सहारा ले लेती हैं, तभी मानव अपनी असभ्यता किंवा अर्ध-सभ्यता की कोटि से उठकर सभ्य मानव के रूप में पदार्पण करता है। और विकास के मार्ग में बढ़कर कालान्तर में इसी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होकर वही मानव, मानवता की कोटि से उठकर देवत्व की क्रोड में किलोलें करने लगता है।

भारतीय सभ्यता की प्राप्त सामग्री में भारतीय सभ्यता के शैशव-काल के दर्शन दुर्लभ हैं। क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या आचार, क्या विचार, और क्या निवास, क्या परिधान आदि के बहुल संकेत जो पुरातन भारतीय साहित्य एवं पुरातन संभारों में प्राप्त होते हैं, उनसे सभ्यता के शैशव का केवल अनुमान हो सकता है—दर्शन नहीं। ऋग्वेद न केवल भारत का ही प्राचीनतम साहित्यिक स्मारक है, वरन् विद्वानों के मत में संसार के प्राप्त साहित्य स्मारकों में वह प्राचीनतम है। ऋग्वेद में वास्तुकला सम्बन्धी जो संकेत हैं उनमें इस कला के शैशव का केवल अनुमान लगाया जा सकता है। ऋग्वेद की वास्तु-कला एक उन्नत अवस्था में पायी जाती है। ऋग्वेद में वशिष्ट जी—"त्रिधातुशरणम्"—त्रिभूमिक-प्रासाद—की इच्छा करते हैं। इसी प्रकार एक राजा के विषय में उल्लेख है जो "सहस्रस्तम्भ" एवं "सहस्रद्वार" वाले विशाल हाल में बैठता है,

इसी प्रकार मित्र तथा वरुण—इन दो वैदिक देवों के विषय में उल्लेख है कि उनके आवास सहस्रस्तम्भ एवं सहस्रद्वार हैं—[विशेष विवरण तारापद जी की पुस्तक में देखिये] इसी प्रकार 'पुर' एवं 'भवन', 'प्रासाद' तथा 'आवास'—विषयक शतश. वास्तु संकेत ऋग्वेद में भरे हैं। भले ही ये संकेत क्रान्तदर्शी मनीषी कवियों की कल्पना के कोरे निदर्शन हों—परन्तु कवि कल्पना का कोई आधार तो होना ही चाहिये। कवि अपनी प्रतिभा से साधारण से साधारण 'भावपट्टों' पर असाधारण रागरंजन करता है, परन्तु आधार चाहिये ही। अतः इन प्राचीन वास्तु संकेतों के अन्तरतम में प्राचीन भारतीय वास्तुकला के विकास के बीज स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

वैसे तो वास्तु-विद्या और वास्तु-कला दोनों का प्रवाह एक ही स्रोत से निःसृत हुआ है, दोनों ही का सनातन से इस देश में समन्वय रहा है। परन्तु प्रकृत में हम वास्तु-विद्या पर ही विचार करेंगे। भारतीय वास्तु-कला की विशेषता पर केवल थोड़ा सा सूचित करना अप्रासंगिक न होगा।

वास्तु-कला के मर्मज्ञ विद्वान डा० कुमार स्वामी के शब्दों में "भारत की सभी देनें उसके दर्शन से अनुप्राणित हैं। जहाँ तक भारतीय कला की उद्भावना का सम्बन्ध है, उसमें कलाकार के मानसिक योग एवं प्रारम्भिक धार्मिक संस्कारों का होना अनिवार्य है।"

इस कथन से हमारे कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध है कि भारतीय धर्म के कलेवर में भारतीय दर्शन की आत्मा का निवास है। बिना आत्मा के शरीर निष्प्राण। बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व केवल अनुमेय है प्रत्यक्ष नहीं। अत. धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यही कारण है कि भारतीय विचारकों ने जहाँ शब्द-ब्रह्मवाद अथवा रस-ब्रह्मवाद एवं नाद-ब्रह्मवाद की कल्पना की है, वहाँ उन लोगों ने वास्तु में भी वास्तु-ब्रह्मवाद की कल्पना करके भारतीय वास्तु-कला में जीवन संचार किया है। जड़ में चैतन्य की कल्पना ही तो दर्शन का मर्म है। भारतीय वास्तु-कला की इस मौलिक-विशेषता को प्रायः सभी उद्भट वास्तु-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। भोजदेव ने भी अपने समराङ्गण-सूत्रधार के प्रथम ही पद्य में वास्तु-ब्रह्म को लोकत्रय शिल्पी के रूप में उद्भावना करके इस कथन की पुष्टि की है :—

देव. स पातु भुवनत्रयसूत्रधार -
सर्वां बालचन्द्रकलिकाङ्कितजूटकोटि. ।
एतत् समग्रमपि कारणमन्तरेण
कात्स्न्यादसूत्रितमसूत्र्यत येन विश्वम् ॥

'भुवनत्रय-सूत्रधारः लोकत्रय-शिल्पी । शिल्पवैचित्र्यमुत्रगर्भं प्रतिपाद्यते। समग्रं कारणमन्तरेणापि समवाय्यसमवायिनिमित्तात्मना त्रिप्रकारमन्योन्यविलक्षणस्वरूपं लोकप्रतीतं कारणकलापं कार्यमात्रसाधारणं विनापीत्यर्थ., जगद्रूपस्य कार्यस्यैक एवेश्वर—उपादानं च निमित्तं चाम्नात इति। असूत्र्यत आकारोल्लेखपूर्वमसृज्यत,।'

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि ग्रंथकार ने मंगलाचरण के व्याज से लोकत्रय-शिल्पी भगवान् भूतभावन चन्द्रशेखर शिव में उस आदि सूत्रधार का आरोपण किया है जिन्होंने सम्पूर्ण कारणों के बिना भी इस सम्पूर्ण विश्व की रचना की है।

वैसे तो मानव संस्कृति अविच्छिन्न है। वह सार्वभौमिक है सार्वकालिक भी। परन्तु

स्थान, काल एवं जाति विशेष के संसर्ग मे उसमे अपनी विशिष्टता की छापें अवश्य प्रस्फुटित हो जाती हैं। वास्तु-कला का मानव सभ्यता की कहानी मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्राय. सभी देशो मे यह कला पनपी। अपने-अपने देशो मे उन देशो के देशवासियो ने जैसा इस कला की साधना मे, विकास एवं अभ्युदय में योगदान दिया वैसा ही स्थान, काल एवं जाति विशेष की विशेषताओं से उसमें अवश्य वैशिष्ट्य उत्पन्न हो गया है। पर्सी ब्राउन के शब्दो में—इंडियन आर्कीटेक्चर प० १—"यूनानियों की वास्तु-कला की विशेषता उनकी प्रोजवल-पूर्णता थी। रोमन भवन (निर्माण) अपनी वैज्ञानिक-रचना के लिये प्रसिद्ध हैं। फ्रेंच-गोथिक कला मे हमे एक भावुक बुद्धि एवं उद्भावना के दर्शन होते हैं। इटली की सर्वतोन्मुखी उन्नति (वास्तु-कला जिसमें एक थी) मे तत्कालीन वैदुष्य की छाप प्रकट रूप मे प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार भारतीय वास्तु-कला की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी अध्यात्म-निष्ठा है। यह प्रकट है कि भारतीय भवन-निर्माण कला का आधारभूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जनसमाज की धार्मिक चेतना एवं विश्वास को मूर्त स्वरूप प्रदान कर उनके प्रतीकत्व का कल्पन है। प्रस्तर, पाषाण एवं इष्टका मे भारतीय आत्मा का साक्षात्कार करना ही भारतीय वास्तु-कला की सर्वप्रमुख विशेषता कही गयी है।"

यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि भारतीय वास्तु-कला पर जो अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक ग्रंथ पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानों ने लिखे हैं, उनमे भारतीय वास्तु-कला का प्रारम्भिक विकास मौर्यकाल से मानते हैं तथा महाराज अशोक के ही राज्यकाल से वास्तु-कला एवं प्रस्तर-कला का विकास बताते हैं। इस सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है कि महाराज अशोक ने जिन विभिन्न लाटें, स्तूप, चैत्य तथा शिला लेख इत्यादि का निर्माण कराया, उनका एकमात्र उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार एवं संरक्षण था। अतः अशोक-कालीन भारतीय वास्तु-कला एवं प्रस्तर-कला के विकास मे धर्माश्रय ही प्रत्यक्ष था। दूसरा प्रश्न यह है, जो उपर्युक्त कथन मे काल भेद का वैषम्य उपस्थित करता है वह यह कि पुराणों की रचना अथवा सम्पादन तो आधुनिक विद्वान गुप्तकालीन मानते हैं, अतः पुराणों अथवा आगमों की भक्ति परम्परा से ही यदि भारतीय वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला का विकास मानें तो फिर बौद्ध-कला के प्रारम्भ मे यह कैसे संगत हो सकती है? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि बहुत से पुराण ईसवीय पूर्व कृतियाँ हैं। गुप्तकाल मे उनका सम्पादन हुआ होगा, यही मानना विशेष संगत है। रामायण तथा महाभारत की रचना ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे मानी गयी है। पुराण, वैदिक एवं लौकिक साहित्य के बीच की कृतियाँ मानी जानी चाहिये। रामायण और महाभारत तो लौकिक साहित्य के रूप मे ही सनातन मे परिगणित होते आये हैं। अतः भले ही पुराणों की रचना गुप्तकाल के बहुत पूर्व न हुई हो और आगमों की रचना और भी आगे हुई हो, परन्तु इस देश मे वैदिक धर्म की परम्परा के उपरान्त पौराणिक धर्म की परम्परा पल्लवित हो गयी थी—भले ही उस परम्परा का सुसंस्कृत एवं लेखबद्ध अथवा साहित्यिक स्वरूप बहुत काल के बाद हुआ हो। किसी भी परम्परा के पूर्ण विकास मे एक महान इतिहास छिपा होता है। परम्पराओं का जन्म जब होता है तो उनके विकास और उन्नति तथा सिद्धान्तरूप मे दृढ़ीकरण में प्रचुर समय की आवश्यकता होती है। महाराज अशोक के पूर्व भी इस देश मे शिव पूजा (देखिये सिन्धु की घाटी की सभ्यता) का पूर्ण प्रचार

हो चुका था तथा उस पूजापद्धति की धार्मिक पुस्तकों में आगमों की परम्परा भी अवश्य पल्लवित हो चुकी होगी, तभी तो आगमों में प्रतिपादित शक्ति-पूजा एवं शिव-पूजा के प्रतीक मन्दिर-निर्माण-व्यवस्था और उसमें लिङ्ग-स्थापन तथा पार्वती के वाहन सिंह आदि पशुओं की प्रतिमा-संविधान पर जो संकेत हैं उनका ही प्रभाव अशोककालीन वास्तु-कला तथा प्रस्तर-कला पर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अशोक के स्तम्भों पर जिन चार पशुओं—सिंह, गज, वृषभ तथा अश्व की मूर्तियाँ बनी हैं, उनमें तीन पशुओं का सामान्य सम्बन्ध शिव-प्रतिमा तथा शक्ति-प्रतिमा के संविधान में आवश्यक वाहन-रूप में प्रचलित थे। अतः आगमों की वास्तु-परम्परा बहुत प्राचीन है। उसको मध्यकालीन मानना भले ही साहित्यिक रूप से सुसगत हो परन्तु उनकी परम्परा अति प्राचीन है—ऐसा कहना असंगत न होगा।

इसी दृष्टिकोण से भारतीय वास्तुकला के विद्वानों ने जो दो रूप 'नागर शैली' उत्तरी तथा 'द्राविड़ शैली' दक्षिणी स्थिर किये हैं वे संगत होते हैं और इसीलिये वास्तु-विद्या का जन्म जहां वेदाङ्गपट्क के ज्योतिष एवं कल्प से हुआ वहाँ आगमों एवं पुराणों की इन दो परम्पराओं से देश एवं स्थान भेद से उसके दो रूप देखने को मिलते हैं।

सारांशतः वास्तु-विद्या का जन्म तो जैसा पूर्व ही संकेत किया जा चुका है वैदिककाल के ही समकालीन था परन्तु उसका स्थिर रूप वेदांगों के समय में सम्पन्न हुआ तथा पुराणों और आगमों में उसका विकास प्रारम्भ हुआ और आगे चलकर वास्तु-विद्या के आचार्यों ने उसको एक स्वाधीन शास्त्र के रूप में खड़ा किया और यह वास्तु-शास्त्र शुक्राचार्य के अनुसार 'विद्या-स्थान' को भी प्राप्त हो गया।

ब. परम्परायें एवं प्रवर्तक

समराङ्गण-सूत्रधार मध्यकालीन कृति है। इस ग्रंथ में जिस वास्तुविद्या के दर्शन होते हैं वह अत्यन्त प्रौढ़ एवं समुन्नत है। भारतीय वास्तु-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथों का निर्माण भी इस काल के पूर्व हो चुका था। इन विभिन्न ग्रंथों के अवलोकन से वास्तु-विद्या की जो परम्परायें पनपीं, उनपर और उनके प्रवर्तक आचार्यों एवं उनकी कृतियों पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि जिन विभिन्न वास्तु-शास्त्र प्रतिपादक ग्रंथों का आगे हम वर्णन करेंगे, उनमें सभी के काल निर्णय अभी नहीं हो पाये हैं। तिथिक्रम भारतीय विज्ञान (इन्डोलाजी) की एक कठिन समस्या है। अतः इस अध्याय के शीर्षक के अनुरूप प्रायः सभी प्राप्त मुख्य ग्रंथों का (समराङ्गण से प्राचीन एवं अर्वाचीन—दोनों ही कोटि के ग्रंथों का) हम वर्णन करेंगे।

वास्तु-विद्या के जन्म एवं विकास का इतिहास लिखने में श्रीयुत् तारापद भट्टाचार्य (देखिये ए स्टडी आन वास्तु-विद्या ऑर कैनन्स आफ इण्डियन आर्कीटेक्चर) ने एक सराहनीय प्रयत्न किया है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जिन निष्कर्षों पर भट्टाचार्य जी पहुँचे हैं, वे सिद्धान्त रूप में मान्य हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय वास्तु विद्या का व्यापक क्षेत्र अब भी अनुसन्धान के लिये काफी सामग्री प्रदान कर सकता है।

✓ वैदिक वाङ्मय, पुराण, एवं महाकाव्य तथा बृहत्संहिता (ज्योतिष) एवं मानसार आदि शिल्पशास्त्रों तथा अन्य विभिन्न प्राचीन ग्रंथो के परिशीलन से वास्तु-विद्या के अनेक आचार्यों के नामोल्लेख एवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। अतः यह निर्विवाद है कि इस विद्या के मूल प्रवर्तकों का जन्म इस देश मे अत्यन्त प्राचीनकाल मे हुआ था। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक विद्या का अपना-अपना अलग जन्मदाता है। विभिन्न दर्शनों के संस्थापक एवं प्रवर्तक हम जानते हैं। विभिन्न धार्मिक, नीति-सम्बद्ध एवं आर्थिक तथा राजनैतिक परम्पराओं के प्रवर्तक भी हम जानते हैं। अतः वास्तुविद्या के मूल प्रवर्तकों मे हमे दो नाम विशेष उल्लेखनीय मिलते हैं। वे हैं विश्वकर्मा तथा मय। विश्वकर्मा की कल्पना देवताओं के स्थपति के रूप मे सनातन से इस देश मे चली आई है। अतः देवभूमि इस भारत के उत्तरापथ भूभाग पर विश्वकर्मा का अवतार हुआ—ऐसे बहुत संकेत प्राचीन ग्रंथो मे मिलते हैं। अतः इस भूभाग से सम्बन्ध रखनेवाली वास्तु-कला तथा उस कला की विद्या के विभिन्न शास्त्र ग्रंथों में विश्वकर्मा को वास्तुविद्या का प्रथम प्रवर्तक एव आचार्य माना गया है। श्रीयुत् तारापद भट्टाचार्य ने यह भी प्रतिपादित किया है कि जहा विश्वकर्मा एक देवताओं का स्थपति था और उसको वसुओं (देव विशेषों में) परिगणित किया गया है, वहाँ विश्वकर्मा नामक एक मनुष्य भी था जो वास्तु-विद्या का प्रवर्तक हुआ और कालान्तर में स्थापत्य-शास्त्र एवं कला में विश्वकर्मा-स्कूल (परम्परा) का जन्म तथा विकास हुआ (इस सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य के लिये श्री तारापद की पुस्तक देखिये)।

दैवी संस्कृति के साथ-साथ सनातन से इस देश मे आसुरी संस्कृति का समानान्तर रूप में निर्देश किया गया है। यही नहीं संस्कृति के भौतिक रूप मे असुरों ने देवों की अपेक्षा विशेष उन्नति की थी—यह हमारे पुरातन ग्रंथों से स्पष्ट है। ये असुर कौन थे? विद्वानों ने एतद्देशीय अनार्य जाति के प्रति ब्राह्मण आदि ग्रंथों में जो असुर आदि शब्दों का प्रयोग पाया है उनसे इस देश के आर्येतर निवासियों का बोध माना है। वास्तव मे जिसको हम आसुरी सभ्यता कहते हैं वह भी इसी देश के मूल निवासियों की सभ्यता है। इस सभ्यता की वास्तु-कला मे अत्यन्त प्राचीन नाम जो आर्य ग्रन्थों मे मिलता है वह है मय। मय असुर था। अतः आसुरी वास्तु-विद्या के मूल प्रवर्तक के रूप मे इसे माना गया है और इस प्रकार भारतीय वास्तु-विद्या की यह दूसरी परम्परा मय-स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि जिस प्रकार भारतीय आर्य सभ्यता मे आर्येतर एतद्देशीय तथा विदेशीय बहुसंख्यक घटक पद-पद पर प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों मे भी कालान्तर पाकर पारस्परिक सम्मिश्रण हुआ। एक परम्परा की विद्या मे दूसरी परम्परा के आचार्यों के मतों का सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ और पुन इस महादेश के एक कोने से दूसरे कोने तक स्थापत्य-कौशल का जो प्रोज्ज्वल रूप देखने को मिलता है उसमे देश भेद होते हुए भी सम्मिश्रण की इस आधार-भूत रेखा के सर्वत्र समान रूप से दर्शन होते हैं। दक्षिण की द्राविड़-शैली और उत्तर की नागर-शैली दोनों शैलियों के अपने-अपने सुन्दर निदर्शन होते हुए भी एक दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव भी कम प्रत्यक्ष नहीं है।

अस्तु, वास्तु-परम्पराओं और प्रवर्तकों पर इस किंचित्कर उपोद्घात के अनन्तर एक तथ्य की ओर और भी ध्यान यह देना है कि यद्यपि यहां पर दो ही परम्पराओं

(दक्षिणी तथा उत्तरी) का संकेत किया गया, फिर भी इस विशाल देश में कालान्तर मे विभिन्न महाजनपदों में अपने-अपने क्षेत्रों की विशेषताओं को लेकर और भी बहुत सी परम्परायें पल्लवित हुई, जिनको शैलियों के नाम से पुकारा जाता है। नागर (उत्तरी) द्राविड़ (दक्षिणी) शैली का संकेत हो ही चुका है। इन दो शैलियों के अतिरिक्त तीसरी शैली वेसर के नाम से प्रसिद्ध है। 'समराङ्गण' में तो नागर, द्राविड़, वेसर की त्रयी के स्थान पर नागर, द्राविड, वावाट, भूमिज, लाट (लतिन) आदि बहुसख्यक वास्तु-शैलियों का विवेचन है। इन शैलियों के सम्बन्ध में हम आगे प्रासाद-वास्तु की समीक्षा में विचार करेंगे। इतना तो निर्विवाद है कि शैलियाँ कितनी ही क्यों न हो प्रधान रूप से भारतीय वास्तु-विद्या की दो ही परम्परायें हैं जो ऊपर उत्तरी तथा दक्षिणी परम्परा के नाम से पुकारी गयी हैं।

दक्षिणी परम्परा—

इस परम्परा के प्रवर्तक आचार्यों मे निम्नलिखित नाम विशेप उल्लेखनीय है :—

१	ब्रह्मा	६	काश्यप	११	नारद
२	त्वष्टा	७	अगस्त्य	१२	प्रह्लाद
३	मय	८	शुक्र	१३	शक्र
४	मातङ्ग	९	पराशर	१४	बृहस्पति तथा
५	भृगु	१०	नग्नजित्	१५	मानसार

इन नामों का निर्देश मात्र यहाँ अभिलषित है। विशेप छानबीन (इन आचार्यों के संकेत आदि एवं सिद्धात आदि) तारापद ने अपने ग्रंथ में की है। अत. विस्तारभय से उसकी अवतारणा यहाँ समीचीन नहीं। मत्स्य-पुराण एवं बृहत्संहिता मे जिन २५ आचार्यों का निर्देश मिलता है उनमे से बहुसंख्यक आचार्य द्राविड-परम्परा के प्रवर्तक माने जाते हैं, और शेप नागर-परम्परा के।

टिप्पणी—मत्स्य पुराण की निम्न नामतालिका निभालनीय है:—

१	भृगु	७	नग्नजित्	१३	शौनक	१९	मनु
२	अत्रि	८	विशालाक्ष	१४	गर्ग	२०	पराशर
३	वसिष्ठ	९	पुरन्दर या शक्र	१५	वासुदेव	२१	काश्यप
४	विश्वकर्मा	१०	ब्रह्मा	१६	अनुरुद्ध	२२	भरद्वाज
५	मय	११	कुमार	१७	शुक्र	२३	प्रह्लाद
६	नारद	१२	नंदीश (शम्भु)	१८	बृहस्पति	२४	अगस्त्य
						२५	मार्कण्डेय

प्रथम १९ नाम मत्स्यपुराण मे तथा बाद के ३ नाम (२०, २१, २२) बृहत्संहिता में तथा अंतिम तीन अन्य साहित्य सन्दर्भों में उल्लिखित पाये जाते हैं। इनमे बहुतों के ग्रंथ भी पाये जाते हैं जिनका हम 'वास्तु वाङ्मय' के आगे के स्तम्भ मे उल्लेख करेंगे।

उत्तरी परम्परा—

आर्य वास्तु-परम्परा के प्रथम आचार्य विश्वकर्मा ने यह विद्या स्वयं पितामह ब्रह्मा से प्राप्त की (देखिये आगे का अध्याय 'समराङ्गण का स्थान') विश्वकर्मा देवों का

स्थपति था। उसकी गणना वसुओं में थी। परन्तु कालान्तर मे देश के विभिन्न कुशल एवं प्रसिद्ध स्थपतियों ने अपने नाम विश्वकर्मा के नाम से प्रचलित किये। अतएव जहाँ देवों का विश्वकर्मा वास्तु-विद्या का प्रथम प्रतिष्ठापक है, वहाँ कालान्तर में इस देश में अन्य कई विश्वकर्मा हुये जिन्होंने स्थापत्य-कौशल की परम्परा में योग दिया तथा स्थापत्य-शास्त्र पर ग्रंथ निर्मित किये।

प्राप्त विश्वकर्म-प्रकाश मे विश्वकर्मा उत्तरापथ की वास्तु-परम्परा का प्रथम आचार्य न माना जाकर चौथा या पाचवाँ या इससे भी अर्वाचीन माना गया है—शम्भु का शिष्य गर्ग, गर्ग का शिष्य पराशर, पराशर का शिष्य बृहद्रथ तथा बृहद्रथ का शिष्य विश्व-कर्मा और विश्वकर्मा के शिष्य वासुदेव ने यह ग्रंथ संकलित किया—ऐसा इसमें निर्दिष्ट है। अतः देव-स्थपति विश्वकर्मा के अतिरिक्त कम से कम दो विश्वकर्मा और हुये जो वास्तु-विद्या के आचार्य के रूप में प्रख्यात हुए तथा ग्रंथ लिखे। उनमें एक है उत्तरापथ का और दूसरा है दक्षिणापथ का। विश्वकर्म-प्रकाश उत्तरापथ की वास्तु-विद्या का वर्णन करता है तथा विश्वकर्मीय-शिल्प दक्षिणापथ की वास्तुविद्या का वर्णन करता है। अस्तु, उत्तरी परम्परा (नागर शैली) के प्रवर्तक आचार्यों मे निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

१ शम्भु	३. अत्रि	५. पराशर	७ विश्वकर्मा तथा
२. गर्ग	४. वसिष्ठ	६ बृहद्रथ	८ वासुदेव

टिप्पणी—इन नामों की सूचक सामग्री का यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया, क्योंकि यह इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। स्वल्प में निर्देशमात्र ही यहाँ पर संगत है।

स. वास्तु-वाङ्मय

दोनों परम्पराओं के प्रवर्तक आचार्यों के ग्रंथों एवं सिद्धान्तों के उल्लेख के प्रथम एक ज्ञातव्य तथ्य यह है कि वास्तु शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला भारतीय साहित्य मुख्यतया दो प्रकार का है। डा० आचार्य के शब्दों मे आर्कीटेक्चरल वर्क्स अर्थात् वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थ तथा नान-आर्कीटेक्चरल वर्क्स अर्थात् अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ। पहिली कोटि में उन ग्रंथों का समावेश होता है जिनमें अविकल रूप से वास्तु-शास्त्र पर विवेचन किया गया है और दूसरी कोटि के वे ग्रंथ हैं जो मुख्यतया या तो धार्मिक ग्रंथ हैं जैसे वेद, वेदाङ्ग (कल्प तथा ज्योतिष) पुराण, आगम तथा धार्मिक-संस्कार-पद्धतियां पूजा-पद्धतियां, प्रतिष्ठा-पद्धतियों के ग्रंथ या कुछ नीति-विषयक ग्रंथ जैसे शुक्र-नीति और कौटलीय अर्थशास्त्र आदि। अतः परम्परानुरूप इन दोनों प्रकार के वास्तु ग्रंथों का संक्षेप में समुल्लेख किया जाता है।

दक्षिणी परम्परा के वास्तु-ग्रन्थ

अ. अवास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ

१ शैवागम	५ तंत्र ग्रन्थ (दीप्त-तन्त्र आदि)
२ वैष्णव पञ्चरात्र	६. तंत्रसमुच्चय
३. अग्नि-संहिता	७. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति
४. वैखानसागम	

टि०—इनमें आगम-साहित्य अति विशाल है। इसमें वास्तु-विद्या का विवेचन बड़ा ही उत्कृष्ट है। दक्षिणापथ के ये "पुराण" पुराणों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एव पृथुल हैं। आगमों की संख्या भी पुराणों की संख्या से डेढ़ गुनी है। पुराण १८ हैं आगम २८। आगमों में कामिकागम, सुप्रभेदागम, कर्णागम, वैखानसागम आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। डा० आचार्य के मत में (हि० आ० इ० ए०) कुछ आगमों का वास्तु-विद्या-प्रवचन बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक है, जैसा पुराणों में नहीं मिलता। किन्हीं-किन्हीं आगमो मे वास्तु-विद्या का विवेचन इतना विशाल है कि उनको वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथ कहें तो अत्युक्ति न होगी। कामिकागम के ७५ पटलो में से ६० पटलों में वास्तु-विद्या का वर्णन है। अथच इसका विवेचन भी अत्यन्त प्रौढ़ है।

ब—वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ

१. विश्वकर्मीयशिल्प	४. काश्यप-शिल्प (अंशुमद्भेद)	७. शिल्प-संग्रह
२. मयमत	५. अगस्त्यसकलाधिकार	८. शिल्प-रत्न तथा
३. मानसार	६. सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र	६. चित्रलक्षण

इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में 'मानसार' का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ को दक्षिणी परम्परा का अधिकृत ग्रंथ कहा जा सकता है।

डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने 'मानसार' पर अति विशाल एवं अग्रगामी अनुसन्धान किया है। आचार्य महोदय को वास्तव में आधुनिक वास्तु-विद्या के अनुसन्धान एवं गवेषण करने वालों में प्रथम अक्षय कीर्ति प्राप्त है। यद्यपि इस दिशा में रामराज़ (देखिये "एसे ऑन हिन्दू आर्कीटेक्चर") ने सर्वप्रथम कदम उठाया था।

मानसार में ७० अध्याय हैं, जिनमे 'गृह-निर्माण,' 'पुरनिवेश,' 'राजप्रासाद' तथा 'मन्दिर-निर्माण' आदि वास्तु-कला के विभिन्न सिद्धान्तो (कैनन्स) के अतिरिक्त मूर्ति-निर्माण-कला तथा 'भूषण-विधान' पर भी विवेचन किया गया है। मानसार की वास्तु-विद्या पर स्वल्प में आगे के स्तम्भ (वास्तु-सिद्धान्त) में प्रकाश डाला जायगा।

उत्तरी परम्परा के वास्तु-ग्रन्थ—

अ. अ-वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ

१. पुराण (मत्स्य, अग्नि, भविष्य आदि)
२ बृहत्संहिता (ज्योतिष ग्रन्थ, परन्तु वास्तु-सिद्धान्तों का बड़ा मार्मिक विवेचन करती है)
३. तन्त्र (किरणतन्त्र आदि)
४. हयशीर्ष-पंचरात्र
५. विष्णुधर्मोत्तर (चित्रकला का अधिकृत ग्रन्थ)
६. प्रतिष्ठा-ग्रन्थ (हेमाद्रि तथा रघुनन्दन आदि के ग्रन्थ)
७. हरिभक्तिविलास

ब. वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ

१. विश्वकर्मप्रकाश	२. समरांगण सूत्रधार	३ सूत्रधार मण्डन
४. वास्तु-रत्नावली	५. वास्तु-प्रदीप आदि	

टि० नं० १ पुराण—पुराणों की वास्तु-विद्या आगमों की वास्तु-विद्या के समान ही महत्त्व

पूर्ण है। पुराणों में मत्स्य और अग्नि में वास्तु-विद्या का विशेष वर्णन मिलता है। गरुड़, नारद, ब्रह्माण्ड, भविष्य, लिंग, वायु तथा स्कन्द पुराणों में भी वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है।

टि० २ तन्त्र—तान्त्रिक परम्परा भी पुराणों एवं आगमों की परम्पराओं के समान ही अति परम्परा है। हयशीर्ष-पंचरात्र में वास्तु-विद्या का प्रौढ़ विवेचन मिलता है। अग्निपुराण पुरातन में प्रतिपादित वास्तु-विद्या का प्रवचन हयग्रीव के मुख से किया गया है। अग्निपुराण एवं हयशीर्ष-पंचरात्र की वास्तु-विद्या की समानता को देखकर श्रीयुत् तारापद भट्टाचार्य ने (पृ. १३८-६) यह निष्कर्ष निकाला है कि अग्निपुराण तथा इस पंचरात्र का एक ही स्रोत है, जहाँ से वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों को लेकर इन दोनों में उनका संकलन किया गया है। अग्निपुराण में तान्त्रिक वास्तु-परम्परा के निर्देश में (देखिये अग्नि ३९वा अ०) पंचरात्र या सप्तरात्र के जिन पंचविंशति ग्रन्थों का उल्लेख है वे निम्न प्रकार से द्रष्टव्य हैं:—

१—हयशीर्ष	तन्त्र	१०—शाण्डिल्य	तन्त्र	१८—तार्क्ष्य	तन्त्र
२—त्रैलोक्य मोहन	,,	११—वैश्वक	,,	१९—नारायणिक	,,
३—वैभव	,,	१२—सात्य	,,	२०—आत्रेय	,,
४—पौष्कर	,,	१३—सौनक	,,	२१—नारसिंह	,,
५—प्राहलाद	,,	१४—वासिष्ठ	,,	२२—आनन्द	,,
६—गार्ग्य	,,	१५—ज्ञानसागर	,,	२३—आरुण	,,
७—गालव	,,	१६—स्वायम्भुव	,,	२४—बौद्धायन	,,
८—नारदीय	,,	१७—कापिल	,,	२५—आर्ष	,,
९—संप्रश्न	,,				

टि०—इस नामतालिका के परिशीलन से वास्तु-विद्या के विचारक विद्वानों को यह समझने में देर न लगेगी कि इनमें से बहुत सी तन्त्र-ग्रन्थ-संज्ञाओं में वास्तु-विद्या के प्राचीन आचार्यों की नामावली का निर्देश है जैसे हयशीर्ष, प्रह्लाद, गर्ग, नारद, विश्वक (मानसार एवं शिल्प रत्न के विश्वसार, विश्वबोध, विश्वकाश्यप) सौनक, वशिष्ठ, कपिल तथा अत्रि।

इनमें हयशीर्ष तथा गर्ग उत्तरी परम्परा अर्थात् नागर-स्कूल के आचार्य हैं और शेष द्राविड़ परम्परा के। इसमें यह तथ्य निकलता है कि वास्तु-विद्या की तान्त्रिक परम्परा द्राविड़ शैली तथा नागर शैली इन दोनों का संमिश्रण है।

य. वास्तु-सिद्धान्त

वास्तु-परम्पराओं एवं उनके प्रवर्तकों के साथ-साथ वास्तु-वाङ्मय के प्रधान ग्रन्थों के निर्देश के उपरान्त यह अध्याय अधूरा ही रह जाता है, यदि हम इन ग्रन्थों में प्रतिपादित प्रमुख विषयों का स्वल्प में वर्णन न करें। परन्तु वास्तु-विद्या और वास्तु-कला भारतीय विज्ञान (इन्डोलॉजी) का एक अत्यन्त पारिभाषिक (टेकनिकल) विज्ञान है। अतः यहाँ पर उन सिद्धान्तों की न तो व्याख्या करने का अवसर है और न स्थान। आगे के पटलों में समराङ्गण की वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों के समुद्घाटन के अवसर पर इस दिशा में अवश्य प्रयत्न होगा। अथच वास्तु-विद्या के इन विभिन्न कोटिक ग्रंथों में प्रायः सर्वत्र बड़े ही

विस्तार से वास्तु-विवरण पाये जाते हैं , अतः सौविध्य एवं स्थानाभाव की दृष्टि से इन विभिन्न परम्पराओं [पुराण, आगम, तन्त्र, शिल्पशास्त्र तथा अन्यान्य ग्रन्थ जैसे वेद, ब्राह्मण, वेदाङ्ग—ज्योतिष तथा कल्प, रामायण, महाभारत, पालि-ग्रन्थ एवं जातक, कौटलीय अर्थ-शास्त्र, शुक्र का नीतिसार तथा अन्य विभिन्न धार्मिक ग्रन्थ जैसे पूजा-पद्धतियाँ एवं प्रतिष्ठा-ग्रंथ आदि आदि] के प्रतिनिधि ग्रन्थों मे प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्तो का एकमात्र संकेत ही सम्भव है।

वैदिक वास्तु-विद्या

सर्वप्रथम वैदिक-कालीन वास्तु-विद्या के दर्शन करना चाहिए। ऋग्वेद-कालीन वास्तु-कला का कुछ आभास पूर्व ही दिया जा चुका है। उस समय वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का भी प्रचार था जो प्रायः लोग नहीं मानते हैं। ऋग्वेद के काल मे गृह-निर्माण के अवसर पर जो प्रतिष्ठा-संस्कार या समारोह किया जाता था, जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था वे सब आज भी होते हैं अत. आगे के प्रत्येक वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों मे जिस वास्तु-पूजा को वास्तु-निर्माण का आवश्यक अंग माना गया है वह ऋग्वेद-काल मे था ऐसा ऋग्वेद के मन्त्रो को देखने मे पता लगता है। ऋग्वेद मे असुर सम्बन्धित सामग्री के परिशीलन से नग्नजित् तथा त्वष्टा (जो आगे चलकर द्राविड वास्तु-विद्या के आचार्य माने गये हैं) आदि आचार्यों के संकेत भी मिलते हैं। संक्षेप में वास्तु-पूजा, वास्तु-भूमिचयन स्तम्भपूजा, द्वार-पूजा आदि वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक सिद्धान्त ऋग्वेद-काल मे प्रचलित थे, जिससे तत्कालीन वास्तु-विद्या सिद्ध है।

अथर्ववेद में तो वास्तु-विद्या एवं कला का और अधिक विकास पाया जाता है। गृह-निर्माण के सम्बन्ध में विशेष सामग्री द्रष्टव्य है। अथर्ववेद के शाला-सूक्त में 'द्विपक्षा', 'चतुष्पक्षा', 'षट्पक्षा', 'अष्टपक्षा' तथा 'दशपक्षा' शालाओं का वर्णन है (६, ३, २१,) और ये कक्षा-भवन आगे के शाल-भवन के ही सदृश हैं। इसके अतिरिक्त और बहुत से वास्तु-विवरण (स्तम्भ आदि पर) इस वेद में मिलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की वास्तु-विद्या

ब्राह्मणों मे वास्तु-विद्या के बहुल संकेत मिलते हैं। 'शिल्प' शब्द की प्राप्ति एव उसका प्रयोग प्रस्तर-कला (मूर्तिकला) तथा संगीत-कला मे किया गया है। ऋग्वेद-कालीन द्राविड वास्तु-विद्या के अचार्य नग्नजित् का उल्लेख ऊपर किया गया है और वह शतपथ ब्राह्मण (८. १. ४. १०) मे पुष्ट होता है जहाँ पर राजन्य नग्नजित् के वास्तु-सिद्धान्तो का खण्डन मिलता है। साथ ही साथ उसे नारद का शिष्य बताया गया है। यह नारद आगे द्राविड वास्तु-विद्या का आचार्य माना गया है। श० ब्रा० मे एक और महत्वपूर्ण उल्लेख है जिससे श्मशान विरचन सम्बन्धी आर्य एवं आसुर (अनार्य) परम्पराओं पर संकेत है।

सूत्रकालीन वास्तु-विद्या

वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक स्वरूप का विकास सूत्र-काल में प्रारम्भ होता है—यह पहले ही कहा जा चुका है। इस काल में भारतीय वास्तु-विद्या का स्वरूप प्रायः स्थिर हो

चला था। गृह्यसूत्रों को देखने मे यह निष्कर्ष पुष्ट होता है। वास्तु-कर्म, वास्तु-मंगल, वास्तु-होम, वास्तु-परीक्षा, भूमि-चयन, (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भेद से) द्वार एवं स्तम्भ-नियम, वृक्षारोपण, दारु-आहरण, पद-विन्यास, वास्तु-विद्या तथा ज्योतिष, वास्तु-फल आदि वास्तु-विद्या के सिद्धान्त, आश्वलायन, गोभिल, खादिर, शाखायन, पारस्कर तथा हिरण्याक्ष के गृह्य-सूत्रो मे पद-पद पर प्रचुर परिमाण मे प्राप्त होते हैं। शुल्व-सूत्रों का (जो कल्प-सूत्रों मे ही परिगणित किये जाते हैं) वेदि-निर्माण बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं रोचक है। बड़े-बड़े यज्ञो मे आवश्यक वेदियो की निर्माण-व्यवस्था मे बड़ा ही समय एवं संभार अपेक्षित होता था। वेदि-निर्माण के वास्तु-शास्त्रीय ये सिद्धान्त आगे प्रासाद-निर्माण मे आधारभूत सिद्धान्त हुए।

महाकाव्य कालीन वास्तु-विद्या

सूत्र-साहित्य के इस संस्कृत एवं कर्मकाण्ड-पथ से आगे बढ़ अब रामायण एवं महाभारत के काव्य कानन मे विचरण करना है, जहाँ वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों के सौरभ-सम्पन्न पुष्पों एवं फलों का आस्वादन करके तत्कालीन वास्तु-विद्या के प्रोज्ज्वल रूप का अनुभव किया जा सकता है।

उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ की वास्तु-विद्या के प्रवर्त्तक विश्वकर्मा और मय के निर्देश तो मिलते ही हैं, साथ ही साथ गृह्य-सूत्रों में प्रतिपादित वास्तु-विद्या के भी दर्शन होते हैं। परन्तु विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वास्तु-विद्या एवं कला के वैज्ञानिक पक्ष का पूर्ण आभास भी प्राप्त होता है। रामायण में स्थपतियों के भेद, गृह-प्रभेद (प्रासाद, सौध, विमान, हर्म्य, सभा आदि) भूमि-वर्गीकरण गृह-वर्ग जैसे 'पद्म', 'स्वस्तिक', 'वर्धमान' तथा 'नन्द्यावर्त (महाभारतीय) तथा विमान, राजवेश्म, सभा आदि के जो वर्णन आगे के शिल्प-शास्त्रों मे प्रतिपादित हैं उनके भी दर्शन इनमें होते हैं। 'पुर-निवेश' की रूपरेखा जो आगे विकसित हुई है, उसके बहुत से संकेत यहा द्रष्टव्य हैं। रामायण का अयोध्या वर्णन इस तथ्य का साक्षी है। द्वार आदि की परम्परा के विकसित बीज भी यहाँ मिलते हैं। इन सब संकेतों से महाकाव्य-कालीन उन्नत वास्तु-विद्या के विषय मे दो रायें नहीं हो सकती।

बौद्ध-कालीन वास्तु-विद्या

पाली जातकों के परिशीलन से बौद्धकालीन वास्तु-विद्या की बड़ी सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है। बौद्ध-साहित्य में वास्तु-विद्या एवं कला के बहुल निर्देश यत्र तत्र सर्वत्र इतने अधिक फैले हैं कि ऐसा मालूम पड़ता है कि ये ग्रंथ वास्तु-विद्या का ही प्रवचन कर रहे हैं। स्वयं बुद्ध भगवान के प्रवचनों मे वास्तु-विद्या के प्रवचन प्राप्त होते हैं, जैसा कि पालि पिटकों से प्रतीत होता है। 'चुल्ल वग्ग' 'विनय पिटक', 'महावग्ग' आदि पाली ग्रन्थों के परिशीलन से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो सकती है।

श्रीयुत् तारापद भट्टाचार्य (पृ० ११६) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि बौद्धकालीन भारत मे वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों का पर्याप्त विकास हो चुका था। वास्तु-निर्माण सम्बन्धी मांगलिक विधान (पासादमंगलम्—जातकों मे) दारु-चयन, भूमिचयन आदि सिद्धान्तों पर निर्देश मिलते ही हैं, परन्तु विशेषता यह है कि वास्तु-कला-निदर्शक वैज्ञानिक कौशल के सम्बन्ध मे कम निर्देश नहीं है। भवनों का वर्गीकरण-प्रासाद, हर्म्य, गुहा, विहार, मण्डप

अध्यायोग के रूप में तथा प्रासादों की भूमियों के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं। साथ ही साथ आगे के वास्तु-ग्रंथों के सदृश मार्गों एवं प्रासादों की नामावली का भी निर्देश द्रष्टव्य है। वास्तु-विद्या के कला-पक्ष के अन्य सिद्धान्तों का स्थिरीकरण भी देखने को मिलता है (देखिये पत्र ११६-२०)

इस प्रकार महात्मा बुद्ध के समय वास्तु-विद्या पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकी थी।

अर्थशास्त्र की वास्तु-विद्या

पुराणों, आगमों, तन्त्रों एवं शिल्पशास्त्रों की वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों का हम आगे उल्लेख करेंगे। ईसवीय पूर्वकालीन कौटिल्य के अर्थशास्त्र की वास्तु-विद्या पर थोड़ा सा संकेत यहीं पर आवश्यक है। इससे ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व की वास्तु-विद्या के साधारण सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में सहायता मिल सकेगी। ईसवीय शतक से लगभग चारसौ वर्ष पूर्व यह ग्रंथ लिखा गया था। इसमें वा० वि० के सिद्धान्तों का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वास्तु-विद्या बोधक सूत्रों से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ परम्परागत वास्तु-विद्या का सूत्र-रूप में संक्षिप्त कर, राजनीति के ग्रन्थ में विषयानुषङ्ग से उद्धृत कर इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि उस काल में वा० वि० के मौलिक ग्रन्थ होंगे। अन्यथा, वास्तु-हृदय', 'नवभाग', 'वास्तु-देवता', 'कोष्ठक' आदि शब्द कैसे लोग समझ सकते। अर्थ-शास्त्र में विभिन्न प्रकार के भवन-द्वारों की देव-नामावली जैसे ऐन्द्र, वारुण, याम्य आदि तथा पारिभाषिक शब्द यथा कपिशीर्ष इन्द्रकोष हस्तिनख, तल कपाटयोग सन्धि बीज एव अन्य अनेक ऐसे ही शब्द यथा गोपुर, तोरण, प्रतोली विष्कम्भ, आयाम, उच्छ्रय, अश्रि आदि आदि से तत्कालीन वास्तु-विद्या की प्रोन्नतावस्था की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

संक्षेप में ईसवीय पूर्व वास्तु-विद्या की रूपरेखा का निम्न प्रकार से स्थिरीकरण किया जा सकता है:—

१. वास्तु-पुरुष-विकल्पन
२. भूमिचयन एवं भूपरीक्षण
३ द्वार-सस्थान
४. वृक्षारोपण
५ दारु-आहरण
६ वास्तु-पद (पद-विन्यास)
७. वास्तु-विद्या तथा ज्योतिष
८ वास्तु-फल
६ स्थपति
१०. पाषाणकला तथा मूर्ति-निर्माण-कला
११. शाल-भवन
१२. शंकुस्थापन
१३. हस्त के विभिन्न माप

१४. स्तम्भादि-माप-व्यवस्था
१५ गृह-द्रव्य (पाषाण, इष्टका आदि)
१६ भवन-भूषा
१७. प्रासाद-रचना
१८ वास्तु-विद्या की परम्परायें (शैलियाँ आदि)

ईसवीय पूर्व-कालीन वास्तु-विद्या की इस रूपरेखा के विवेचन करने के उपरात अब हम समराङ्गण—पूर्वकालीन वास्तु-विद्या को दो कालों मे विभाजित कर सकते हैं—पहली से छठी और सातवीं से दशवीं शताब्दी तक। प्रथम काल मे प्राप्त वास्तु-ग्रन्थों मे बृहत्-संहिता, मत्स्यपुराण और विश्वकर्म-प्रकाश विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे से बृहत्संहिता ज्योतिष का ग्रन्थ है और विश्वकर्म-प्रकाश ही एक मात्र वास्तु-विद्या का ग्रन्थ है जिस पर हम आगे विचार करेंगे, बृहत्संहिता एक प्रकार से अर्धपुराण मानी जा सकती है। अतः पौराणिक वास्तु-विद्या में इसका स्थान असंगत न होगा।

बृहत्संहिता

इस ग्रन्थरत्न मे वास्तु-विद्या पर बड़ा ही सुन्दर एवं वैज्ञानिक विवेचन है। वराहमिहिर इसके लेखक हैं, जो महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों (कालिदास आदि) में से एक थे—ऐसी पुरानी परम्परा है। इस ग्रन्थ में यद्यपि वास्तु-विद्य पर केवल थोडे ही अध्याय मिलते हैं परन्तु उनका विवेचन बड़ा ही मार्मिक है।

५३ वें अध्याय (वास्तु-विद्या) मे प्रारम्भिक प्रवचनों-वास्तु-चयन, भूमि-परीक्षा, वृक्षारोपण, दारु-आहरण, पद-विन्यास आदि पर विवेचन मिलता है। 'प्रासाद लक्षण' (५६) मे बीस प्रकार के प्रासादों का वर्णन है, जो डा० आचार्य के अनुसार मत्स्यपुराण से मिलता जुलता है, साथ ही वास्तु-कला सम्बन्धी इसके वैज्ञानिक विवरण विशेष उल्लेख्य हैं। मन्दिर की भूमि, द्वार, गर्भ-द्वार, चित्रण, प्रतिमा-माप, पीठ-माप, भूमिका-उच्छ्रय आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। 'वज्रलेप-लक्षण' (५७) मे सीमेंट का निर्माण तथा अन्य भवन-द्रव्यों पर विवेचन है। इसी प्रकार 'शयनासन-लक्षण' (७९) में जैसा नाम से स्पष्ट है भवन-फर्नीचर, आसन शय्या पर्यंक आदि पर विवेचन किया गया है। 'प्रतिमा-लक्षण' (५८) मे वराहमिहिर ने पाषाणकला पर विवेचन किया है वह बड़ा ही वैज्ञानिक है जो आगे के पटलों मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बृहत्संहिता की एक विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ मे लगभग ७ वास्तु-विद्या के आचार्यों का उल्लेख मिलता है—गर्ग, मनु, वशिष्ठ, पराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित् तथा मय।

मत्स्य पुराण

पुराणों मे, विशेषकर जिन-जिन महापुराणों मे वा० वि० के विवरण मिलते हैं उनका हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम हम मत्स्य को लेते हैं। इस पुराण मे वास्तु विद्या पर लगभग आठ अध्याय हैं। २५२वें अध्याय मे वास्तु-विद्या के प्रसिद्ध प्राचीन अठारह आचार्यों पर प्रकाश डाला गया है। स्तंभमान-विनिर्णय—२५५वें अ० मे स्तंभों पर विवेचन किया गया है। मत्स्य के अनुसार भवन-निर्माण का प्रारंभ स्तंभ

रचना से प्रारंभ होना चाहिये। स्तभ सम्पूर्ण भवन की योजना एवं रचना का आधार है। स्तंभो को ५ प्रकार के वर्गों में वर्गीकृत किया गया है:—रूचक, वज्र, द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त। इस वर्गीकरण का आधार वास्तु-सौंदर्य एवं उपयोगिता है। नवताल-लक्षण (२५८) पीठिका-लक्षण (२६२), लिङ्ग-लक्षण (२६३)—इन तीनों अध्यायों मे प्रस्तर-कला तथा मूर्ति-निर्माण पर विवेचन है। प्रासाद-वर्णन (२६६) मण्डप लक्षण (२७०)—इन दो अध्यायो में प्रासाद-वास्तु के विवरण मिलते हैं जो आगे 'प्रासाद' पटल मे द्रष्टव्य हैं।

स्कन्दपुराण

इस पुराण के माहेश्वर-खण्ड (द्वितीय भाग) तथा वैष्णवखण्ड (द्वितीय भाग) में वास्तु-विद्या के वर्णन प्राप्त होते हैं। मत्स्य के अनन्तर स्कन्द अधिक प्राचीन है—ऐसा डा० आचार्य ने माना है। महानगर-स्थापन, स्वर्णशाला, रथनिर्माण, स्थपति-निर्देश, विवाह-मण्डप, चित्र-कर्म आदि के जो विवरण मिलते हैं, उनमे वास्तु-विद्या के व्यापक विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। वास्तु-कर्म, शिल्प-कर्म का पर्याय होगया है अन्यथा रथ-निर्माण आदि तक्षक-कला से सम्बन्धित कर्म, वास्तु-कला (भवन-निर्माण-कला) में कैसे संचालित होते। प्राचीन परम्परा मे वास्तु-कला एवं पाषाण-कला (मूर्ति-निर्माण-कला का) घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु चित्रकला के साथ सम्बन्ध यहीं पर सर्वप्रथम देखने को मिला।

गरुड़पुराण

इस पुराण की वास्तु-विद्या के चार अध्यायो मे से दो अध्यायों मे (४६-४७, सभी प्रकार के भवनों (मानव एवं दैव) तथा दुर्ग-निवेश एवं पुर-निवेश पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन मिलता है। गरुड़पुराण की अपनी विशेषता है—पुर-निवेश तथा उद्यान-भवन (गार्डेन सिटीज़)। साथ ही परम्परा के अनुरूप प्रासाद एवं प्रतिमा (४५ तथा ४८) पर भी सुन्दर विवेचन है।

अग्निपुराण

इस पुराण में वा० वि० का बड़ा ही विस्तृत विवेचन है जैसा कि अन्य पुराणों में अप्राप्य है। इस पुराण मे वा० वि० पर सोलह (४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ६०, ६२, १०४ तथा १०६) अध्यायो मे वा० वि के प्रायः सभी अंगो पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में प्रधानता पाषाणकला (मूर्ति-निर्माण) की है, वास्तु-कला पर केवल तीन अध्याय तथा मूर्ति-निर्माण कला पर तेरह हैं। डा० आचार्य के मत में अग्निपुराण का पुर-निवेश (अध्याय १०६) वास्तु-शास्त्रीय एक विशिष्ट देन है।

इसी प्रकार से अन्य पुराणो मे भी वा० वि० की प्रचुर सामग्री भरी है, जिसका स्थानाभाव से विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता है। संक्षेपत पुराणों की वास्तु विद्या की निम्न रूपरेखा अङ्कित की जा सकती है जो पूर्ण विकसित कही जा सकती है।

१. वास्तु-विद्या के आचार्य
२. वास्तु-शैलिया
३. भवन-निवेश
४. पुर-निवेश
५ दुर्ग-निवेश
६ प्रासाद-सन्निवेश
७. भवन-द्रव्य-दार्वाहरण
८. स्तम्भ-मान

९. ताल-मान	१५ मण्डप
१०. प्रतिमा-लक्षण	१६ उद्यान-भवन
११. दशावतार	१७ वापी-निर्माण
१२. लिङ्ग	१८ कूप-निर्माण
१३. पीठिका	१९ शैल-मन्दिर
१४. सभा	२०. चित्रकला

आगम वास्तु-विद्या

आगमों के सम्बन्ध में पूर्व ही निर्देश किया जा चुका है। अतः आगमों का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ लेकर एवं उसके अध्यायों का निर्देशमात्र करने से ही आगमों की वास्तु-विद्या का अनुमान लगाया जा सकता है। कामिकागम आगमवास्तु-विद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जा सकता है। अतः उसकी वास्तु-विद्या पर ६० पटलों की निम्न विषय-तालिका द्रष्टव्य है।

कामिकागम

विषय	पटल	विषय	पटल
१. भूपरीक्षा-विधि	११	२१ ग्राम गृह-विन्यास	३३
२. प्रवेशकालविधि	१२	२२ वास्तु-शास्त्र-विधि	३४
३. भूपरिग्रहविधि	१३	२३ शाला-लक्षण-विधि	३५
४. भूकर्षणविधि	१४	२४ विशेष-लक्षण-विधि	३६
५ शंकुस्थापन-विधि	१५	२५ द्विशाल-लक्षण-विधि	३७
६. मानोपकरण-विधि	१६	२६ चतुश्शाल-लक्षण-विधि	३८
७ पाद-विन्यास	१७	२७. वर्धमानशाला-लक्षण	४०
८. सूत्र-निर्माण	१८	२८ नन्द्यावर्त-विधि	४१
९. वास्तुदेवकाल	१९	२९ स्वस्तिक-विधि	४२
१०. ग्रामादि-लक्षण	२०	३०. पक्षशालादि-विधि	४३
११ विस्तारायाम-लक्षण	२१	३१. हस्तिशाला-विधि	४४
१२. आयादि-लक्षण	२२	३२. मालिकालक्षण-विधि	४५
१३. दण्डकविधि	२४	३३ लांगलमालिका-विधि	४६
१४. वीथी-द्वारादि-मान	२५	३४ मौलिकमालिका-विधि	४७
१५. ग्रामादि-देवता-स्थापन	२६	३५. पद्ममालिका-विधि	४८
१६ ग्रामादि-विन्यास	२८	३६. नागरादि-विभेद	४९
१७. नगरदेव पदानि	२९	३७ भूमिलम्ब-विधि	५०
१८ ग्रामादि-अंग-स्थान-निर्माण	३०	३८ आद्येष्टका-विधि	५१
१९. गर्भन्यास	३१	३९ उपपीठ-विधि	५२
२०. बालस्थापन-विधि	३२	४०. पादमान-विधि	५३

कामिकागम के अतिरिक्त कर्णागम, सुप्रभेदागम वैखानसागम आदि आगम-ग्रन्थों मे भी वा० वि० का प्रौढ प्रतिपादन प्राप्त होता है। कर्णागम का तालमान बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विवेचन है। इसमे लगभग चालीस अध्याय वा० वि० पर हैं। सुप्रभेदागम की विशेषता संक्षेप-प्रियता है जो वराहमिहिर की बृहत्संहिता के समान ही स्वल्प में सभी विषयों पर वर्णन करता है। इसमें केवल १५ अध्याय हैं परन्तु विवेचन प्रौढ एवं मौलिक है। 'प्रासाद-पटल' में सुप्रभेदागम की विशेष चर्चा द्रष्टव्य है।

आगमों की वास्तु-विद्या की रूपरेखा का अलग से अंकन करने की आवश्यकता नहीं। कामिकागम के अगाध वास्तु-सागर की गहराई में प्राय. सभी वास्तु-रत्न प्राप्त हो सकते हैं। विषय-तालिका से ही विषय-वर्गीकरण स्पष्ट है। आगमों की वा० वि० की समीक्षा मे यह कहा जा सकता है कि पुराणो की अपेक्षा आगमो का विवेचन न केवल अधिक वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक ही है वरन् सागोपाग भी है। सम्भवतः ही कोई ऐसा विषय हो जिसकी चर्चा इनमे न हो।

तान्त्रिक वास्तु-विद्या

पुराणों एवं आगमों की पुण्यभूमि पर बहुत देर तक विचरण करते रहे। तन्त्रों के साधना-पथ पर मुड़ने के लिये इतना ही संकेत पाथेय का काम दे सकता है, कि जिन विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों का निर्देश किया गया है, उनमे वा० वि० के सुन्दर विवरण मिलते हैं। यहाँ पर विशेष चर्चा नही की जा सकती। इस परम्परा के प्रौढ एवं अधिकृत ग्रन्थ हयशीर्ष-पञ्चरात्र पर थोड़ा सा प्रकाश डाला ही जा चुका है।

शिल्प-शास्त्रीय वास्तु-विद्या

शिल्प शास्त्रीय वास्तु विद्या की दोनो कोटियों (दक्षिणी तथा उत्तरी) के ग्रंथो का निर्देश किया ही जा चुका है। लेखक के मत मे शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथों मे तीन ग्रन्थ प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। पहला विश्व-कर्म-प्रकाश तथा शिल्प, दूसरा मानसार और तीसरा समराङ्गण-सूत्रधार। समराङ्गण की वास्तु-विद्या का ओपोद्घातिक समीक्षण आगे के अध्याय में किया जायगा। वैसे तो यह सम्पूर्ण ग्रन्थ समराङ्गण का ही अध्ययन है। मानसार की वा. वि पर डा० आचार्य के ग्रन्थ विशेष द्रष्टव्य हैं। दक्षिणी परम्परा का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ मयमत है परन्तु मयमत और मानसार मे अत्यधिक समानता के कारण मानसार का ही

उल्लेख विशेष संगत है। अत. यहाँ पर दोनो परम्पराओं के इन दो प्राचीन ग्रंथों (मान-सार एवं विश्वकर्म-प्रकाश) की स्वल्प मे समीक्षा करनी है। पहले विश्वकर्म-प्रकाश की चर्चा ही उचित है।

विश्वकर्म-प्रकाश (तथा शिल्प)

भारतीय वास्तु-विद्या के अति प्रसिद्ध प्रवक्ता विश्वकर्मा के नाम से विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। उन ग्रन्थो की एक से अधिक संज्ञाये हैं जैसे विश्वकर्म-प्रकाश अथवा विश्वाकर्मा-वास्तु-शास्त्र तथा विश्व-कर्मीय-शिल्प, अथवा विश्वकर्मा-शिल्प-शास्त्र। विश्वकर्म-प्रकाश अथवा विश्वकर्मा-वास्तु-शास्त्र नामक प्रथम ग्रन्थ मे केवल तेरह अध्याय हैं, जो विशेष कर भारतीय वास्तु-कला के भवन-विद्या के विवरणो तकही सीमित है। परम्परानुरूप भवन-कला के साथ-साथ मूर्ति-कला पर भी विवेचन आवश्यक है अतः यह पूर्ति दूसरे ग्रंथ—विश्व-कर्मीय शिल्प अथवा विश्व-कर्मा-शिल्प-शास्त्र द्वारा की जाती है। इसमे सत्तरह अध्याय हैं जिनमे विशेष कर मूर्ति-निर्माण-कला के विषयों का विवेचन है। डा० आचार्य इस दूसरे ग्रंथ को संग्रह मानते हैं, क्योंकि तान्त्रिक शैली में यह लिखा गया है। भगवान् शिव इसके प्रवक्ता हैं। अस्तु इतना निर्विवाद है—दोनों ही ग्रंथ मिलकर वास्तु-विद्या के प्रमुख सभी सिद्धान्तों का समुद्घाटन करते हैं। विश्वकर्म-प्रकाश की विषय-तालिका निम्न रूप से अंकित की जा सकती है :—

विश्वकर्म-प्रकाश

१ मंगलाचरण
२. वास्तु-पुरुषोत्पत्तिवर्णन
३. भूमिलक्षण
४ गृह-प्रवेश
५. खनन-विधि
६. स्वप्न-विधि
७ भूमि-फल
८. गृहारम्भ मे समय-विधि
९ ध्वजा
१०. आयव्ययांशादिफल
११. गृहमध्य-देवादिस्थापन-निर्णय
१२. ध्रुवादि-ग्रह-भेद
१३ द्वारमान
१४ स्तम्भ-प्रमाण
१५ गृहशाला-निर्णय
१६ गृहारम्भ-काल-निर्णय
१७ गृहारम्भ-लग्न-कुण्डलीस्थग्रह-फल
१८. शय्या-मन्दिर-भवन-सुमन-सुधारादि गृह-लक्षण
१९ पादुका-उपानह-मञ्चादि-मानलक्षण
२० शंकु-शिला-न्यास-निर्णय
२१. वास्तु-देहलक्षण, पूजन, बलिदान
२२. शिलान्यास
२३. प्रासाद-विधान
२४. शिल्प-न्यास
२५ प्रासाद-निर्णय
२६ पीठिका-लक्षण
२७. मण्डप
२८. द्वारलक्षण
२९ वापी-कूप-तडाग-उद्यान-क्रिया
३०. दारुच्छेदन-विधि
३१. गृह-प्रवेश-निर्णय
३२ गृह-प्रवेश-काल-शुद्धि
३३. शय्यासन-दोलकादि-लक्षण
३४ दुर्ग-निर्णय
३५ शल्यज्ञान
३६. नगर-संबंधि-राजगृहादि-निर्णय

विश्वकर्मीय शिल्प

इसके सत्तरह अध्यायों की विषय तालिका निम्नलिखित है :—

१. विश्वकर्मा की उत्पत्ति एव अन्य तक्षक, वार्धिक आदि स्थपति-भेदों का वर्णन।

२. युगानुपूर्वी नरो की ऊँचाई तथा प्रतिमा-निर्माण के द्रव्य काष्ठ—पाषाण आदि।

टिप्पणी—प्रतिमाओं के मान का आधार नरमान ही प्रकल्पित हुए हैं—देखिये इस ग्रंथ का षष्ठ पटल 'प्रतिमा-विज्ञान'।

३. तक्षक के लिये (मूर्ति-निर्माता—काष्ठादि से) गर्भाधानादि-संस्कार-कथन तथा गर्भोत्पत्ति-कथन।

४ शिव-लिंग तथा अन्य देवों की प्रतिमा-प्रतिष्ठापनार्थ मन्दिर (सभा) निर्माणादि।

५. गृह-प्रतिमा-निर्माण-प्रमाण तथा लिंग-पीठ-निर्माण-प्रमाणादि।

६. रथ-निर्माण-विधि-कथन।

७. रथ-प्रतिष्ठा-विधि।

८. ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि स्वरूप कथन।

९. यज्ञोपवीत-लक्षण।

१० सुवर्ण-रजत मुञ्जादि-निर्मित यज्ञोपवीत-कथन तथा मेरुदक्षिण-स्थित हेमशिला-कथन।

११. लक्ष्मी, ब्राह्मी, माहेश्वरी-आदि देवी और इन्द्र आदि दिक्पाल तथा ग्रहादि मूर्ति-निर्माण-प्रकार।

१२. व १३ मुकुट-किरीट-जटा मुकुटादि निर्माण-प्रकारादि।

१४. स्थावर, अस्थावर सिंहासन-निर्माण-प्रकारादि। पुनर्विशेषेणकिरीट, ललाट पट्टिकादि निर्माण-प्रकार तथा देवता-मन्दिर-जीर्णोद्धार-प्रकार।

१५. लिंग-मूर्ति-मन्दिर-द्वारादि-कथन।

१६. प्रतिमा-मूर्ति-मन्दिर-द्वारादि-कथन।

१७. विघ्नेश-मूर्ति-मन्दिर-द्वारादि-विधि।

विश्वकर्मा के इन दोनों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों से प्रतीत होता है कि भारतीय वास्तु-विद्या की यह रूपरेखा उस महाधारा के समान है जो कालान्तर में दो धाराओं में बहने लगी और अन्ततोगत्वा समराङ्गण-समुद्र में पुनः एकाकार होकर एकात्मक हिन्दू वास्तु-शैली (Composite Hindu Style of Architecture) को जन्म देने में सहायक हुई।

मानसार

दक्षिणी परम्परा के अग्रगामी एवं अधिकृत इस ग्रन्थरत्न पद विद्वद्रत्न डा० आचार्य की अमर कृतियों का हम निर्देश कर ही चुके हैं। वास्तु-विद्या के अनुसंधान गवेषण एवं समीक्षण में लक्षग्रन्थी मानसारीय कृतियों (Manasara series सहायक पुस्तक सूची देखिये) ने पथ-प्रदर्शन का काम किया है। समराङ्गण के समान ही यह भी एक विशाल ग्रन्थ है (७०अध्याय, दस हज़ार पंक्तियाँ।)

विषय-तालिका

विषय तालिका

इस प्रकार इन सत्तर अध्यायों मे, प्रथम आठ अध्याय वास्तुकला के औपोद्घातिक विवेचन से सम्बन्ध रखते हैं, जिनमे सग्रह (विषय-सूची) मान, स्थपति तथा स्थपति के लक्षण, भूमि-चयन, भू-परीक्षा, पद-विन्यास, शंकुस्थापन तथा बलिकर्म आदि पर प्रकाश डाला गया है। पुन. आगे के बयालिस अध्यायों मे (६ से ५० तक) विभिन्न प्रकार के ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग के विवरणों के साथ साथ सन्धि-कर्म, गर्भ-विन्यास, शिलान्यास स्तम्भ एवं स्तम्भावयव, भूमितल (एक से द्वादश तक साधारण भवनों, मन्दिरों तथा राज-भवनों में तथा एक से सत्तरह तक गोपुरों में)विमान, प्राकार, परिवार, गोपुर, मण्डप, शाला, द्वार, प्राङ्गण, तोरण, राजवेश्म, राजप्रकोष्ठ, सिंहासन, मुकुट, रथादि यान तथा भवन-फर्नीचर—पर्यंक, शय्या, टेबिल, कुर्सियाँ, अलमारियों, मंजूषायें, पिञ्जर आदि साथ ही साथ मध्यरंग , एवं भूषण तथा पोशाक आदि पर विवेचन किया गया है। अन्तिम बीस अध्यायों में पाषाण-कला (मूर्ति-निर्माण) पर प्रवचन है जिनमें हिन्दू , बौद्ध, जैन मूर्तियो के निर्माण-कौशल के नियमों के साथ साथ महापुरुषों एवं पशुओ और,पक्षियों (गरुड़ आदि) की मूर्तियों की निर्माण-व्यवस्था है। अतः इस ग्रन्थ में वास्तुकला पर पचास तथा पाषाण-कला पर बीस अध्याय हैं।

मानसार की वास्तु-विद्या की इस रूपरेखा के इस निर्देश के उपरान्त इसमें प्रतिपादित वास्तु-विद्या के जो विवरण मिलते हैं, उससे प्रौढ दाक्षिणात्य मन्दिर-निर्माण कला के दर्शन होते हैं। १ से १७ तक की भूमिकाओं (स्टोरीज़) वाले गोपुरों का विकास दक्षिण में उत्तर-मध्यकालीन मन्दिर-निर्माणकला की परम्परा का प्रतीक है। मानसार मे गोपुरों की इसी विशिष्टता के कारण श्रीयुत् तारापद भट्टाचार्य ने इसे मध्यकालीन (११वीं से १५वीं शताब्दी के मध्य की) रचना माना है।

वास्तु-विद्या के इन प्रतिनिधि-ग्रन्थों की अति सूक्ष्म समीक्षा के उपरान्त यहाँ पर इतना संकेत और करना है कि पुराणों, आगमों एवं तंत्रों में वास्तु-विद्या का प्रतिपादन तो चल ही रहा था, साथ ही साथ शिल्प-शास्त्र पर मौलिक ग्रंथों की रचना भी होती रही। स्थानाभाव से उन सभी ग्रंथों की यहाँ समीक्षा नहीं हो सकी। आगे के अध्यायों मे प्रायः सभी प्रमुख ग्रंथों का संकेत मिलेगा। तथापि इन प्रमुख ग्रंथों का थोड़ा सा दिग्दर्शन करके इस अध्याय को समाप्त करना है। इन प्रमुख ग्रंथों में कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ जैसे सूत्रधार-मण्डन के ग्रन्थ, श्रीकुमार का 'शिल्प-रत्न' समराङ्गण के बाद के हैं जिनमे वास्तु-विद्या का सुन्दर एवं सुसंस्कृत प्रतिपादन है। अगस्त्य का 'सकलाधिकार,' प्रतिमा-निर्माण पर बड़ा ही प्रौढ विवेचन करता है। काश्यपीय-शिल्प अथवा 'अंशुमद्भेद' दक्षिणी वास्तु-विद्या का लोक-प्रिय ग्रंथ है। अर्वाचीन समय मे भी मूर्ति-निर्माता कारीगरों की यह हस्त पुस्तक (हैन्डबुक) है। 'साउथ इन्डियन ब्रोंजेज' में श्रीयुत गंगोली जी लिखते हैं कि दक्षिण के सभी पाषाण-कोविदों का यह सर्वसाधारण, अति प्रसिद्ध प्रामाणिक ग्रंथ है। नवीन जिज्ञासु कला-शिष्यों को आज भी इसके श्लोक कण्ठाग्र कराये जाते हैं। इसमे मूर्ति-निर्माण एवं मूर्ति-मापन आदि के नियम संगृहीत है। ग्रंथ भी विशालकाय है। 'समराङ्गण-सूत्रधार' के समान इसमें भी ८३ अध्याय (पटल) हैं।

३

समराङ्गण-सूत्रधार

संक्षेप एवं समीक्षा

समराङ्गण की वास्तु-विद्या पर इस औपोद्‌घातिक पटल में एक साधारण एवं संक्षिप्त समीक्षा की आवश्यकता इसलिये विशेष है कि विगत अध्याय में समराङ्गण पूर्वकालीन प्राचीन वास्तु-विद्या से इसका तारतम्य और इसकी देन का प्रारम्भ में ही कुछ आभास मिल जाय। यद्यपि आगे के अध्यायों में समराङ्गण की ही वा० वि० का विषयानुपङ्क्तिक (पुर, भवन, यंत्र, प्रासाद, प्रतिमा एवं चित्र का) प्रतिपादन है तथापि इस समीक्षा से न केवल इस ग्रंथ की महत्ता का मूल्याङ्कन होगा अपितु वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका क्या स्थान है—इस प्रश्न पर भी अवश्य कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

गत अध्याय में भारतीय वास्तु-विद्या के विभिन्न कोटिक ग्रंथों के विषयों की रूप-रेखा का जो परिचय प्राप्त हुआ उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तु-विद्या का क्षेत्र शनैः शनैः बहुत व्यापक एवं विस्तृत होता गया। परन्तु एक ही ग्रंथ में हमें इस विस्तार के दर्शन नहीं होते। किन्हीं में भवन-निर्माण एवं प्रासाद-निर्माण तक ही वास्तु-विषय सीमित है, तो किन्हीं में प्रतिमा-निर्माण पर ही विशेष विस्तार है। कुछ ऐसे भी ग्रंथ मिले हैं, जिनमें चित्रकला तथा तक्षक-कला—रथ इत्यादि तथा दोला आदि पर भी प्रवचन प्राप्त होते हैं। मानसार एवं कामिकागम की विस्तृत एवं व्यापक वास्तु-विद्या में भी चित्रकला तथा यंत्रकला का सन्निवेश नहीं है। इस दृष्टि से समराङ्गण की देन का हम आभास पा सकते हैं। परन्तु इस अध्याय में सर्वप्रथम समराङ्गण के प्रतिपाद्य विषयों का अवलोकन ही विशेष समीचीन होगा।

इस ग्रन्थ में ८३ अध्याय हैं। लगभग दस हज़ार पंक्तियों में लिखित यही एक ऐसा वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें वास्तु-विद्या के अविकल अंगों का सांगोपांग विवेचन है। विभिन्न कोटिक-भवनों—साधारण भवन (जनावास—शालभवन) राज-भवन या राज-प्रासाद, देव-भवन (प्रासाद-मन्दिर), विशिष्ट भवन (जैसे सभा-भवन), उपभवन (जैसे गजशाला, वाजिशाला) इत्यादि का वैज्ञानिक, सामाजिक तथा धार्मिक वर्गीकरण एक-मात्र इसी ग्रंथ में प्राप्त होता है। इसका विशेष वर्णन हम 'भवन-पटल' में करेंगे। भवन-वास्तु-विद्या पर इस ग्रन्थ में लगभग तीन दर्जन अध्याय हैं (देखिये सुसम्बद्धा विषया-नुक्रमणी पृ० ६–१२)।

समराङ्गण का पुरनिवेश बड़ा ही व्यापक है। पुरनिवेश में आजकल के टाउन प्लानर्स रीजनल प्लैनिंग (देश-परीक्षा) पर विशेष अभिनिवेश रखते हैं। उद्यान-नगरों (गार्डेन सिटीज़) की निवेश-प्रक्रिया को लोग 'आधुनिक' देन समझते हैं परन्तु यहाँ पर संकेत कर देना असंगत न होगा कि समराङ्गण के पुरनिवेश में इन दोनों ही सिद्धान्तों का पूरा ध्यान रक्खा गया है जिनका प्रतिपादन 'पुरनिवेश'-पटल में विशेष रूप से किया जायेगा।

पुरनिवेश एवं भवन-निवेश के व्यापक सिद्धान्तों के इस दिग्दर्शन के पश्चात् समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु (टेम्पिल आर्कीटेक्चर) के विषय मे यह संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि प्रासाद-वास्तु का इतना सुन्दर एवं विस्तृत निरूपण अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रन्थ का लगभग आधा भाग प्रासाद-रचना पर है। भारत की पूर्व-संकेतित दो प्रमुख शैलियों (उत्तरी अथवा नागर शैली तथा दक्षिणी अथवा द्राविड शैली) के अतिरिक्त उस समय तक विभिन्न जनपदों तथा वास्तु-केन्द्रों मे विकसित अन्य शैलियों—जैसे वावाट (वैराट), भूमिज एवं लाट (लतिन) आदि के न केवल बहु-संख्यक प्रासादों का ही प्रौढ़ प्रतिपादन है वरन् विभिन्न-कोटिक प्रासाद-जातियों के साथ-साथ स्मारकों (मानूमेंट्स) में प्राप्त विभिन्न कोटिक-प्रासादों—जैसे अजन्ता और एलोरा के गुहा-मन्दिर (समराङ्गण इन्हें लयन, गुहाराज आदि नामो से पुकारता है) तथा स्तम्भ-बहुल छाद्य-प्रासाद एवं शिखरोत्तम प्रासाद (भुवनेश्वर तथा खजुराहो) बहु-भूमिक प्रासाद (तंजौर, मामल्लपुर आदि) आदि अनेक स्मारक-निदर्शन-सूचक प्रासादो—का भी वर्णन करता है। इस प्रकार यह ग्रंथ न केवल मध्य-कालीन वास्तु-कला (विशेषकर प्रासाद-वास्तु) का एक प्रामाणिक एवं अधिकृत ग्रंथ है अपितु उस काल तक की वास्तु-कला की विकसित परम्पराओं का एक प्रकाशक दर्पण भी है।

मध्यकाल तक विकसित वास्तु-विद्या के आधे दर्जन प्रधान विषयों मे से तीन (भवन, पुर एवं प्रासाद) की तो स्थूल समीक्षा हो चुकी, अब प्रतिमा-विज्ञान पर, जो पुरातन काल से ही वास्तु-विद्या का प्रमुख विषय रहा है किंचित् विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। इस ग्रन्थ में अगस्त्य के सकलाधिकार के समान, प्रतिमा-विवेचन उतने विस्तार रूप से नहीं मिलेगा, यद्यपि इस विषय पर लिखित लगभग १४ अध्यायों मे प्रतिमा विज्ञान के प्राय. सभी प्रधान अंगों पर प्रकाश डाला गया है। प्रतिमा-विज्ञान के सम्बन्ध मे समराङ्गण की एक विशेष देन यह है कि यह चित्र-कला का बड़ा सुन्दर विवेचन करता है। 'विष्णु-धर्मोत्तर' तथा 'चित्रलक्षण' को छोड़कर अन्यत्र किसी ग्रन्थ मे चित्रकला विवेचन अप्राप्य है। प्रतिमा-विज्ञान की व्यापक कल्पना मे हम प्रतिमाओं को दो प्रधान वर्गों में बाँट सकते हैं—द्रव्य-प्रतिमा (मृण्मयी, लौहमयी, ताम्रमयी, रजतमयी, स्वर्णमयी, रत्नमयी, गन्धमयी आदि, आदि) तथा चित्र-प्रतिमा। वैसे तो अन्य ग्रन्थो मे प्रतिमाओं के वर्गीकरण मे चित्र (आलेख्य) का समावेश पाया जाता है, परन्तु चित्र-कला पर सागोपाग वैज्ञानिक वर्णन, प्राप्त शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों मे, इसी की विशेषता है।

आगे के एक अध्याय मे समराङ्गण के व्यापक वास्तु-विषय (स्कोप) पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। उसी के अनुरूप इस ग्रन्थ मे यंत्रकला पर एक बड़ा अध्याय है। इस अध्याय मे प्राप्त सामग्री से भारत की विकसित यन्त्र-विद्या का अनुमान लगाया जा सकता है। उपलब्ध वास्तु-शास्त्रीय एवं अ-वास्तुशास्त्रीय दोनो ही प्रकार के ग्रन्थो मे यन्त्र-निर्माण पर, यंत्रो के विभिन्न वर्गों आदि पर, कहीं भी—कुछ भी सामग्री नहीं है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। इस यंत्र-विद्या की विशेष समीक्षा 'यंत्र-पटल' में द्रष्टव्य है। इस ग्रन्थ मे यंत्रो के साथ-साथ भवन-फर्नीचर जैसे शय्या तथा आसन आदि पर भी एक बहुत सुन्दर अध्याय है जिसमे स्थपतियो की विभिन्न कोटियो मे काष्ठकार (बढ़ई) भी सम्मिलित किया गया जान पड़ता है।

इस प्रकार समराङ्गण की वास्तु-विद्या के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब संक्षेप में समराङ्गण के अध्यायों पर भी दृष्टिपात कर लेना असगत न होगा।

औपोद्घातिक—

प्रथम ७ अध्यायों (देखिये विषयानुक्रमणी) में वास्तु-प्रयोजन, वास्तु-प्रतिष्ठापक, वास्तु-ब्रह्मा, वास्तु-कल्पना, वास्तु-त्रयी,(भूमि, स्थपति एवं शासक) वास्तु-विस्तार, वास्तु-सृष्टि, वास्तु-जन्म तथा वास्तु-विद्या के विभिन्न विषयों की अवतारणा की गई है।

वैसे तो विभिन्न वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों मे जैसे मानसार, मयमत, विश्वकर्मीय—शिल्प आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों में वास्तु शब्द का अर्थ एवं वास्तुकला का क्षेत्र—भवन, प्रासाद, राज-प्रासाद, प्रतिमा, तथा पुर तक ही—सीमित है परंतु इस ग्रंथ में तो वास्तु-कला का क्षेत्र पुर से आगे बढ़कर जनपद एवं देश अथवा सम्पूर्ण मही तक फैल गया है। सम्भव है इस कल्पना मे अतिरञ्जना एवं रूपकता की छाया दिखलाई पड़ती हो, परन्तु जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, मानवता-अविभाज्य है मानव-संस्कृति एवं विश्व-संस्कृति भी अविभाज्य है। सूक्ष्म दृष्टि से सस्कृति एवं सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्त सर्वत्र समान रूप से प्रत्येक जाति, देश एवं राष्ट्र मे पाये जाते हैं, अतः समराङ्गण में भी यदि प्रथम अध्याय में महासमा पृथ्वी तथा पृथु की कथा की आवतरणा सम्पूर्ण पृथ्वी के निवेशोपक्रम वासतियोग्यता, वास-स्थान जनपद-निवेश एवं सृष्टि-संविभाग के लिये की गयी है , और इस प्रकार वास्तुकला का विषय साधारण अथवा विशिष्ट-भवनों एवं उन भवनो एवं प्रासादों के निवेश-स्थान,—ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुट-भेदनों, एवं पुरों तक ही सीमित न रखकर पुर-समूह, जनपद एवं जनपद-समूह राष्ट्र या देश तथा राष्ट्र-समूह भूमण्डल तक विस्तृत होगया है तो तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक ही है।

प्रथम अध्याय मे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के पास राजा पृथु के भय से विक्लवा पृथ्वी आती है और पृथु के द्वारा पीड़ित पृथ्वी अपनी पीड़ा कथा कह भी न पायी थी कि महाराज पृथु [जिनसे आगे चलकर पृथ्वी 'पृथ्वी' "पृथो.इयं (प्रियकरी) इति पृथ्वी" कहलाई] स्वयं आ धमके और कहने लगे—हे जगन्नाथ। आप ही ने तो इस जगत् का मुझे स्वामी बनाया है तथा इस स्थावर-जंगमात्मक समस्त भू-मण्डल को मेरे वश में स्थापित कर भू को ऊर्वरा, बनाकर राष्ट्र, देश, जनपद, पुर, ग्राम, खेटक आदि विभिन्न स्थानों के निवेश योग्य उसको बनाने के लिये भी तो आपने आदेश दिया है। अतः इस पृथ्वी-दोहन-कार्य मे यह पृथ्वी मेरी सहायिका न होकर मेरे वश मे न आकर अकारण भयभीत आपके समीप उपस्थित हुई है। अतः हे ब्रह्मन्! वर्णाश्रम-स्थान-विभाग कैसे सम्भव होगा जब तक अनेक ऊबड़-खाबड़, टीले, पर्वत आदि का समीकरण होकर भूमि समतल तथा वसतियोग्य न बन जाये ?

महाराज पृथु के इन वचनों को सुनकर पृथ्वी के करुण-निवेदन को ध्यान मे रखकर उन्हें निर्भय बनाकर दोनों को ही सम्बोधन कर ब्रह्माजी कहते हैं—हे महीपाल! यदि आप इस मही का विधिवत् पालन करेंगे तो नि.सन्देह यह पृथ्वी सस्य आदि निष्पादन कर तुम्हारे एवं समस्त प्राणिजाति के लिये उपभोग्य बनेगी। अथच, तुम्हारा जो स्थानादि-विनिवेशन मनोरथ है वह सर्व-सिद्धि-प्रवर्तक प्रभास (वसु) के लड़के, बृहस्पति के भानजे

बृहस्पति के ही समान प्रखर-बुद्धि विश्वकर्मा जी सम्पादन करेंगे। स्वर्गलोक में इन्होंने इन्द्र की राजधानी देवपुरी अमरावती के निर्माण की ख्याति प्राप्त ही कर ली है। अथच आप ने बहुत सी राजधानियों एवं नगरों का निर्माण-कौशल भी प्राप्तकर लिया है। अत. इन्हीं को इस कार्य में लगाइये। ये ही पुर, ग्राम तथा नगरों के निवेश करेंगे और यह भू-लोक भी स्वर्गलोक के समान वासयोग्य बन जायगा। अतः हे वत्स! तुम जाओ और अपना कार्य करो। और हे पृथ्वि! तू भी भय छोड़कर राजा पृथु की प्रियकरी बन। और विश्वकर्मन्! तुम भी महाराज का प्रिय सम्पादन करो।

आगे के अध्याय मे (विश्वकर्मणः पुत्रसंवादाध्यायो नाम द्वितीयोऽध्यायः) विश्वकर्मा पितामह ब्रह्मा के इस नियोग (Mission) की सफल सिद्धि के लिये अपने मानस पुत्रो—जय, विजय, सिद्धार्थ तथा अपराजित—को स्मरण कर इस कार्य मे सहायता के लिये कहते हैं। स्वयं तो पृथु की राजधानी बनाने का संकल्प करते हैं और अपने पुत्रों को भूलोक के चारों दिङ्मण्डलों पर वासयोग्य जनपद आदि तथा देशों की रक्षार्थ दुर्ग-स्थापन तथा चारों वर्णों के योग्य स्थानादिनिवेश—इन सब कार्यों के सम्पादन के लिये आदेश देते हैं। इस पर विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय ने इस भूलोक के ज्ञान एवं सृष्टि आदि के विज्ञान की जिज्ञासा की तथा स्थापत्य-विद्या के सिद्धान्तों एवं वास्तुकला के मर्म पर प्रकाश डालने की अपने पिता से प्रार्थना की।

इस प्रकार यह कथानक समराङ्गण की वास्तु-विद्या और उसके आचार्य विश्वकर्मा की अवतारणा के साथ-साथ वास्तु-विद्या के व्यापक क्षेत्र (scope) पर प्रकाश डालता है, जिसमें वास्तु-विद्या का सम्बन्ध न केवल एक मात्र गृह-निर्माण, पुर-निवेश अथवा मन्दिर तथा प्रतिमा आदि के निर्माण तक ही सीमित है वरन् सम्पूर्ण विश्व का निवेश वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला का विषय है—यह सिद्ध होता है।

तीसरे अध्याय (प्रश्न) मे वास्तु-विद्या के प्रायः सम्पूर्ण विषयो पर प्रश्न किये गये हैं। उनका उत्तर ही आगे के अध्यायो में समराङ्गण की व्यापक वास्तु-विद्या है इन प्रश्नों की विस्तृत रूपरेखा आगे के अध्याय (वास्तु-विषय एवं विस्तार) मे द्रष्टव्य है। 'महदादि सर्ग' नामक चौथे अध्याय में सृष्टि-वर्णन है जिससे आधेय वास्तु के लिये आधार जगत् का ज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। 'भुवनकोश' नामक पाँचवे अध्याय मे जगत् का भूगोल-वर्णन है। साथ ही साथ सूर्य इत्यादि ग्रहो की स्थितियो एवं गतियो का वर्णन किया गया है। 'सहदेवाधिकार' नामक छठे अध्याय मे देवो एवं मर्त्यों के पार्थक्य की करुण कथा मे भूतल पर भवन-जन्म की कहानी वर्णित है। इस कहानी का संक्षेप 'भवन-पटल' मे द्रष्टव्य है। 'वर्णाश्रम-प्रविभाग' नामक सातवें अध्याय मे वर्णाश्रम-व्यवस्था का निरूपण इस दृष्टिकोण से किया गया है कि मानव के कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्यो तथा अधिकारो का सम्यक् पालन एवं प्राप्ति बिना स्थानादि-निवेशन (पुर, ग्राम, खेट आदि) के सम्भव नही और न जीविकोपार्जन के साधन ही सुलभ हो सकते हैं। अतः सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मानवो की तीन मौलिक आवश्यक्ताओं—भोजन, वस्त्र एवं वास—का पारस्परिक अन्योन्याश्रय सुतराम् सिद्ध है। मानवता एवं मानव-सभ्यता की कहानी वस्तुतः भोजन-भजन, आचार-विचार, वास एवं परिधान की कहानी है।

पीछे 'विषय-प्रवेश' मे समराङ्गण की नवीन विषयानुक्रमणी दी जा चुकी है। उसके प्रयोजन पर भी सकेत किया जा चुका है। अतः तदनुरूप समराङ्गण के ४४वें और ४५वे अध्यायो (स्थपति एवं स्थापत्य) के विषय किसी भी वास्तु-विवेचन मे वास्तु-शास्त्र का प्रारम्भिक कलेवर निर्माण करते हैं। अतएव प्रथम ७ अध्यायों के साथ-साथ उनको भी वास्तु-विद्या के औपोद्घातिक विषयो मे सम्मिलित किया गया है। इन अध्यायों में स्थपति एव स्थापत्य-विषयक बड़ा ही महत्वपूर्ण विवेचन है जो 'स्थपति एव स्थापत्य' नामक आगे के अध्याय मे सविस्तर प्रतिपादित है।

पुर-निवेश

प्रारम्भिक विषयों की इस रूप-रेखा के अनन्तर "पुर-निवेश" मे आवश्यक विभिन्न सिद्धातों एवं प्रारम्भिक उपादानों तथा कर्मों से सम्बन्धित लगभग ९ अध्याय हैं—नवीन १० मे १८ तथा मौलिक ८,९,११ से १४ तथा ३८ पुन. १८ तथा अन्तिम १०।

'भूमि-परीक्षा' नामक ८ वें अध्याय में सर्वप्रथम देश-भूमि पर विचार किया गया है। उनके ३ प्रधान तथा १६ गौण भेद किये गये हैं (देखिये 'पुर-निवेश') इसके अनन्तर पुर, दुर्ग आदि के निवेश के लिये उपयुक्त भूमियों का वर्णन है। भूमि-विज्ञान के अनुरूप, भूमि-चयन के सम्बन्ध मे वर्णानुकूल—वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि गुणो के आधार पर—भूमि-विभाजन किया गया है। कौन-कौन सी भूमियाँ वर्ज्य हैं उनका भी अविकल निर्देश किया गया है। अन्त में भू-परीक्षा की कुछ विधियाँ भी बतलाई गई हैं। उदाहरणस्वरूप यहाँ पर एक विधि का उल्लेख किया जाता है। गड्ढा खोदकर उसमे पानी भर दे। फिर१००कदम चले। लौटने पर यदि जल पूरा का पूरा मिले तो ऐसी भूमि अत्युत्तम समझे। यदि पानी थोड़ा ही कम हुआ हो तो मध्यम श्रेणी की और यदि बहुत कम हो गया हो तो निम्न श्रेणी की समझनी चाहिए।

'हस्त-लक्षण' नामक नवें अध्याय में मानयोजना का प्रतिपादन किया गया है (देखिये 'मानयोजना' अ ७)।'पुर-निवेश' नामक १०वें अध्याय की विषय-सूचना के पूर्व ही पुर-निवेश की प्रथम प्रक्रिया.पदविन्यास (साइटप्लान्स के रेखाचित्र) की सूचना प्राथमिकी निर्विवाद है। अतः ११ से १४ तथा ३८ वें अध्यायों मे प्रतिपादित विभिन्न कोटिक वास्तु-विन्यासो यथा एकाशीतिपदिक (८१ पदवाला प्लाट) चतुष्षष्टि-पदिक (६४ पदवाला प्लाट) तथा शतपद-वास्तु (१०० पदवाला प्लाट) आदि के साथ-साथ, 'वास्तु-संस्थान-मातृका' नामक ३८ वे अध्याय मे जाति एवं वर्ण के अनुरूप विभिन्न वर्गों के मनुष्यों के लिये उचित ४० क्षेत्र-संस्थानो की संज्ञाओं एवं विनियोग पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के पद-विन्यासों की समीक्षा 'पुर-निवेश' के पटल मे द्रष्टव्य है। यहा पर पूर्वोक्त ४० क्षेत्रो का संकेत आवश्यक है।

क्षेत्र		क्षेत्रवासी
१—चतुरश्र	आकृति	१—राजा
२—सम	,,	२—अन्त.पुर
३—मान्ति अथवा शय्यागार	,,	३—पुरोहित
४—दीर्घ	,,	४—राजकुमार

५—वृत्तायत	आकृति	५—सेनापति
६—शम्बुक	,,	६—वाहन
७—शकट	,,	७—वैश्य
८—अक्ष	,,	८— ?
९—भग	,,	९—वेश्यायें
१०—दर्पण	,,	१०—स्वर्णकार
११—वज्र	,,	११—नगर-गोष्ठिक
१२—कंथा	,,	१२— ?
१३—छिन्नकर्ण	,,	१३—महामात्र
१४—विकर्ण	,,	१४—मृगलुब्धक (बहेलिये)
१५—रांलाभ	,,	१५—काने
१६—क्षुरसन्निभ	,,	१६—गणाचार्य
१७—शवत्यानन	,,	१७—व्रजाध्यक्ष
१८—कूर्मपृष्ठ	,,	१८—माली
१९—सदंश	,,	१९—दर्जी
२०—व्यजन	,,	२०—घुड़सवार तथा सईस
२१—शराव	,,	२१—बढ़ई
२२—स्वस्तिक	,,	२२—वन्दिजन तथा मागधगण
२३—मृदंग तथा पणव	,,	२३—वेणु, तूर्य (तुरही) आदि बजाने वाले
२४—विशर्कर	,,	२४—रथ-वाहक
२५—कबन्ध	,,	२५—नीच और चाण्डाल
२६—यवमध्यसम	,,	२६—धान्यजीवी (किसान)
२७—उत्संग	,,	२७—श्रमण (जैन साधु)
२८—गजदंत	,,	२८—हस्त्यारोही (पीलवान)
२९—परशु	,,	२९—कैदी
३०—विस्तावित	,,	३०—सुराकार (कलवार)
३१—श्वभ्र	,,	३१—मजदूर
३२—युगल	,,	३२—नाई
३३—विवाहिक	,,	३३—कोपरक्षक
३४—त्रिकुष्ट }	,,	३४—अग्नि-जीवी (भुजवा)
३५—पञ्चकुष्ट }		३५— ,, ,,
३६—परिच्छिन्न	,,	३६—मानोपजीवी
३७—दिक्स्वस्तिक	,,	३७—चैत्य एवं ग्राम-भवन
३८—श्रीवृक्ष }	,,	३८—वृक्ष (उद्यान आदि) तथा यज्ञवाट
३९—वर्धमान }		३९— ,, ,, ,,
४०—एणीपद	,,	४०—गणिकायें
४१—नगपद	,,	४१—चोर

'नगरादि-संज्ञा' नामक १८वें अध्याय में नगर की पर्याय एवं प्रकार-बोधक विभिन्न नगर-संज्ञाओं का उल्लेख करते हुये इस अध्याय में विशेषकर भवन-वास्तु-गत विभिन्न अवयवों की परिभाषायें दी गई हैं। इस अध्याय से स्पष्ट है कि भारतीय भवन-निर्माण-कला का सर्वतोमुखी विकास मध्यकाल तक सम्पन्न हो चुका था। इन विभिन्न भवन-निर्माण-कला के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या एवं चित्रण की ओर लेखक ने अपने 'समराङ्गण वास्तु-कोष' (अप्रकाशित) में प्रयत्न किया है। उसकी एक अति सूक्ष्म रूपरेखा (आउटलाइन) इस ग्रंथ के अंत में एक परिशिष्ट में दी गई है।

'पुर निवेश' नामक समराङ्गण के दशम अध्याय की—जो नवीन विषयानुक्रमणी में पुरनिवेश सम्बन्धी अन्तिम अध्याय परिकल्पित किया गया है—सामग्री का सविस्तर उपयोग 'पुरनिवेश' पटल में द्रष्टव्य है। इस अध्याय में, परम्परागत पुरनिवेश-प्रणाली, पद-चयन, पद विन्यास, मार्ग विनिवेश, परिखा एवं वप्र सहित, प्राकारविधान, गोपुरविधान, रथ्या एवं प्रतोली-विन्यास, जाति-वर्णाधिवास, जनावास, राज-हर्म्य, सभा तथा अन्यान्य साधारण भवनों के साथ-साथ, देवतायतन-प्रतिष्ठा एवं विनियोग आदि आदि का पूर्णरूप से प्रतिपादन तो है ही साथ ही साथ इस ग्रन्थ की कुछ विशेष उद्भावनायें भी हैं जो अन्यत्र दुष्प्राप्य हैं—जैसे उद्यान-विन्यास। यह उद्यान-विन्यास ही आधुनिक न र-निवेश-पद्धति का सर्वस्व माना जाता है। इसी प्रकार की कुछ और भी उद्भावनायें हैं जिनकी हम आगे (पु नि. में) समीक्षा करेंगे।

समराङ्गण की वास्तु-विद्या के औपोद्घातिक एवं पुरनिवेश के विषयों की इस अति संक्षिप्त समीक्षा के पश्चात् अब भवन-निर्माण-कला (जिसका सविस्तर वर्णन आगे 'भवन' पटल में है) से सम्बन्धित अध्यायों एवं विषयों पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

भवन-निवेश

भवन-कला पर इस ग्रंथ में लगभग ३० अध्याय हैं, (देखिये स. सू. की सुसम्बद्धा विषयानुक्रमणी) जिनमें भवनकला के प्रारम्भिक अनुष्ठान, राजवेश्म, जनावास, भवनाग, द्रव्य-योजना तथा चुनाई एवं भवन-भूषा के साथ-साथ भवन-दोष, वेध एवं भंग आदि प्रधान विषयों का प्रतिपादन है।

भवन-कला के औपोद्घातिक विषयों में 'आयादि-निर्णय' नामक ग्रन्थ के २६वें अध्याय में ज्योतिष-विज्ञान से सम्बन्धित तिथियों, ताराओं एवं वारों का विवेचन है। किन-किन मासों में, किन-किन तिथियों में और किन-किन दिवसों पर भवन-कार्य प्रारम्भ करना चाहिये—इन सभी प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में मिलेगा। आयादि-निर्णय वास्तु-शास्त्र का एक महत्वपूर्ण, अनिवार्य एवं पारिभाषिक विषय है। वास्तु विद्या के आधारभूत सिद्धान्तों की समीक्षा में इस तथ्य पर संकेत किया जा चुका है कि भारतीय वास्तु विद्या का जन्म धार्मिक संस्कारों के क्रोड से हुआ। वास्तु विद्या और ज्योतिष के घनिष्ठ सम्बन्ध को सभी जानते हैं। ज्योतिष एक वेदाङ्ग है (षडङ्गों में एक है)। इसी आधारभूत सिद्धान्त के अनुरूप समराङ्गण ने इस अध्याय की अवतारणा की है। आगे के अध्ययों में इस अध्याय की प्रभूत सामग्री का थोड़ा ही उपयोग किया गया है। अत. इसकी कुछ विशेष चर्चा यहाँ पर असंगत न होगी।

आयादि-निर्णय इस पद से आय, व्यय, अंश, रिक्षा (नक्षत्र) योनि तथा वार-तिथि का बोध समझना चाहिये। वास्तु-शास्त्रियों की धारणा है कि इस षट्क का भवन-रचना से अनिवार्य सम्बन्ध है। भवन के मुख्य अवयवों—प्रमाण, भवनाग (अधिष्ठान, पाद अथवा स्तम्भ, प्रस्तर, कर्ण, शिखर तथा स्तूपी) का समन्वय इस आयादि षट्क से सम्पादित करना चाहिये। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इस षट्क को भिन्न-भिन्न रूप से प्रकल्पित किया गया है।

समराङ्गण-सूत्रधार में आयादि षट्क-समूह से आय, व्यय, तारा योनि, भवनांशक एवं भवननाम का बोध होता है। समराङ्गण ने इसकी संज्ञा 'षट्करण' भी दी है।

आय, व्यय आदि कैसे निकालना चाहिये—यह समझ लेना चाहिये।

आय—चारो ओर नींव की भूमि (दीवाल) को छोड़कर मध्य की लम्बी और चौड़ी भूमि को गृह-स्वामी के हाथ से नापना चाहिये जो क्षेत्रफल (लम्बाई×चौड़ाई) आये उसमें आठ से भाग देने पर जो शेष बचे वह ध्वज आदि आय हैं। इनकी क्रमशः पूर्वादि दिशा से गणना होती है जो निम्न चक्र से स्पष्ट है:—

आय-चक्र

संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
आय	ध्वज	धूम्र	सिंह	श्वान	वृष	खर	गज	ध्वाङ्क्ष
दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान

व्यय—घर के नक्षत्र की संख्या को आठ से भाग देने पर जो शेष रहे वह व्यय समझना चाहिये। आय की संख्या से व्यय की संख्या न्यून, अधिक तथा सम होने पर क्रमशः 'यक्ष' 'राक्षस' तथा 'पिशाच' व्यय निकलते हैं। इनमें प्रथम प्रशस्त द्वितीय अप्रशस्त तथा तृतीय मध्यम फलदायक हैं।

अंश—घर के क्षेत्र-फल की संख्या, घर के नाम की अक्षर-संख्या तथा व्यय-संख्या इन तीनों को जोड़कर तीन से भाग देने पर जो शेष रहे वह "अंश" है। एक शेष से "इन्द्र", दो शेष से "यम" तथा शून्य शेष से "राजा" अंश निकलते हैं।

तारा—घर के नक्षत्र से घर के स्वामी के नक्षत्र तक गिनना चाहिये। जो संख्या आये उसको ९ मे भाग देना चाहिये। जो शेष रहे वह "तारा" समझना चाहिये। इन ताराओं में छठी, चौथी और नवीं शुभ, पहली दूसरी और आठवीं मध्यम तथा तीसरी, पाचवीं और सातवीं अधम हैं।

नक्षत्र—घर के क्षेत्रफल को ८ से गुणा करके जो गुणनफल हो उसमें २७ के भाग देने से शेष नक्षत्र समझना चाहिये।

राशि—घर के नक्षत्र को ४ से गुणा करके गुणन-फल मे ६ से भाग देने पर घर की भुक्त राशि आती है। गृह एवं गृहस्वामी की राशि यदि परस्पर छठी और आठवीं या दूसरी और बारहवीं हों तो अशुभ समझना चाहिये।

आय व्यय-गणना के सम्बन्ध मे विश्वकर्म-प्रकाश का मत है कि जिस घर की लम्बाई ३२ हाथ (४८ फीट) मे अधिक है तो आयादि-विचार अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार जीर्ण-भवनों के उद्धार मे भी आयादि विचार आवश्यक नहीं। ज्योतिष-शास्त्रीय आयादि विचार वास्तु-विद्या मे क्यों चरितार्थ है—इस पर इतना तो संकेत पर्याप्त है कि जिस प्रकार वर-वधू के सुन्दर दाम्पत्य के लिये हम ग्रहों आदि का विचार करते हैं उसी प्रकार गृह एवं गृहस्वामी के सुखद एवं ऐश्वर्यपूर्ण चिर-सम्बन्ध के लिये भी इसकी अपेक्षा मानी गयी है।

आय, व्यय, तारा, तथा अंशक आदि की निम्न तालिका द्रष्टव्य है:—

आय	व्यय	अंश
१. ध्वज	१. पिशाच	१. इन्द्र
२. धूम	२ राक्षस	२ यम
३ सिंह	३. यक्ष	३. राजा
४. श्वा		
५. वृष		
६. खर		
७. कुञ्जर		
८. ध्वाङ्क्ष		

तारा

सुरगण	राक्षसगण	मनुष्यगण
१ मृगशिरा	१. विशाखा	१. आर्द्रा
२. अश्विनी	२. कृत्तिका	२ भरणी
३. रेवती	३. आश्लेषा	३. रोहिणी
४. स्वाति	४. नैर्ऋत	४ शतभिषा
५. मैत्र	५. वारुण	५. अनुराधा
६. पुष्य	६. मघा	६. मूल
७. पुनर्वसु	७. चित्रा	७. पूर्वाषाढा
८ हस्त	८ ज्येष्ठा	८. उत्तराषाढ़ा
९. श्रवण	९. धनिष्ठा	९. पूर्वाभाद्रपदा

आयों के सम्बन्ध मे इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये सभी आय प्रशस्त नहीं हैं। ध्वज, सिंह, वृष एवं गज प्रशस्त हैं, अन्य अशुभ हैं। परन्तु अधमों के लिये खर, ध्वांक्ष, धूम और श्वा—ये आय शुभ हैं। अथच धूम अग्निजीवियों के लिये, ध्वांक्ष संन्यासियों के लिये तथा श्वगण, श्वपाक, नटी, नर्तकों एवं वेश्याओं, कुम्हारों, धोबियों तथा गर्दभ-जीवियों के लिये खर शुभ है। पता नहीं इन निम्नकोटियों में संन्यासियों को क्यों घसीट लाया गया है। किस २ रचना में किस २ आय का विनियोग करना चाहिये इसका

सविस्तर वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर इन षट्करणों की योजना के सम्बन्ध में कौन सी योजना शुभ है और कौन सी अशुभ—इसका भी प्रतिपादन किया गया है। अन्त में निम्नलिखित ६ छन्दो का विवेचन है जो वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से विशेष ज्ञातव्य हैं:—

१. मेरु	३. पताका	६. उद्दिष्ट एवं
२ खण्ड-मेरु	४. सूचिका	६. नष्ट

इन छन्दो के द्वारा भवनांगो की संख्या का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किस भवन मे कितनी शालायें, कितने अलिन्द तथा कितनी मूषायें योजित करना शुभ है अथवा अशुभ—यह सब विचार इन छन्दो का विषय है। गृह-प्रस्तार के गुरु और लघु का मर्म भी इन छन्दो मे छिपा है।

'आयादि-निर्णय' के उपरात भवन-रचना के प्रारंभिक उपादानो मे बलिदान का अवसर आता है। ग्रन्थ के ३६वें अध्याय मे इस बलिदान-विधि का सविस्तर वर्णन किया गया है। यह परम्परागत प्रथा आज भी वर्तमान है, अतः विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इसमे मंडलकरण, कलश स्थापन, वास्तु-देवता-कल्पन, तथा अर्घ्य निवेदन के साथ-साथ विश्वकर्मा आदि ३५ वास्तु-देवों की किस-किस सामग्री से पूजा करनी चाहिये और बलि चढ़ाना चाहिये—इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया गया है। अन्त मे (स. सू. अ. ३६. २७—२८) शान्तिक एवं बलिकर्म के उचित कौन-कौन से विशेष वास्तुकृत्य हैं, इनका उल्लेख किया गया है। भूमि-शोधन, भूमि-कर्षण, भूमि-साधन, भूमि-रूप-कल्पन, गृह-प्रवेश, स्कन्धावार-निवेश, पुर-निवेश, ग्राम-निवेश, देवालय-निवेश, राजवेश्म-निवेश, आदि के अवसर पर बलिदान वास्तु का एक धार्मिक कृत्य है।

'वेदिलक्षण' नामक ग्रंथ के ४७वें अध्याय मे विविध वेदियो की वास्तुकला पर विचार किया गया है जिसकी समीक्षा आगे के 'स्थपति एवं स्थापत्य' नामक अध्याय मे की गई है अतः यह वहीं द्रष्टव्य है।

'इन्द्रध्वज-निरूपण' नामक ग्रंथ के १७ वे अध्याय मे शक्रध्वजोत्थान का क्या मर्म है—यह भी उपर्युक्त 'स्थपति एवं स्थापत्य' मे द्रष्टव्य है।

'शिलान्यास-विधि' नामक ३५ वें अध्याय मे सर्वप्रथम शिलान्यास के शुभ मुहूर्त का प्रवचन है। सूर्य के उत्तरायण होने पर, शुक्ल पक्ष मे, शुभ दिन (करण एवं गुण से युक्त शुभ नक्षत्र मे) शिलान्यास का विधान बताया गया है। सौम्य-प्रकृति, शास्त्रज्ञ, पवित्र, स्नात तथा देवार्चनकृत, स्थपति शिलान्यास का प्रारम्भ करता है। प्रथम शिला की पूर्ण परीक्षा होनी चाहिये। वह 'पूर्णा, समा, अविकला, चतुरश्रा (चौकोर') तथा सब प्रकार से शुभ होनी चाहिये। इस परीक्षण के उपरान्त 'चेय' प्रारम्भ करना चाहिये। इसी प्रकार के और विवरण भी दिये गये है, जैसे कौन-कौन सी शिलायें शुभ है और कौन सी वर्ज्य हैं—बहुत बड़ी, बहुत छोटी, दिङ्मूढ़ा, अङ्गहीना, कंकरीली, टूटी, कम-पकी, फटी, काली आदि। 'नन्दा,' 'भद्रा,' 'जया' और 'पूर्णा'—ये चार प्राथमिकी शिलाये। (आद्येष्टकायें) जानं

की वास्तु-कला तथा दो प्रधान वर्ग—निवास-भवन एवं विलाश-भवन—के १५ निदर्शन प्रतिपादित हैं। 'गजशाला' नामक ३२वें तथा 'अश्वशाला, नामक ३३वें 'सभाष्टक' नामक २७वे, अध्याय मे प्रतिपादित सामग्री का विवेचन भ० प० के अध्यायो में द्रष्टव्य है। उसकी यहाँ पर पुनरावृत्ति ठीक नहीं।

अब 'आयतन' नामक ५१वें अध्याय की विशेष समीक्षा आवश्यक है। 'आयतन' का प्रयोग वैसे तो सासारिक भवनों के लिये भी देखा जाता है परन्तु यहाँ पर आयतन का अर्थ देवायतन से ही लेना चाहिये। इस अध्याय की सामग्री से लेखक के इस दृष्टि- कोण का आशिक समर्थन प्राप्त होता है। अतः 'आयतन-निवेश' मे राजा के बन्धु बान्धावो एवं रानियो, बहनों, मातुलों एवं कुमारों के साथ-साथ मन्त्री, सेनानी, प्रतीहार, पुरोहित सामन्त, कुञ्जरारोह (हस्तिपक-पीलवान), मटो एव पौरजनो के प्रासादों का निवेश प्रतिपादित है—ऐसा इस ग्रंथ के संपादक गणपति शास्त्री जी ने स सू की विषयानुक्रमणिका मे दिखलाया है। परन्तु ग्रंथ के कुछ प्रवचनो से इस दृष्टिकोण मे कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है। 'प्रासाद' शब्द वैसे तो राजाओ और देवों दोनो के भवनो के लिये प्रयुक्त हुआ है, परन्तु स सू. मे प्रासाद का पारिभाषिक प्रयोग देवमन्दिर के लिये है। अतः उपर्युक्त विभिन्न राजानुजीवियों एवं राजपरिवार के सदस्यों के प्रासादों और अध्याय निर्दिष्ट आयतन इन दोनों की संगति कैसी ? पुनः स. सू. इस अध्याय के अन्तिम श्लोक मे स्पष्ट कहता है—

"इति कथितदिगादिभेदयोगै. सुरभवनानि भवन्ति यस्य राज. ।
अविरतमुदितोदितप्रतापः स्वभुजजिता स चिरंप्रशास्ति पृथ्वीम् ॥"

यहाँ पर इन प्रासादों की सूचना सुर-भवनो से दी गई है। अतः लेखक के मत मे आयतन का अर्थ छोटे मन्दिरो से है। बडे-बडे प्रसादों (देव-मंदिरों) का निर्माण अधीश्वरों के द्वारा ही सम्पन्न होता था। अपूर्त की धार्मिक सिद्धि के लिये ही वापी, कूप, तड़ाग एवं देवतायतनो की निर्माण-परम्परा इस देश मे पल्लवित हुई—इस तथ्य की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। अतः प्रासाद की विपुल एवं विस्तृत परिधि (क्षेत्र) मे ही यदि राजानुजीवी एवं राजपरिवार के सदस्य अपनी भक्ति के अनुसार देवायतन निर्माण कराना चाहते हैं तो उन्हीं की मान-व्यवस्था, द्रव्य व्यवस्था वास्तु-व्यवस्था एवं भूषा-व्यवस्था के वास्तु-शास्त्रीय नियमो का यहाँ पर प्रतिपादन है। इस सम्बन्ध मे ग्रंथ का यह सुझाव है कि भूमिपाल के प्रासाद की रचना से इन आयतनो की रचना उत्कृष्ट नहीं होनी चाहिये। संस्थान, मान, विस्तार तथा उच्छ्रय (ऊँचाई) मे राज-प्रासाद से इन आयतनो को थोड़ा अवश्य हीन होना चाहिये (स. सू. ५१ १७ १६)।

भवनविद्या के दो प्रधान विषयों—प्रारम्भिक कृत्य एवं राज-भवन—की समीक्षा के उपरात जनभवनो की विन्यास-प्रक्रिया एवं विभिन्न भवन-समूहों की संक्षिप्त समीक्षा का अवसर आता है। इन जन-भवनो को शाला की संज्ञा दी गई है। शालाओं की संख्या के अनुसार इनके दस प्रधान वर्ग प्रकल्पित किये गये हैं—एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल, चतुश्शाल, पञ्चशाल, षट्शाल, सप्तशाल, अष्टशाल, नवशाल तथा दशशाल। ये भेद उपलक्षण-मात्र हैं। प्राय जनावासों मे चतुश्शाल ही सर्व-साधारण एवं सनातन से प्रसिद्ध

भारत का जन-भवन है। मृच्छकटिक नाटक से चतुश्शाल की इस प्राचीन परम्परा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

शाल-भवनों की सविस्तर समीक्षा—जन्म, विकास, विभिन्न वर्ग आदि आदि—आगे के 'भवन' पटल में द्रष्टव्य हैं। यहां इतना ही संकेत आवश्यक है कि इन शाल-भवनों पर समराङ्गण में सात अध्याय हैं। २३वें अध्याय में एकशाल, २२वें में द्विशाल, २१वें में त्रिशाल, १६वें में चतुश्शाल, २५वें में पञ्चशाल से लगाकर दशशाल भवनों का वर्णन है। २०वें एवं २४वें अध्यायों (निम्नोच्चादिफल तथा द्वार-पीठ-भित्तिमानादि) में शाल-भवनों के विशिष्ट भेदों के उल्लेख के साथ भवन-निवेश के अन्य विभिन्न आवश्यकीय कार्यों पर प्रवचन हैं। इन सभी विषयों की सविस्तर समालोचना 'भवन' पटल में इतस्ततः फैली हुई है विशेषकर "भवन-रचना के उपनियम" (बिल्डिंग बाईलाज) विशेष स्मरणीय हैं। स. सू. के भवन-वास्तु के इन तीन प्रधान विषयों के उपरांत क्रम-प्राप्त भवनद्रव्य, भवनाङ्ग, चुनाई (चेय) तथा भवन-भूषा—इन विषयों पर ५ अध्यायों की सामग्री का अवलोकन करना है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में भवन निर्माण में काष्ठ का बहुल प्रयोग होता था। छतों में लकड़ी की धन्नियाँ पड़ती थीं। लकड़ी के नक्काशीदार खम्भे होते थे। आज भी ग्रामीण भवनों की यही कहानी है। इसका प्रधान कारण काष्ठकी सुखोपलब्धि के साथ-साथ इस देश में बहुत काल तक हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि पाषाण का प्रयोग जनावास (सेक्युलर बिल्डिंग) में वर्ज्य है। कामिकागम का यह प्रवचन "शिलास्तम्भं शिलाकुड्यं नरावासे न कारयेत्" इस तथ्य का समर्थक है। अतः भवन-द्रव्य के ऊपर समराङ्गण में केवल 'वन-प्रवेश' नामक १६वां अध्याय ही है। इस अध्याय में वन-प्रस्थान के शुभ मुहूर्त, वृक्ष-परीक्षण, वृक्षों का वय, भवनो-चित वृक्ष, भवन के वर्ज्य वृक्ष, वृक्षप्रमाण, वृक्ष-च्छेदन-विधि, वृक्षपात के शुभाशुभ लक्षण, वृक्षगर्भित जन्तु-विशेषों के परिज्ञान-सूचक मण्डलों एवं एतत्सम्बंधी अन्य विवरण भरे पड़े हैं। भ० प० के 'भवन-द्रव्य' अध्याय में इन सबकी सविस्तर चर्चा है।

'गृह-द्रव्य-प्रमाण' नामक २८वें अध्याय में भवनाङ्गों की चर्चा है। द्वारप्रमाण, द्वार-शाखाओं (डोर फ्रेम्स) तल की ऊँचाई, शाला का प्रमाण, तल की न्यास-विधि के साथ साथ भवनाङ्गों के सर्वप्रमुख अंग स्तम्भ पर विशेष विवेचना की गई है। चौकोर, गोल, अष्टकोण तथा षोडशाश्रि (१६ कोनोंवाला) विभिन्न प्रकार के स्तम्भों के साथ-साथ उनकी रचना के विच्छित्तियों (मोल्डिङ्ग्स) जो कि एक दर्जन के करीब हैं उन सब की चर्चा है। इसके उपरांत भवन के अन्य अंगों का भी विवेचन है—जैसे ४ प्रकार की छतें—भूत, तिलक आदि। अन्त में सिंहकर्ण आदि रचना-विशेषों का भवन में वर्जन बताया गया है। इस सामग्री की समीक्षा भ. प. के 'स्तम्भ' एवं 'द्वार' अध्यायों में की गई है। 'द्वार गुण दोष' नामक ३६ वें अध्याय की सामग्री की यहाँ पर पुनरावृत्ति न कर 'द्वार' अध्याय में ही द्वारसम्बन्धी विभिन्न वास्तु-सिद्धांतों के विवेचन के साथ द्वारवेध पर भी प्रकाश डाला गया है।

'चयविधि' नामक ४१वें अध्याय में राजगीरी के परम कौशल चुनाई के मर्म का बड़ा सुन्दर समुद्घाटन किया गया है। चुनाई के जिन बीस गुणों की तालिका इस ग्रन्थ ने दी है

यह किसी भी वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं मिलती। यही नहीं आधुनिक विकसित वास्तु-कला में भी चुनाई के इतने मार्मिक गुणों का शायद ही समुल्लेख मिल सके। चुनाई के गुणों के साथ चुनाई की प्रक्रिया तथा उसमें सहायक अन्य साधनों पर भी सुन्दर विवेचन है। भ. प. के 'चयविधि' नामक अध्याय में इन सिद्धांतों के विस्तृत विवरण दिये गये हैं। खराव-चुनाई के कतिपय पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा के साथ चय-दोषों का भी वर्णन है।

'अप्रयोज्य-प्रयोज्य' नामक ३४वें अध्याय में भवनों में किन-किन चित्रों अथवा मूर्तियों की योजना करनी चाहिये और किन की नहीं, इस सामग्री का भी पूर्ण उपयोग भ० प० में अवलोकनीय है। यह किसी से छिपा नहीं है कि इस देश में भवन-भूषा के बहुल उपकरणों की एक अति पुरातन परम्परा है। इस परम्परा में मनोवैज्ञानिक रहस्य भी निहित है। विघ्नहारी गणपति गणेश की प्रतिमा से अलंकृत द्वार आज भी देखे जाते हैं। समराङ्गण एक हाथ के प्रमाण की इष्टदेवता अथवा कुलदेवता, प्रतीहार, प्रतीहारिया, अष्टमंगला गौरी, पद्मासना लक्ष्मी, सवत्सा धेनु, पत्रजातिया, लतायें, हंस, सारस, कमलिनी, विटप, उद्यान-भूमियाँ, ऋतु, जलाशय, शुक-सारिकायें आदि पक्षी भवन में प्रयोज्य माने गये हैं। अप्रयोज्यों में दैत्य, ग्रह, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पितर, प्रेत आदि, दोला-क्रीड़ायें, पीड़ित, देवासुर-संग्राम, राजयुद्ध, मृगया, रौद्र, करुण, अद्भुत आदि रस, हस्तियान, अश्वयान, रथयान, विमान, अनल-प्रदीप्त-भवन, अथवा वन; पुष्प-फल-विहीन वृक्ष, गृध्र, उलूक आदि पक्षी, गज, अश्व, महिष, उष्ट्र, मार्जार, खर, वानर, सिंह, व्याघ्र तरक्षु, वराह, मृग, जम्बुक आदि पशु उल्लिखित हैं।

भवन के प्रमुख पाँच विषयों—प्रारम्भिक वास्तु-कार्य एवं कर्मकाण्ड, राज-भवन, जन-भवन, भवन-द्रव्य-चय भूषा तथा दोषादि में प्रथम चार की इस स्थूल समीक्षा के उपरांत भवन-दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। भवन-दोषों में निवेश आदि द्रव्य-संयोजनादि संस्थान, मान एवं चय आदि के नियमों के उल्लंघन से जो दोष आपतित होते हैं वे तो सहज ही बोधगम्य हैं। परन्तु भवन-वेध, भवन अथवा भवनाङ्ग-भङ्ग का क्या रहस्य है—यह समझना आवश्यक है। इस विषय की विस्तृत समीक्षा भ० प० के 'भवन दोष' के अध्याय में की गयी है। यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि समरांगण का यह विषय-विवेचन भी प्रौढ एवं सर्वाङ्गीण तथा समृद्ध है। ऐसी सामग्री किसी भी वास्तु-ग्रन्थ में अप्राप्य है।

इन विषयों पर ग्रंथ में 'द्वार-भङ्ग-फल' नामक ४३वें अध्याय, 'तोरण-भंग' नामक ४६ वें अध्याय तथा 'गृह-दोष-निरूपण' नामक ४८ वें अध्याय में कोशीय सामग्री भरी है। 'द्वार-गुण-दोष' नामक ३६ वें अध्याय की समीक्षा में पीछे भवन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग- द्वार-के दोषों पर पूर्व ही संकेत हो चुका है। 'द्वार-भङ्ग-फल' की सामग्री में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि कोई भी वास्तु-कृति यदि सुन्दर न लगी, आकर्षण न प्रदान कर सकी तो उस कृति को दोष भरी ही समझना चाहिये। वास्तु-कृति की यह प्रमुख विशेषता सुन्दरता कला के एक महान तथ्य की ओर संकेत करती है। सत्य, शिवं, सुन्दरं की समन्वित प्रतिष्ठा ही तो कला का चरम ध्येय है। पुन. वास्तु कार स्थपति की कृति

भी तो कवि की कल्पनामयी कविता की भाँति, गायक के गीत की भाँति, स्वप्न-द्रष्टा के स्वर्णिम-स्वप्नों की भाँति एक अभिनव, अद्भुत एवं आह्लादकारी रसानुभूति कराती है। शुभ अर्थात् शिव की भावना में यहाँ की संस्कृति का जीवन है। शुभ और सुन्दर का परिपाक तभी परिनिष्ठित हो सकता है जब सत्य का साथ कभी न छूटे। यहाँ पर प्रकृत में सत्य का सम्बन्ध पारदर्शी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की रहस्य-विद्या के समान वास्तु-शास्त्र के नियमों का सम्यक् पालन है। संस्थान, मान, निवेश, द्रव्य-योजना, चय-विधि एवं भूषा-विधान के जो नियम निर्दिष्ट हैं उनका अपालन अथवा अर्धपालन, दोषों, वेधों एव भंगों को जन्म देता है। मनुष्य की बुद्धि परिमित है। गलती करना उसका स्वभाव है। अतः पूर्वजों ने शातिक-विधान की आवश्यकता समझी। दोष-शमनार्थ, एवं अशुभ-निराकरणार्थ शातिक विधान परमावश्यक है। अतएव इसी परम्परा के अनुरूप समराङ्गण में भी 'शान्तिकर्म-विधि' नामक ४२ वाँ अध्याय लिखा गया है।

वास्तु विद्या की दृष्टि से यह अध्याय बडे महत्व का है। वैसे तो इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय भंगादि दोषों के शमनार्थ शातिक है, परन्तु भवन के अंगों (विशेषकर गृहदारु) के भग-निर्देश एवं शातिक-प्रवचन में अनायास ही वास्तु-कला की बड़ी सामग्री—परिभाषिक पदावली—हाथ लगती है। इसका उपयोग 'समराङ्गणीय कोष की संक्षिप्त सूची' मे किया गया है।

यन्त्र-घटना—

यह संकेत किया जा चुका है कि समराङ्गण का 'यन्त्र-विधान' नामक ३१वाँ अध्याय इस ग्रन्थ की विशिपता ही नहीं वरन् एक अपूर्व देन भी है। इसके अतिरिक्त भारतीय वास्तु-कला के व्यापक एवं अति विस्तीर्ण कलेवर की भी सूचना इसमे मिलती है। इस अध्याय की पूर्ण सामग्री का इस ग्रंथ के 'यन्त्र-पटल' के ६ अध्यायों में पूर्ण उपयोग किया गया है। यन्त्र-शब्द-निर्वचन एवं उसकी परिभाषा, यन्त्र-बीज यन्त्र-गुण, यन्त्र-कार्य, यंत्रों के विभिन्न वर्ग—क्रीड़ा-यन्त्र, सेवक-यन्त्र, यान-यन्त्र, द्वारपाल-यन्त्र, योध-यन्त्र, वारि-यन्त्र, धारा-यन्त्र रथदोला-यन्त्र, एवं विमान-यन्त्र आदि आदि के साथ यन्त्र-विद्या का परम्परागत कौशल एव उसकी पुरातन परम्परा पर भी एक विहंगम दृष्टि डाली गई है। अतः यह सब वहीं पर पठनीय हैं।

भवन फर्नीचर—

'शयनासनलक्षण' नामक २६वें अध्याय में शय्या, आसन आदि काष्ठ-कला पर विवेचन है। यह विवेचन भी बड़ा ही वैज्ञानिक है। विभिन्न वर्गीय स्थपतियों में भवन (पुर, प्रसाद तथा राजहर्म्य) निर्माता स्थपति, एवं प्रतिमा-निर्माता, पाषाण-कला-कोविद का कौशल ही वास्तु-कला नहीं है, तक्षक की काष्ठ-कला का भी उसमें महत्वपूर्ण स्थान है।

शय्या का निर्माण किन-किन वृक्षों की लकड़ी से शुभ माना गया है? उसकी कितनी ऊँचाई होनी चाहिये? शय्या के प्रयोग करने वाले विभिन्न वर्गीय पुरुषों की प्रतिष्ठा के अनुरूप उसकी कौन कौन सी मान-योजना होनी चाहिये? उसके विभिन्न अंगों के क्या

परिमाण हैं ?—आदि आदि पर विशेष विचार किया गया है। राजा की शय्या का प्रमाण उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ प्रभेद से १०८ अंगुल (६ फीट), १०४ अंगुल तथा १०० अंगुल होना चाहिये। इसी प्रकार कुमारो, सेनानियो, पुरोहितों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रो की शय्याओ के परिमाण का उल्लेख है। यह समझ में नहीं आता कि शूद्र-शय्या ६४ अंगुल की क्यो प्रतिपादित की गई है? यह तो ४ फीट भी लम्बी नहीं होती (१८ अंगुल = १ फीट)। सम्भवतः शूद्रो के लिये यह हीन परिमाण इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि योगियो के लिये भी अगम्य सेवा-धर्म वाले शूद्र-सेवको के लिये शुभ शय्या समीचीन नहीं है। शय्या के सम्बन्ध मे एक दो तथ्यों का और निर्देश करना यहाँ अप्रासगिक न होगा। एक-द्रव्यजा (एक ही किस्म की लकड़ी से निर्मित) ही उत्तम मानी गई है। द्विदारु-घटिता शय्या अशुभ है और त्रिदारु-घटिता शय्या में स्वामी का मरण नियत है (२९.२३)। शय्या की लकड़ी मे छिद्र नहीं होने चाहिये। षट्-विध छिद्रों (निष्कुट, कोलटक्, क्रोडनयन वत्स-नाभक, कालक, बन्धक) के वर्णन से तत्कालीन काष्ठ-कला के समुन्नत एवं वैज्ञानिक रूप के दर्शन हाते हैं। शय्या की भूषा आदि पर भी प्रवचन हैं। स्वर्ण, रूप्य (रजत), गजदन्त (हाथी दाँत) अथवा आरकूट से शय्या के अंगो को नद्ध रना चाहियें। इसीप्रकार से आसन, कंकत, दर्वी और पादुका का भी वर्णन है।

प्रासाद-वास्तु—

समरागण के इन्जीनियरिंग कौशल का हम दर्शन कर चुके। विभिन्न प्रकार के पुरों एवं भवनों की निर्माण-विद्या का ज्ञानार्जन भी हम कर चुके। राजभवनों के ऐश्वर्य एवं सुषमा का भी कुछ अवलोकन हुआ। यन्त्र-विमानों पर भी हम उड़ चुके। अवसर प्राप्त होता है कि अब हम प्रासादों की पुण्यभूमि पर विचरण कर उनमें प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के दर्शन करें। ऐहिक एवं आमुष्मिक श्रेयस् के समन्वय का यही मर्म है। धर्म की इसी महाभावना से हमारी सभी विद्यायें अनुप्राणित हैं।

स० सू० के प्रासाद-वास्तु की महत्ता का साधारण संकेत किया जा चुका है। इसके सागोपाग विवेचन में इस ग्रंथ के एक बृहत् पटल का प्रणयन किया गया है। प्रासाद वास्तु का जन्म एवं विकास, निर्माण की विभिन्न परम्परायें, अथवा शैलियाँ, प्रासाद के विभिन्न वर्गादि की समीक्षा के साथ-साथ प्रासाद-निवेश के आधारभूत सिद्धान्तों—संस्थान, मान, द्रव्य, कर्तृ कारक, प्रतिष्ठापन आदि—का सविस्तर परिशीलन वहीं प्राप्त है। मध्यकालीन प्रासाद-वास्तु मे किन-किन देवों का उदय हो चुका था जिनकी प्रतिष्ठा के के लिये इन प्रासादों का निर्माण होता था, और जिनकी प्रतिष्ठा से अपूर्तसम्पादन में पूर्ण सिद्धि समझी जाती थी—इस तथ्य की ओर भी पाठको का ध्यान आकर्षित किया गया है। प्रासाद-संस्तवन (टेम्पुल डेडीकेशन) का यही मर्म है।

प्रासाद-वास्तु पर समरागण मे बीस बड़े-बड़े अध्याय हैं (देखिये स० सू० की सुसम्बद्धा विषयानुक्रमणी) जो ग्रन्थ का आधा कलेवर निर्माण करते हैं। हिन्दुओं की प्रासाद-कल्पना वास्तव में हिमालय से भी ऊँची है और सागर से भी अधिक गहरी है।

प्रासाद जगद्व्यापी विश्व-नियन्ता का प्रतीक एवं प्रतिकृति दोनों ही हैं। यही कारण है कि मध्यकालीन प्रासाद-वास्तु-परम्परा मे प्रासाद में प्रतिष्ठित केवल प्रतिमायें ही नहीं पूज्य हैं, वरन् प्रासाद स्वयं पूज्य है (देखिये प्रासाद प्रदक्षिणा के लिये प्रासादों की अन्ध-कारिकायें Circum—ambulatory-passages)। इन सभी रहस्यों के समुद्घाटन का प्रयत्न 'प्रासाद'-पटल मे किया गया है। प्रासादों के इन विभिन्न अध्यायों के संक्षेपाभाव के लिये स्थानाभाव ही कारण है।

प्रतिमा-विज्ञान—

समराङ्गण का प्रतिमा-निवेश भवन-निवेश एवं प्रासाद-निवेश के समान विस्तृत नहीं है। परन्तु फिर भी वह अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। प्रतिमा-विज्ञान के सर्वसाधारण सभी सिद्धान्तों पर विवेचन है। विशेषता इस बात की है कि इसका मुद्रा-विज्ञान नाट्य-शास्त्र की हस्त-मुद्राओं से विशेष प्रभावित है। सम्भवतः प्रतिमा-कला में भी नाट्य-कला एवं काव्य-कला के समान अभिनय की योजना से मौन देवों और देवियों को विभिन्न भाव-भङ्गियों से भूषित कर समराङ्गण ने प्रतिमा-कला में रसास्वादन की प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवों के मौन-व्याख्यान से देव-भक्तों की परम-प्रीति के लिये साधन एकत्रित कर दिये।

प्रतिमा-विज्ञान पर लिखित १४ अध्यायों की सामग्री की समीक्षा के लिये इस ग्रन्थ मे दो पटलों का प्रणयन किया गया है—'प्रतिमा-विज्ञान' तथा 'चित्रकला'।

'प्रतिमा-विज्ञान' पर इस विभाजन के अनुरूप ८ अध्याय हैं जिनके तीन प्रधान विषय हैं—प्रतिमा-लक्षण, प्रतिमा-मान तथा प्रतिमा-मुद्रा। लिङ्ग-पीठ प्रतिमा-लक्षण नामक ७० वें अध्याय मे लिङ्ग-प्रतिमाओं की रचना-पद्धति पर सांगोपांग विवरण—लिङ्गभेद, लिंग-द्रव्य, लिंग-अवयव, रेखा, आदि प्रस्तुत किये गये हैं। 'देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण' नामक ७७वें अध्याय मे विभिन्न देवों, देवियों, दिक्पालों, यक्षों, गन्धर्वों, राक्षसों आदि के प्रतिमा-लक्षण दिये गये हैं। 'प्रतिमा लक्षण' नामक ७६ वें अध्याय में प्रतिमा निर्माण के द्रव्यों (materials of icons) के विवरणों के साथ-साथ पुरुष प्रतिमा तथा स्त्री-प्रतिमा दोनों के अंगों, उपांगों—चरण-नख से शिर-केश तक—के निर्माण के विवरण दिये गये हैं।

'दोष-गुण-निरूपण' नामक ७८वें अध्याय मे प्रतिमाओं के दोषों और गुणों का बड़ा ही मार्मिक विवेचन है। इससे भारतीय स्थापत्य मूर्ति-निर्माण-कला के महान् अभ्यु-त्थान का परिचय प्राप्त होता है। प्रतिमा-विज्ञान मे मान-मर्यादा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है शास्त्रानुरूप प्रतिमा की मान-व्यवस्था एवं संस्थान व्यवस्था (विभिन्न अंगों की रचना) पर किन्हीं-किन्हीं आलोचकों ने बड़ी कटु आलोचना की है। परन्तु ग्रीक अथवा रोमन मूर्ति-निर्माता के समान भारतीय प्रतिमा-निर्माता का एक मात्र ध्येय सौन्दर्य की निष्ठा नहीं है। दर्शन एवं धर्म, संस्कृति एवं पुराण ने सदैव हिन्दू-जीवन को प्रभावित रखा। भारतीय स्थपतियों की सबसे बड़ी निष्ठा भारतीय आत्मा के अनुरूप रचना के

परम अध्यवसाय की ओर रही है। अतएव अध्यात्म से अनुप्राणित भारतीय मूर्तियों को भौतिक दृष्टि से ही देखना कहाँ तक उचित है ?

'पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण' नामक ८१वें अध्याय में देवों एवं देवियों के प्रतिमा-मान के लिये पाँच पुरुष-माडेल्स जैसे हंस, रुचक् आदि तथा पाच ही स्त्री-माडेल्स जैसे वलाका, पौरुषी आदि निर्धारित किये गये हैं। देश-विशेष के अनुरूप न केवल वस्त्र एवं आभूषण ही देव-वस्त्र एवं देव-आभूषण परिकल्पित होते हैं वरन् देश-विशेष के मानव-जाति के सामान्य मान भी देव-मान परिकल्पित होते हैं।

'ऋज्वागतादिस्थान-लक्षण' (७६) 'वैष्णवादि स्थानक-लक्षण' (८०) तथा पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण (८२)—इन तीनों अध्यायों में प्रतिमाओं की शरीर-मुद्राओं, पाद-मुद्राओं तथा हस्त-मुद्राओं का वर्णन है।

चित्र कला—

इस प्रकार प्रतिमा-विज्ञान के ८ अध्यायों की इस सूचना के उपरान्त अन्त में चित्रकला पर लिखित ६ अध्यायों की चर्चा के उपरान्त इस स्तम्भ को यहीं समाप्त करना है।

सर्वप्रथम 'चित्रोद्देश' नामक ७१वें अध्याय में चित्रों की प्रशंसा में चित्र को समराङ्गण ने सब शिल्पों का मुख तथा लोक का प्रिय अर्थात् प्रियकला—"चित्रं हि सर्वशिल्पाना मुखं लोकस्य च प्रिम्"—कहा है। पुनः चित्र के आधार (background)—पट, पट्ट, कुड्य आदि पर संकेत करने के उपरान्त 'चित्र' के उद्देश्य अर्थात् चित्रणीय पदार्थों पर प्रकाश डाला है। अन्त में इस अध्याय मे चित्रकर्म के उपयोगी अंगों-वर्तिकाभूमि, वन्धन, लेख्य, रेखा, वर्णकर्म, वर्तना आदि अष्टाङ्ग—का वर्णन किया गया है।

'भूमिवन्ध' नामक ७२वें अध्याय मे चित्राधार के प्रभेदो की विस्तृत विवेचन की सुन्दर सामग्री मिलेगी। 'लेप्यकर्मादिक' ७३वें अध्याय मे यथानाम प्रतिमाओं के चित्रण मे उपयोगी लेप्य रङ्ग आदि तथा कूर्चन (ब्रुश) आदि की प्रक्रिया एव प्रभेद क्रमशः प्रस्तुत किये गये हैं।

'अण्डक-प्रमाण' (७४) 'मानोत्पत्ति (७५)—इन दो अध्यायों में चित्र-कला के माडेल्स् की मान-व्यवस्था मे विभिन्न वर्गीय उद्देश-चित्रणीय पदार्थ-देव, मानुष, पशु, पक्षी आदि के कौन-कौन रूप हैं, कौन-कौन मान—इन सब पर विवरण देखने को मिलते हैं। इन सबकी विस्तृत समीक्षा 'चित्र-पटल' में की गयी है।

अन्त मे एक अध्याय और शेष रह जाता है जो चित्र-कला मे काव्य-कला के समान अभिनय-योजना एवं रस परिपाक करता है। 'रसदृष्टि-लक्षण' नामक ८२वें अध्याय का यही मर्म है।

४

समराङ्गण (स्थान)

वास्तु-कला के विवेचन करने वाले आधुनिक ग्रन्थों में, वास्तु परम्पराओं को, वास्तु-शैनियों' अथवा 'वास्तु-स्तम्भों' (Orders) के नाम से प्रायः पुकारा जाता है। वास्तु-विद्या के पुरातन ग्रन्थों—जैसे मानसार, मयमत, विश्वकर्मीय-शिल्प, अागस्त्य-सकलाधिकार, काश्यप-अंशुमद्भेद, वराहमिहिर-बृहत्-संहिता, भोज-समराङ्गण-सूत्रधार आदि आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ—पुराण (मत्स्य, अग्नि, ब्रह्माण्ड आदि) आगम (कामिक, सुप्रभेद आदि आदि) तन्त्र (हयशीर्ष-पंचरात्र आदि) प्रतिष्ठा-पद्धतियों, पूजा-पद्धतियों (ईशान-शिवगुरु-देव-पद्धति, हरिभक्ति-विलास, हेमाद्रि-चतुर्वर्ग-चिन्तामणि आदि आदि) कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र, शुक्र-नीतिसार आदि अ-वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है। कि इन ग्रन्थों में एक ही वास्तु-परम्परा नहीं है।

हमारा वास्तु-साहित्य इस देश की दो प्रमुख परम्पराओं का परिचायक है। वास्तु-विद्या की ये दो परम्परायें इस देश की दो सभ्यताएँ—आर्य एव द्राविड—के प्रतीक हैं। साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है। अत जैसी संस्कृति एवं सभ्यता जिस समाज की होती है उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर अवश्य पड़ता है। वास्तु-शास्त्र की दो परम्पराओं के प्रतिनिधि ग्रंथ इस आधार-भूत दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'मानसार' आदि द्राविड-वास्तु-विद्या के प्रतिनिधि ग्रन्थों में भवनों एवं मन्दिरों के वर्ग और नाम विश्वकर्म-प्रकाश, बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण आदि पुराणों एवं समराङ्गण-सूत्रधार आदि नागर वास्तु-विद्या के प्रतिनिधि-ग्रन्थों के भवनवर्ग एवं नाम से सर्वथा विलक्षण हैं। मन्दिरों के जो वर्ग एव नाम पुराणों में प्राप्त होते हैं वे समराङ्गण आदि उत्तरी ग्रन्थों में मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार कामिक आदि आगमों के भवनवर्ग और नाम भी पुराणों की नामावली से विलक्षण हैं। दूसरे मानसार तथा आगम आदि दक्षिणी ग्रंथों में भवनों एवं मंदिरों को विमान का शीर्षक देकर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है। उनके नाम 'कान्त' (सूर्यकान्त, पद्मकान्त आदि) में प्रायः अन्त होते हैं। ये भेद बाह्य कहे जा सकते हैं।

आन्तरिक भेद भी कम नहीं हैं। मन्दिरों के शिखरों, उनकी आकृतियों, भूषणों एवं भूमियों में भी बहुत अन्तर है। दक्षिण के विमानाकृति अथवा रथाकृति मन्दिरों में भूमिका-योजना, बहुभूमिक गोपुर-निवेश आदि सहज सत्यस्त हैं, साथ ही साथ उनका कलेवर एवं शीर्षनिर्माण भी विलक्षण है। उत्तरी वास्तु-ग्रन्थों में प्रासाद के शीर्ष को 'आमलक' की संज्ञा दी गई है तथा प्रासादों में गोपुर-निवेश का सर्वथा अभाव है। दक्षिणी विमानों के शीर्ष की संज्ञा 'स्थूपिका' है। इस प्रकार मण्डपों, भवनों आदि की रचना में भी दोनों परम्पराओं में विलक्षणता है। नागर, द्राविड के अतिरिक्त तीसरी-शैली-'वेसर' है जिसका संकीर्तन दक्षिणी वास्तु-ग्रन्थों में प्राय. सर्वत्र किया गया है, किन्तु मत्स्य पुराण, बृहत्-संहिता तथा समराङ्गण में उसका सर्वथा अभाव है।

अस्तु, उत्तरी एवं दक्षिणी परम्पराओं के पारस्परिक भेद-प्रभेद पर इस ग्रन्थ के 'प्रासाद' पटल में विशेष चर्चा होगी। यहाँ पर इतना ही संकेत आवश्यक था कि वास्तु-शैलियों की पारस्परिक विलक्षणताओं का आधार प्रासाद-वास्तु है। सच तो यह है कि धार्मिक उपचेतना से अनुप्राणित अध्यात्म की अजस्र भावना-शिखा से प्रज्ज्वलित तथा भक्ति-भावना से प्रद्योतित हिन्दू-प्रासाद ही इस देश की वास्तु-कला का सर्व-प्रमुख वास्तु-स्मारक है। जैनो के मन्दिर, बौद्धों के विहार भी इसी प्रासाद की महाज्योति से प्रकाशित हैं।

भारतीय वास्तु-कला एवं प्रासाद की इस विशेपता मे इस देश की भक्ति-परम्परा बोल रही है। पूजा-वास्तु का जन्म पुराणों एवं आगमों मे प्रतिपादित 'भागवतधर्म' के द्वारा हुआ है—यह सभी जानते हैं। पौराणिक धर्म—जिसका उत्तरापथ में विशेप जोर रहा तथा आगमिक परम्परा पर—जिसका केन्द्र दक्षिणा-पथ था—दोनों ने ही देवालयों की स्थापना तथा मूर्ति-पूजा पर विशेप जोर दिया। अतः भक्त राज-कुलों, भक्त सेठ-साहूकारा तथा भक्तजनों—सभी ने इस देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सर्वत्र ही बहुसंख्यक मन्दिरों के निर्माण में महा-योग देकर अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया। विष्णु-पूजा, शिव-पूजा एवं शक्ति-पूजा इन तीनों पूजा-परम्पराओं की पारस्परिक विलक्षणताओं के अनुरूप इनके मन्दिरों की निर्माण परम्परा में भी स्वाभाविक वैलक्षण्य सम्भाव्य ही था।

अतएव दक्षिणी एवं उत्तरी वास्तु-परम्पराओं मे जो पारस्परिक विलक्षणता देखें पड़ती है उसका मूलाधार उपर्युक्त धार्मिक उपचेतना थी—यह तथ्य सहज बोध-गम्य हो जाता है।

भारत की शास्त्र-निर्माण परम्परा मे प्रत्येक शास्त्र का कर्ता कोई न कोई देव, ऋषि अथवा मुनि है। ब्रह्मा और शिव को विभिन्न शास्त्रों एवं विद्याओं का प्रवर्तक होने का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है। वास्तु-विद्या के प्रवर्तक आचार्यों में भी बहुत से देव और ऋषि हैं—यह हम देख ही चुके हैं। विश्वकर्मा और मय—इन दोनो को वास्तु-विद्या की उत्तरी एवं दक्षिणी परम्पराओं के प्रवर्तक के रूप मे हम देख ही चुके हैं। इन दोनों के अतिरिक्त मत्स्यपुराण, वृहत्-संहिता और मानसार के प्रामाण्य से वास्तु-विद्या के २५ प्रवर्तकों का भी हम संकीर्तन कर चुके हैं। इनमें देव, मुनि, ऋषि एवं राजन्य सभी सम्मिलित हैं।

विभिन्न ग्रंथों मे इधर-उधर फैली हुई सामग्री के प्रामाण्य से डा० तारापद भट्टाचार्य ने इन सभी आचार्यों को ऐतिहासिक पुरुषों मे परिगणित किया है। ये ऐतिहासिक हैं अथवा पौराणिक—इस विवाद मे पड़ना यहाँ पर उचित नही। यहाँ पर इस अवतारणा का एक मात्र उद्देश्य समराङ्गण-सूत्रधार के स्थान का निर्धारण है। यह समराङ्गण-सूत्रधार मध्यकालीन वास्तु-विद्या का अधिकृत एवं प्रामाणिक ग्रथ है। इसमे वास्तु-विद्या का संस्थापक ब्रह्मा को बताया गया है। ब्रह्मा की दी हुई वास्तु-विद्या का प्रथम प्रवक्ता विश्वकर्मा हुआ। विश्वकर्मा को हम नागर वास्तु-विद्या के प्रवर्तकों में परिगणित कर चुके हैं। इसके विपरीत डा० भट्टाचार्य ने ब्रह्मा को द्राविड़-वास्तु-विद्या के प्रवर्तकों मे परिगणित किया है। अत. इस समस्या का कैसे समाधान किया जाय? दक्षिणी और उत्तरी परम्परायें

भले ही जन्म एवं विकास में पृथक् थीं परन्तु कालान्तर पाकर (पूर्व-मध्यकाल) दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान एवं सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ और समराङ्गण के समय में सम्भवतः यह पूर्णरूप से सम्पन्न हुआ। इस प्रकार एक अखिल-भारतीय हिन्दू वास्तु-शैली के हमें दर्शन होते हैं जो भिन्न होते हुए भी एक है। नागर, द्राविड़, वावाट, भूमिज, वेसर आदि विभिन्न शैलियाँ अथवा परम्परायें एक प्रकार से इस महास्रोत की विभिन्न धारायें हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य महाभारत की महान् आत्मा की अभिव्यञ्जना है। इस दृष्टि से समराङ्गण को हम न केवल मध्यकालीन वास्तु-विद्या का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ मान सकते हैं वरन् अखिल-भारतीय हिन्दू वास्तु-शैली का इसे प्रथम उद्भावक के रूप में भी प्रकल्पित कर सकते हैं।

द्राविड वास्तु-विद्या का प्रमुख आचार्य ब्रह्मा समराङ्गण में वास्तु-विद्या का प्रथम प्रतिष्ठापक प्रतिष्ठित किया गया है। उसी ब्रह्मा ने स्वर्गीय पाँच विमानों से उन्हीं के आकार में भूतल पर प्रसादों की प्रतिष्ठा के लिये प्रतिकृतियाँ प्रदान कीं। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने भूतल की निवेश-योजना का भार विश्वकर्मा को सौंपा। कोई भी योजना विना किसी संरक्षक के नहीं हो सकती। इस महायोजना (भूतल पर देशों, जनपदों, पुरों, ग्रामों एवं भवनों आदि) के संरक्षक के रूप में स्वयं महाराज पृथु को पितामह ब्रह्मा ने प्रतिष्ठापित किया। भूमि एवं वास्तु का अन्तर यह है—'भूमि' समीकृत एवं असमीकृत दोनों ही प्रकार की भूमियों की संज्ञा है। वास्तु-भूमि केवल समीकृत भूमि है। वास्तु-व्यवस्था स्थपति का काम है परन्तु समीकरण-व्यवस्था भूपति का काम है। यदि यह आधारभूत-रहस्य हम समझ लें तो पुराणों में प्रतिपादित और समराङ्गण आदि वास्तुशास्त्रों में प्रत्यावर्तित पृथु के समीकरण (गोदोहन) उपाख्यान को हम लोग पौराणिक कल्पना न मानकर एक वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में ले सकते हैं। अतएव समरांगण की वास्तु-विद्या के जहाँ पुराण-पुरुष स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठापक हुए वहाँ महासभा पृथ्वी (वास्तु-आधार) महाराज पृथु (वास्तु-संरक्षक) एवं महास्थपति विश्वकर्मा—इस बृहत्त्रयी की कल्पना की गई है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की इस वास्तु-योजना का मर्म समराङ्गण के प्रथम एव सप्तम अध्यायों में उद्घाटित किया गया है। सुशासन, सुसमाज एवं सुजीवन के विना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। वर्णाश्रम व्यवस्था (स० सू० अ० ७) इन्हीं आधार-भूत सिद्धांतों की व्याख्या है।

अस्तु, पितामह से प्राप्त वास्तु-विद्या का प्रथम आचार्य विश्वकर्मा, नागर-वास्तु-विद्या का प्रथम प्रतिष्ठापक हुआ और भारतीय वास्तु-कला की नागर परम्परा का जन्मदाता बना। समराङ्गण में विश्वकर्मा के प्रवचनों द्वारा प्रतिष्ठापित वास्तु-विद्या के प्रचारक, आगे के स्थपति-कुलों के प्रतिनिधि स्वयं उसके पुत्र प्रकल्पित किये गये।

इस प्रकार वास्तु-परम्पराओं एवं वास्तु-विद्या के ग्रन्थों में समराङ्गण के स्थानाङ्कन में एक और विशेष उल्लेखनीय बात है कि जहाँ यह उत्तरी परम्परा अथवा नागर स्कूल का एक प्रमुख एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ है वहाँ यह—जैसा पूर्व निर्देश किया जा चुका है—अखिल भारतीय हिन्दू-शैली का भी प्रथम उन्नायक है। साथ ही साथ इसने अपनी एक नई शैली की भी उद्भावना की है। इसको विद्वानों ने 'लाट'-शैली का नाम दिया है। लाट गुजरात की पुरातन संज्ञा है। अतः गुर्जर-प्रदेश में विकसित इस शोभाबहुल शैली का नाम लाट पड़ा।

समराङ्गण के कर्ता महाराज भोज की नगरी 'धारा' गुजरात के समीप होने के कारण अपने पड़ोसी प्रदेश को प्रभावित करना अथवा उससे स्वयं प्रभावित होना—दोनों ही सम्भाव्य है। अथच अग्निपुराण में एवं हयशीर्ष-पञ्चरात्र में जिन ४५ प्रासादों का लाट-शैली में उल्लेख है वे ही अविकलरूप से समराङ्गण में वर्णित हैं। परन्तु उनकी संख्या यहाँ पर ४५ से ६४ हो गई है।

अस्तु, इस अति संक्षिप्त विवेचन से हम समराङ्गण के स्थान का मूल्याङ्कन कर सकते हैं। जहाँ तक इसकी देनों का सम्बन्ध है उनकी स्थल-स्थल पर सावसर स्पष्ट रूप से समीक्षा की गई है।

५

वास्तु-विद्या

विस्तार एवं विषय

समराङ्गण वास्तु-शास्त्रीय पुराण है। समराङ्गण के प्रथम सात अध्यायों में वास्तु-विद्या के व्यापक स्वरूप, विस्तार एवं विषयों की पौराणिक शैली में बड़ी सुन्दर अवतारणा की गई है। तीसरे अध्याय के उपोद्घात में 'महासमागमन' तथा 'विश्वकर्मा और उसके पुत्रों का सम्वाद' इन दो अध्यायों में प्रतिपादित वास्तु-प्रयोजन एवं वास्तु-सृष्टि की ओर संकेत किया ही जा चुका है। साथ ही साथ भारतीय वास्तु-विद्या के व्यापक स्वरूप पर भी सकेत किया जा चुका है। इस अध्याय में समराङ्गण के 'प्रश्न' नामक तीसरे अध्याय की विशेष सामग्री का विशेष उपयोग करना है, जिसमें वास्तु-विषयों की जानकारी के लिये विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय ने महाजिज्ञासा की है। शास्त्र-प्रतिपादन एवं तत्व-विवेचन में प्रश्नोत्तर की प्रणाली इस देश के शास्त्रकारों एवं साहित्यकारों की एक पुरातन पद्धति है। समराङ्गण में भी—जैसा चौथे अध्याय (समराङ्गण का स्थान) में कहा गया है—पितामह ब्रह्म से प्राप्त वास्तु-विद्या के प्रथम प्रवक्ता एवं आचार्य विश्वकर्मा के द्वारा वास्तु-विषयों के (अ० ३) की जय-जिज्ञासा के समाधान एवं उत्तरों में ही समराङ्गण की वास्तु विद्या के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर वास्तु-विस्तार के विवेचन मे समराङ्गण की सामग्री के सम्बन्ध में इतना संकेत और आवश्यक है कि 'महदादिसर्ग' नामक चौथे अध्याय, 'भुवन कोश' नामक ५ वें अध्याय तथा 'वर्णाश्रम-प्रविभाग' नामक ७ वें अध्याय में प्रतिपादित सृष्टि-वर्णन, भूगोल एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था से वास्तु-विद्या के विस्तार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः क्रमश. वास्तु-विस्तार में सार्वभौमिक, दार्शनिक खगोलीय, भौगोलिक तथा स्वातन्त्रिक इन प्रमुख पाँच दृष्टिकोणों से वास्तु-विस्तार का विवेचन किया जा सकता है।

(अ) सार्व-भौमिक दृष्टिकोण

भारत के सभी विज्ञान अध्यात्म से सदैव प्रभावित रहे। वास्तु-ब्रह्म-वाद के दार्शनिक दृष्टिकोण में वास्तु की विश्वव्यापकता अन्तर्हित है। हिन्दुओं के शब्द-ब्रह्म-वाद, नाद-ब्रह्म-वाद एवं रस-ब्रह्म-वाद की कल्पना के समान ही वास्तु-ब्रह्म-वाद की कल्पना भी संगत है। सच तो यह है कि भारत के विज्ञान को दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता है। बिना दार्शनिक दृष्टिकोण के विज्ञान अर्ध-विज्ञान ही है। बिना धार्मिक एवं दार्शनिक उपचेतना के विज्ञान शुष्क-काष्ठ के समान केवल जलाने योग्य है। बिना अध्यात्म से अनुप्राणित शुष्क विज्ञान जीवन का सहायक न होकर संहारक बन जाता है। हिन्दुओं की वास्तु-कला की प्रतिनिधि एव प्रमुख कृति प्रासाद है। प्रसाद-कला के सिद्धांत, धर्म और दर्शन की महाभावना से नीचे से ऊपर तक अनुप्राणित हैं। प्रासाद स्वयं देव-प्रतिमा है।

भूतल पर स्वर्गीय देव का प्रतिष्ठापक यह प्रासाद अपने प्रत्येक अवयवों से, संस्थान, मान, निवेश आदि विभिन्न प्रक्रियाओं से इस तथ्य का एक जीता जागता तथ्य है।

अस्तु, वास्तु के सार्वभौमिक स्वरूप की समीक्षा में वास्तु-ब्रह्मवाद की ओर ऊपर संकेत किया गया है। इसका क्या मर्म है? वास्तु शब्द का मर्म योजना (प्लनिंग) है। किसी भी रचना, निर्माण, अथवा सृष्टि के पूर्व योजना आवश्यक है। योजना और सृष्टि दोनों सहोदर बहनें हैं। समराङ्गण (अ० २.४) में साफ लिखा है कि ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टि के पहले वास्तु की सृष्टि की। अत. विश्वव्यापी दृष्टिकोण से विश्व की यह सृष्टि एक सयोजना रचना है। योजना सृष्टि एवं संसार दोनों का मर्म है। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र मे भी बिना योजना के काम नहीं चल सकता। राजा और राज्य की कल्पना देश के शासन की योजना है। वर्णाश्रमव्यवस्था समाज एवं व्यक्ति दोनों के जीवनों की योजना है। इसी योजना के द्वारा सुनियन्त्रित राष्ट्र, सुसंगठित समाज एवं सुसस्कृत व्यक्ति का निर्माण होता है। अतः विश्व के एक छोटे भाग इस महासभा (पृथ्वी) के निवेश के लिये समराङ्गण में एक संरक्षक शासक (राजा पृथु) निवेशकर्ता (प्लानर) अर्थात् स्थपति (विश्वकर्मा) तथा योजना का आधार स्वयं महासभा—इस वास्तु-त्रयी (देखिये स. सू. प्रथम अ०) की अवतारणा का यही व्यापक मर्म है। पुराणों में प्राप्त महाराज पृथु का गोदोहन अथवा भू-समीकरण का भी यही मर्म है। ऊबड़-खाबड़, ऊँची-नीची भूमियों, सरिताओं और पर्वतों, वनों और झाड़ियों से आक्रान्त भूमिको निवेशयोग्य बनाने के लिये पृथु ऐसे महान् और कठोर शासक (पृथु को यम का प्रतिनिधि माना गया है) चाहिये। महाराज पृथु के इसी समीकरण ने पृथ्वी को पृथ्वी बनाया (पृथो. इयं पृथ्वी)।

दार्शनिक एवं पौराणिक दृष्टिकोण को हम न भी मानें तो भी इस तथ्य से किसका वैमत्य हो सकता है कि जब हम अपने घर के निर्माण की योजना बनाते हैं तो अपने पड़ोस, पद के चतुर्दिक् वातावरण तथा बसती आदि का अवश्य विचार करते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी पुर की स्थापना करने जाते हैं तो उसकी प्राकृतिक स्थिति—भूमि, जल, वायु, अन्न, वृक्ष आदि जीवनोपयोगी साधनों के साथ-साथ देशविशेष अथवा जन-पद विशेष की विशिष्टताओं पर भी ध्यान देते हैं। पुर-निवेश में देश-विशेष एवं जन-पद-विशेष की यह परीक्षा जब और आगे बढ़ती है तब पुरसमूह राष्ट्र के सम्पूर्ण भूगोल—नदियों, पर्वत, समुद्र, वन आदि पर विचार आवश्यक हो जाता है। परन्तु कोई भी देश कितना ही सुसंगठित हो, सुनियोजित हो अथवा सुशासित हो वह अपने पड़ोसी देशों के प्रभाव से नहीं बच सकता। अतः एक देश की योजना में दूसरे देशों की योजना सुतरा समापतित हो जाती हैं। पुर से जब बढे तो राष्ट्रों एवं देशों में आये। देश की ओर दृष्टि डाली तो दूसरे देशों तक चली गई। इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-योजना में दूसरे देशों की योजना का प्रभाव अवश्य पड़ता है। अन्तर्देशीय अथवा अन्तराष्ट्रीय योजना आगे बढ़ती हुई महासभा-योजना की महायोजना का एक अभिन्न अंग बन जाती है। कहानी यहीं नहीं समाप्त होती। महासभा (पृथ्वी, भूलोक) इस बृहद् विश्व का एक अति लघु भाग है। सौरमण्डल मे पृथ्वी के परिमाण को हम जानते ही हैं। भूवासियों का जीवन दूसरे ग्रहों से अनिवार्य रूप से प्रभावित रहता है। ज्योतिर्विद्या इस तथ्य का साक्ष्य प्रदान करती है

है। अतः अन्तर्देशीय अन्योन्याश्रय (Inter-dependence) की भाँति अन्तर्ग्रहीय (Inter-planet) अन्योन्याश्रय भी सुतराम् संगत है। इसी महादृष्टि ने भारतीय वैज्ञानिकों को सनातन से प्रभावित किया है। समराङ्गण में प्रतिपादित प्रथम सात अध्यायों में भूलोक के निवासी महाराज पृथु और देवलोक के देवस्थपति विश्वकर्मा का सङ्गम (अ० १), साङ्गोपाग सृष्टिवर्णन की अवतारणा (अ० ४), महाद्वीपों, द्वीपों, पर्वतों आदि का भूगोलवर्णन, सूर्य आदि नक्षत्रों की स्थितियों एवं गतियों का खगोल-वर्णन (अ० ५), युगारम्भ में मानवता एवं देवत्व का सहवास (अ० ६) एव वर्णाश्रम व्यवस्था के शाश्वत आधारशिलाओं पर निर्मित भारतीय आर्यसंस्कृति के मानव धर्मों की अभिव्यञ्जना एवं सभ्य नागरिक जीवन की सफलता में पुरनिवेश, खेटनिवेश तथा ग्रामादि एवं जनपद-विभाग की योजना (अ० ७) का यही मर्म है। वास्तु-शास्त्र की इसी दिव्य दृष्टि को सार्वभौमिक दृष्टिकोण हमने माना है।

घ. दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण—

किसी भी वास्तु-निर्माण के पूर्व वास्तु-पद एवं उसके अधिष्ठातृ देव वास्तु-पुरुष का प्रकल्पन वास्तु-शास्त्र का एक अनिवार्य सिद्धान्त है और भारतीय वास्तु-कला की यह एक अविच्छिन्न परम्परा है। पुर, प्रासाद, अथवा भवन के निवेश-नियमों में वास्तु-पद-विन्यास स्थपति की प्रथम योग्यता एवं स्थापत्य का प्रथम अङ्ग है। वास्तु-पद-विन्यास का सविस्तर विवेचन आगे किया जायेगा। यहा पर वास्तु-पद के अधिष्ठातृ देव "पुरुष" की अवतारणा का मर्म यह है कि वास्तु-मण्डल के रेखाचित्र में, वास्तु-पुरुष प्रकल्पन उपलक्षण-मात्र (Symbolic) है। इसका रहस्य बिना दर्शन के समझ में नहीं आ सकता। वास्तु-विद्या और दर्शन इन दो ज्ञान-धाराओं का यहाँ सगम होता है और ब्रह्म-समुद्र की ओर द्रुतगति से दोनों का प्रवाह। हरिवंश (अ० १) का यह प्रवचन इसी रहस्य का उद्घाटन करता है—"निवेश्य वास्तु में 'पुरुष' की प्रकल्पना से, उस पदविशेष की सत्ता का विश्व की सत्ता के साथ ऐकात्म्य स्थापित करना अभिप्रेत है।"

डा० श्रीमती स्टेलाक्रैमिश ने अपने 'हिन्दू-टेम्पिल' में वास्तु-पुरुष-मण्डल के दार्शनिक दृष्टि-कोण की अति विशद अभिव्यञ्जना की है।

सर्व व्यापी 'विराट पुरुष' अथवा (पुरुष) निवेश्य पद के साथ एकाकार ही नहीं तदात्मक भी है। स० सू० के प्रथम श्लोक में भी इसी रहस्य की अभिव्यंजना है।

स ज्योतिष-दृष्टिकोण—

वास्तु-शास्त्र का ज्योतिर्विज्ञान एवं गणित से घनिष्ठ संबंध है। भारत के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में ज्योतिषियों के ज्योतिर्विज्ञान के लिए वास्तु-ज्ञान को एक अनिवार्य अंग माना है।

वास्तु-पुरुष-मण्डल के आध्यात्मिक (Metaphysical) महत्व का जो संकेत अभी किया गया है उसी में विश्वजनीन एवं ज्योतिर्मण्डलीय (Cosmological & Astronomical) बीज भी बिखरे पड़े हैं।

वास्तु-मण्डल पर विभिन्न अधिपति देवों के साथ-साथ नक्षत्रमण्डल के प्रमुख नक्षत्र

सूर्य, चन्द्र आदि का भी प्रकल्पन होता है। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों की गतियों में ही विश्व की गति एवं स्थिति, समय, (वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, वार आदि) तथा ऋतुयें (वर्षा, ग्रीष्म, शीत आदि) निर्भर है। अतः विश्वाकार इस वास्तुमण्डल पर विश्वनियन्ता नक्षत्रों की स्थिति-गति में किसी प्रकार का अवरोध या विरोध उचित नहीं है। इस दृष्टि कोण से वास्तु-शास्त्र ज्योतिष शास्त्र का एक अंग है। क्योंकि वास्तु-शास्त्र मे भी तो भवन-कार्य किस नक्षत्र में, किस मास, तिथि एवं वार में प्रारम्भ करना चाहिए? निवेश्य वास्तु का दिक्-सामुख्य आदि कैसा होना चाहिए? इन सभी प्रश्नों का वास्तु-मण्डल में ध्यान रक्खा जाता है। संसार की नश्वरता एवं अपूर्णता ही ज्योतिर्गणनाओं (Astronomical calculations) तथा भविष्यवाणियों (Astrological forecasts) का कारण है। इन सभी में कुछ न कुछ "शेष" अवश्य विद्यमान है। विकास-क्रम के लिये 'शेष' आवश्यक है? वर्तमान का विकास भूत का 'शेष' है। 'शतपथ-ब्राह्मण' (१, ७ ३ १८-१६) का यही मर्म है। 'वास्तु' शब्द 'वस्तु' से निष्पन्न हुआ है। अतः वास्तु मे सत्ता के विकास (निवास आदि) एवं शेष दोनों का मर्म छिपा है।

इसके अतिरिक्त वास्तु-शास्त्र के सभी ग्रन्थों में "आयादि-निर्णय" वास्तु-विद्या का एक अनिवार्य अंग माना गया है। आयादि-निर्णय का अर्थ ज्योतिषशास्त्र में प्रतिपादित तारा; नक्षत्र, तिथि, वार आदि के साथ-साथ आय, व्यय, अंश, आदि षड्वर्ग का विचार भवन-निर्माण में आवश्यक है। "षड्वर्ग" के ये ६ सिद्धान्त वास्तु विद्या के ६ सिद्धांत माने गये हैं। इनकी विशेष चर्चा पीछे की जा चुकी है।

इसके अतिरिक्त वास्तु-विद्या, और ज्योतिष-विद्या के घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना, और भी दूसरे प्रकारों से की जा सकती है। 'स्थापत्य-लक्षण' (अ० ४४) में समराङ्गण ने गणित एवं ज्योतिष तथा सामुद्रिकशास्त्र को स्थापत्य के अष्टाङ्ग में परिगणित किया है। स० सू० के दसवें अध्याय का निम्न प्रवचन—

चतुःप्रकारं स्थापत्यमष्टधा च चिकित्सितम्।
धनुर्वेदश्च सप्ताङ्गो ज्योतिषं कमलालयात् ॥ ७७ ॥

अर्थात् चतुर्विध स्थापत्य, अष्टविध आयुर्वेद, सप्तविध धनुर्वेद, तथा ज्योतिष—इन सभी शास्त्रों के मूल-प्रवर्तक ब्रह्मा हैं। इस प्रकार ज्योतिष एवं वास्तुविद्या की शास्त्र-परम्परा भी इन दोनों के घनिष्ठ औरस सम्बन्ध का द्योतन करती हैं।

अथच, रूप, अंक एवं प्रमाण का ज्ञान किसी भी वास्तु-निवेश के लिये अत्यावश्यक है। यह ज्ञान गणित से मिलता है। गणित (फलित एवं सामुद्रिक) ज्योतिष-विद्या का ही अंग है। कल्प-सूत्रों के शुल्व-सूत्रों में प्रतिपादित वेदि-रचना के प्रमाण एवं रूप आदि वास्तु-विद्या के आदि सिद्धान्त माने गये हैं। वेदि-रचना ही भारतीय वास्तु-कला की प्रथम वेदी है। महावीर नामक पूर्व मध्यकाल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने अपने "गणितसार" में वास्तु-विद्या और गणित के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है।

(य) भौगोलिक एवं भौगर्भिक दृष्टिकोण

एक आदर्श नगर की स्थापना के लिये जिस जनपद अथवा देश मे वह नगर स्थित है उस देश की भौगोलिक स्थितियों एवं भौगर्भिक विशेषताओं की समीक्षा परम आवश्यक

है। नगर-निवेश में आधुनिक देश-मापन (Regional planning) का यही मर्म है। निवेश्य नगर की भौगोलिक स्थितियों के ज्ञान से ही पुर-विशेष की निवेश-योजना बनाई जा सकती है। मानवावास के लिये जल-साधन उर्वरा भूमि, हरे-भरे वन, विस्तृत चराऊ मैदान आवश्यक हैं। पुनश्च समतल भूमि-तथा पर्वतीय प्रदेश दोनो स्थानों के नगरों की विशेषतायें अलग अलग होंगी। समुद्र-तट पर विकसित नगर की विशेषता अपनी निराली होगी। प्रचीन नगरों के विभिन्न भेदों—पुर (राजधानी नगर) पत्तन, पुट भेदन (व्यावसायिक नगर) आदि की आत्मकहानी में भौगोलिक मर्म छिपा है।

इसी दृष्टिकोण से समराङ्गण ने 'भुवनकोश' नामक चौथे अध्याय में जय की भौगोलिक जिज्ञासा का उत्तर दिया है। पुरनिवेश के लिये देश-विशेष के भूगोल का ज्ञान आवश्यक है जिससे एक देश अथवा राष्ट्र के लिये आवश्यक विभिन्न वर्गीय पुरों की यथा-स्थान निवेश-योजना बनाई जा सके।

भूमि-परीक्षा मे भौगोलिक ज्ञान के अतिरिक्त भौगर्भिक ज्ञान भी परमोपादेय है। भूमि की भौगर्भिक-परीक्षा की विस्तृत विवेचना 'पुर-निवेश' पटल मे द्रष्टव्य है। यहा पर इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि यह पृथ्वी वसुन्धरा कहलाती है। इसीलिये इसका नाम रत्नगर्भा है। किस भूमि में कौन से खनिज पदार्थ पाये जाते हैं? कौन सी भूमि किस कार्य के लिये विशेष उपयुक्त है? इन सभी के समाधान के लिये भूमि की भौगर्भिक-परीक्षा का वास्तु-शास्त्र मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। भूमि के गन्ध, वर्ण, रस (स्वाद) एवं स्पर्श से प्राचीन स्थपति भौगर्भिक परीक्षा कर लेते थे। इस प्रकार वास्तु-विद्या का भूगोल एवं भूगर्भ-विद्या (Geology) के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध है यह सिद्ध होता है। गोदोहन, भू-समीकरण के पौराणिक एवं वास्तु शास्त्रीय (स० सू० अ० १, ७) उपाख्यान सृष्टि के आदि मे हमारे पूर्वजों के द्वारा भूपरीक्षा के इस भौगोलिक एवं भौगर्भिक महा अनुष्ठानों की सूचना देते हैं।

२. स्वातन्त्रिक (Architectural itself)—

अन्त में वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र के समुद्घाटन मे "वास्तु" शब्द की जो व्याख्या प्राचीन आचार्यों ने की है वह भी इस सम्बन्ध में बड़ी सहायक है। मानसार के अनुसार धरा, हर्म्य (भवन आदि) यान एवं पर्यंक इन चारो का ही वास्तु शब्द से बोध होता है। वास्तु की इस चतुर्मयी व्यापकता की सोदाहरण व्याख्या करते हुये डा० आचार्य अपने वास्तु-विश्व-कोश (पृ० ४५६) में लिखते हैं—हर्म्य मे प्रासाद, मण्डप, सभा, शाला, प्रपा तथा रङ्ग—ये सभी सम्मिलित हैं। यान—आदिक, स्यन्दन, शिविका एवं रथ का बोधक है। पर्यंक मे पञ्जर, मञ्चली, मञ्च, फलकासन तथा बाल पर्यङ्क सम्मिलित हैं। वास्तु शब्द ग्रामो, पुरो, दुर्गों, पत्तनो, पुटभेदनों, आवास-भवनो एव निवेश्य-भूमि मे भी गतार्थ है। अथच मूर्तिकला अथवा पाषाणकला वास्तु-कला की सहचरी कही जा सकती है।"

अग्निपुराण (अध्याय १०६-५-१) तथा गरुड़-पुराण (अ० ४६) वास्तु शब्द के इस मर्म का समर्थन करते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अ० ६५) में भी वास्तु शब्द की व्यापकता का समर्थन प्राप्त है।

समराङ्गण-सूत्रधार के प्रथम ही अध्याय में शास्त्रारम्भ के समर्थन में मंगलमयी भावना के निदर्शन में वास्तु शास्त्र की उपादेयता की अवतारणा करते हुये ग्रन्थकार का निम्न प्रवचन द्रष्टव्य है।

> ' देशः पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च ।
> यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम् ॥४॥
> वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः ।
> तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते ॥५॥

इन श्लोकों में वास्तुशास्त्र के व्यापक क्षेत्र का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। 'देश' जनपद, राष्ट्र, देश के विभिन्न भेद एवं विभिन्न देशभूमियों का बोधक है। अतः पुर-निवेश में देशमापन एवं भूपरीक्षण आदि प्रारम्भिक कार्य भी गतार्थ हैं। 'पुर' से—नगर के विभिन्न प्रकार जैसे राजधानी, शाखानगर, पत्तन एवं पुटभेदन, आदि सभी बोधव्य हैं। 'निवास' विभिन्न कोटिक नगरेतर शाखानगर, खेट, ग्राम, पल्ली एवं पल्लिकाओं आदि बसतियों का बोधक है। 'सभा' में—विशिष्ट भवन, मन्त्रशाला, धारापरिषद् आदि गतार्थ हैं। 'वेश्म' में—विभिन्न वर्गीय भवन जैसे देवावास (प्रासाद) नृपावास राज-प्रासाद एव जनावास तथा इनके बहुसंख्यक प्रभेद परिगणित हो सकते हैं। अथच, 'आसन' में विभिन्न प्रकार के आसन, वाहन (देखिये 'प्रतिमा' पटल) शय्या आदि सम्मिलित हैं।

वास्तु-शास्त्र के व्यापक विस्तार के सम्बन्ध में समराङ्गण का यह प्रवचन दिग्दर्शन मात्र है। स० सू० के 'प्रश्न' नामक तृतीय अध्याय की एतद्विषयक सामग्री की समीक्षा का शीघ्र ही अवसर आ रहा है।

'मयमत' के अनुसार वास्तु शब्द का अभिप्राय भूमि, प्रसाद, यान एवं शयन से है। ये ही विषय सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रधान विषय हैं। समराङ्गण में यान का तात्पर्य वायुयान से है (देखिये 'यन्त्र' पटल)।

अथच यहाँ पर एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। वास्तु-विद्या कला और विज्ञान दोनों ही है। अतः वास्तु-शास्त्र का विषय एक मात्र सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही नहीं है वरन् उन सिद्धातो के अनुरूप वास्तु-कृतियों की रचना भी है और वे रचनायें ऐसी होनी चाहिये जिनको देखसर मानव की हृत्तन्त्री मे उसी प्रकार का स्पन्दन होने लगे जैसा कि काव्य के रसास्वाद से होता है। मनमयूर उसी प्रकार से नाचने लगे जिस प्रकार एक विदग्ध गायक के सुन्दर गीत से नाचता है। काव्य एवं संगीत के रसास्वाद की यह तन्मयता विमुग्धकारिणी वास्तुकला मे भी अवश्य आनी चाहिये। एलौरा के कैलाश, अजन्ता के गुहा-मन्दिर एवं चित्र प्राचीन वास्तु-स्मारकों को हम जब देखते हैं तो हम विमुग्ध होकर उनको मानवकृति नहीं कहते—देवकृति समझते हैं। पितामह ब्रह्मा ने विश्व की रचना तो की लेकिन उसकी सुन्दर निवेशयोजना का भार विश्वकर्मा को सौंपा गया। कथा है (स० सू० महासमागमन अ० १) सृष्टि के उपरान्त संसार की योजना का भार महाराज पृथु को सौंपा गया। पृथु राजा था। राजा कलाकार विश्वकर्मा का कार्य नहीं कर सका। अत. अपनी इस असफलता का रोना लेकर पृथु पुनः पितामह के पास पहुँचे। महासमा पृथ्वी भी अपनी करुण कहानी लेकर पहुँची। दोनों की दुर्दशा देखकर ब्रह्मा ने

विश्वकर्मा को बुलाया और विश्व के निवेश (विशेषकर भूतल के निवेश) का भार सौंपा। विश्वकर्मा ने अभी तक देवपुरियों का निर्माण किया था। ब्रह्मा के इस महानियोग में पूर्ण सफलता के लिये उसे सहायकों की आवश्यकता हुई। स्थपतियों की परम्परा अभी पल्लवित नहीं हुई। अतः पिता के इस अनुष्ठान में पुत्रों ने हाथ बटाया। विश्वकर्मा ने अपने मानसपुत्रों—जय, विजय, सिद्धार्थ एवं अपराजित को बुलाया और ब्रह्मा के इस नियोग की सूचना दी (देखिये स०सू०अ० २) और भूतल की निवेश योजना—राजा की राजधानी, देश एवं जनपदों के रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के दुर्गों, जनावासों (पुर, नगर, ग्राम, खेटादि) तथा जाति एवं वर्णानुरूप आवासभवनों और देवप्रतिष्ठा के लिये देवभवनों आदि—में सहायता की याचना की।

यह संवाद हिमाद्रि के स्वर्गीय उत्तुंग शिखरों पर हो रहा था। स्वर्ग से भूमि पर उतरने की अवतारणा में विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय ने अपने पिता से इस अनुष्ठान-यज्ञ में आहुति देने के पूर्व अनुष्ठान की सांगोपांग जिज्ञासा में प्रश्नों की झड़ी लगा दी। इन्हीं प्रश्नों का प्रवचन स० सू० के 'प्रश्न' नामक तीसरे अध्याय का वास्तु-शास्त्र के व्यापक विस्तार का प्रवचन है। इस प्रश्न तालिका को हम अपने अध्ययन के अनुरूप निम्न समूहों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) औपोद्घातिक

(क) सार्व-भौमिक

(i) सृष्टि—महाभूत एवं नक्षत्र।

(ii) ग्रहों की गतियों, स्थितियाँ, पारस्परिक दूरी, आधार एवं कारण आदि।

(iii) पृथ्वी के ऊपर और नीचे के लोक।

(ख) सांस्कृतिक मानव-सभ्यता एवं संस्कृति तथा धर्म के विभिन्न युग एवं उनकी व्यवस्थायें—प्रथम उत्पति, प्रथम राजा, प्रथम वर्ण और प्रथम नक्षत्र।

(ग) भौगोलिक

(i) भूमि—आकार, आधार, प्रमाण, विस्तार, परिधि तथा बाहुल्य।

(ii) पर्वत—संख्या, ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई।

(iii) महाद्वीप तथा वर्ष (देश) उनकी सरितायें, समुद्र जन एवं जनपद तथा इन सबकी विशेषतायें।

(घ) भौगर्भिक—देश एवं देशभूमियों की परीक्षा तथा शब्द, स्पर्श, गन्ध, वर्ण तथा रस के अनुसार भूमि-परीक्षण तथा निवेश्य वास्तु (पुर, ग्राम, भवन, प्रासाद आदि) की भूमि का चयन।

(ङ) स्थापत्य—विषय, प्राथमिक कृत्य, इष्टकाकर्म, भूमिशोधन (अग्नि, जल तथा वायु से) शल्योद्धार-विधि, दिग्ग्रह, सूत्रण, अधिवासन, मूलपाद, शिलान्यास आदि।

(२) पुरनिवेश

विभिन्नवर्गीय पुरों तथा दुर्गों एवं ग्रामों आदि के निवेशनोचित भूमि के चयन के

साथ-साथ, राजधानी-निवेशन, प्राकार-विधान, गोपुर-योजना, अट्टाल-निर्माण, परिखाकर्म वप्रविधान, पक्षद्वार, अङ्गद्वार, प्रतोली, रथ्यायें, चत्वर, क्षेत्र आदि।

(ii) मार्गविनिवेश—सीमाओं एवं क्षेत्रों के साथ-साथ पुर के अभ्यन्तर एवं वाह्य दोनों प्रदेशों मे मार्ग-निवेश।

(iii) पदविन्यास

(iv) इन्द्रध्वज-निवेशन तथा देव-प्रतिष्ठा।

(v) जाति एवं वर्ण के अनुरूप जनावास।

(३) भवनकला

(i) राजप्रासाद—प्रमाण, मान, संस्थान, संख्यान, उच्छ्राय आदि लक्षणों से लक्षित एवं प्राकारपरिखा-गुप्त, गोपुर, अम्बुवेश्म, क्रीडाराम, महानस, कोष्ठागार, आयुधस्थान, भाण्डागार, व्यायामशाला, नृत्यशाला, संगीतशाला, स्नानगृह, धारागृह, शय्यागृह, वासगृह, प्रेक्षा (नाट्यशाला), दर्पणगृह, दोलागृह, अरिष्टगृह, अन्तःपुर तथा उसके विभिन्न शोभा सम्भार—कक्षायें, अशोकवन, लतामंडप, वापी, दारूगिरि, पुष्पवीथियाँ तथा राजभवन की किस-किस दिशा मे पुरोहित, सेनानी, ब्राह्मण, ज्योतिषी एवं मन्त्री के निवास।

(ii) जनावास—शालभवन, भवनाङ्ग, भवनद्रव्य, विशिष्ट भवन, चुनाई, भूषा, दारूकर्म, इष्टकाकर्म, द्वारविधान, स्तम्भलक्षण, छाद्यस्थापन आदि आदि के साथ वास्तुपदों की विभिन्न योजनायें।

(iii) मान, भंग एवं वेध आदि।

(४) यन्त्रघटना

(दारुक्रिया से अनुमेय)

(५) प्रासाद-वास्तु

सस्थान, मान, विन्यास, आकृति, भूषा, शिखर, आदि।

(६) प्रतिमा

यान, परिवार, वर्ण, रूप, विभूषण, वस्त्र, वय, आयुध एवं ध्वजाओं के लक्षणों से चिह्नित विभिन्न देवों एवं देवियों, यक्षों, गन्धर्वों आदि की प्रतिमायें।

(७) चित्रकला

चित्रक्रिया तथा लेप्यक्रिया।

विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय के द्वारा जिज्ञासित इस प्रश्नमालिका में वास्तु-विद्या के सभी अङ्गो का सन्निवेश होगया है। इन्हीं प्रश्नो का उत्तर समराङ्गण की वास्तु-विद्या (Canons of Architecture) का विवेचन है। अपने पुत्र जय के इन प्रश्नों को सुन कर अति हृष्टमानस विश्वकर्मा जी कहते हैं—

साधु वत्स त्वया सम्यक्प्रज्ञयातिविशुद्धया।
प्रश्नोऽयमीरितो वास्तुविद्याऽब्जवनभास्करः॥
स एव निधाय प्रश्नानां समुदायममु हृदि।
वदतो मेऽवधानेन शृणु यंद्‌ब्रह्मणोदितम्॥

अर्थात् हे वत्स तुम ने अपनी विशुद्ध प्रज्ञा से वास्तु-विद्या रूपी कमल-वन के लिये सूर्य के समान इन प्रश्नो की उद्भावना की है। अतः इन प्रश्नों के समुदाय को हृदय मे रख अब इनका जवाब सुनो जो ब्रह्मा जी ने बताया है।

इस प्रकार इस वास्तु-विद्या का प्रवर्तक स्वयं पुराणपुरुष ब्रह्मा को मान कर इस वास्तु-विद्या में भी पुरातनत्व एवं पुण्यत्व से युक्त शास्त्रत्व की प्रतिष्ठा की गयी है।

डा० आचार्य ने वास्तु-शास्त्र के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना का प्रथम पथ प्रदर्शन किया है। वास्तु-विद्या के ग्रन्थों के विहगावलोकन मे हमने देखा कि बहुत से ग्रन्थों के नाम शिल्प-शास्त्र की संज्ञा मे उल्लिखित किये गये हैं। 'शिल्प' शब्द का अर्थ सुन्दर एवं उपयोगी दोनो 'कला' है परन्तु 'शिल्प शास्त्र' इन ग्रन्थो मे वास्तु शास्त्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। परम्परा से प्रचलित जिन ६४ कलाओं का इस देश मे अतिप्राचीन समय से उल्लेख एवं प्रचार मिलता है, उनमे वास्तु-विद्या को एक कला मे परिगणित किया गया है। सम्भवत. यह परम्परा उस सुदूर अतीत की बात है जब वास्तु-कला का पूर्ण विकास इस देश में नहीं हो पाया था। शुक्राचार्य के समय मे वास्तु विद्या का विस्तार इतना व्यापक हो गया था कि वास्तु-कला के महाकलेवर मे सभी प्रधान कलायें गतार्थ होगई थीं। वैसे तो वास्तु-शास्त्र का प्रधान विषय—भवन-कला, यन्त्रकला, काष्ठकला, भूषणकला, आसन, सिंहासन आदि विधान तथा चित्रकला आदि—है। अतएव डा० आचार्य के शब्दो मे "वास्तु-कला मे सभी प्रकार के भवनो—धार्मिक, आवासयोग्य, सेनायोग्य तथा उनके उप-भवन एव उपाङ्गो, प्रत्यङ्गो आदि का प्रथम स्थान है। पुरनिवेश, उद्यानरचना, पण्यस्थानो, पोतस्थानो, आदि का निर्माण, मार्गयोजना, सेतुविधान, गोपुरविधान, द्वारनिवेश, तोरणविनिवेश, परिखा-खनन, वप्रनिर्माण, प्रकारविधान, जल-भ्रम-योजना, भित्ति-रचना, सोपान निर्माण भी वास्तु-शास्त्र का प्रधान अग है। तीसरे वास्तु-कला में भवन-फर्नीचर जैसे शय्या, मंजूषा, पंजर, नीड, चटाई, यान, दीप एवं मार्ग-दीप-स्तम्भ आदि की रचना भी सम्मिलित है। चौथे वास्तु-कला में भूषण-रचना एवं वस्त्र-रचना भी सम्मिलित हैं। देवभूषणो मे मौलि, मुकुट, शिरस्त्रक आदि भूषण, उत्तरीय आदि वस्त्र भी सम्मिलित हैं। अथच जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है मूर्तिनिर्माण-कला वास्तु-कला की अभिन्न सहचरी है। अत· लिङ्ग, देव-मूर्तियाँ, ऋषि-मुनि आदि की प्रतिमायें तथा गरुड़, हंस आदि के चित्र का रचनाकौशल इस कला का अभिन्न अंग है। वास्तु-कला, भवन-निर्माण अथवा पुरनिवेश के प्रारम्भिक कृत्यो जैसे भूमि-चयन, भूपरीक्षा, शंकुस्थापन, दिक्-साम्मुख्य एवं आयादि-निर्णय भी वास्तु-शास्त्र के अंग हैं।"

६

स्थपति एवं स्थापत्य

"स्थापकान् स्थपतींश्चापि पूजयामि स्वशक्तित.।"

स्थपति

भारतीय वास्तु-शास्त्र एवं वास्तु-कला में स्थपति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। भोज ने अपने समराङ्गण सूत्रधार में "स्थपति-लक्षणम्" नामक ४४ वें अध्याय मे स्थपति की योग्यता का बड़ा ही मार्मिक एवं ओजस्वी चित्रण किया है।

स्थपति कैसा होना चाहिये? उसकी विद्या, शिक्षा, दीक्षा कैसी होनी चाहिये? शास्त्राभ्यास एवं क्रियाकौशल में उसे कैसा निष्णात होना चाहिये—इन सभी प्रश्नों पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

स्थपति वह है जो शास्त्र, कर्मकौशल, प्रज्ञा तथा गुणान्वित शील से सम्पन्न एवं लक्ष्य (वास्तु-विषय) और लक्षण (परिभाषाओं) से युक्त वास्तु-विद्या का निष्णात नर स्थपति की पदवी प्राप्त कर सकता है।

स्थपति न केवल शास्त्र अर्थात् स्थापत्य-शास्त्र का ही पण्डित है—केवल शास्त्र का ही जानकार है, वरन् शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार तदनुरूप क्रियाकौशल में भी कुशल है। शास्त्र तथा शास्त्रानुसार क्रियाकौशल के अतिरिक्त स्थपति में अपनी निजी प्रज्ञा (अवसर पर सूझ) होना परम आवश्यक है, अन्यथा कोरा शास्त्रज्ञान अथवा तदनुरूप क्रियाकौशलमात्र कर्म में पूर्ण परिपाक नहीं उपस्थित कर सकता।

स्थापत्य-कला जब कविता की भाँति अपनी निजी प्रेरणा एवं मेधा के द्वारा परि-निष्ठित होती है, तभी उसमें ज्योति एवं जीवन के दर्शन होते हैं।

भारतीय वास्तु-कला के शतशः निदर्शन स्थापत्यकौशल के साथ स्थपति की अपनी निजी विभूति के प्रतकि हैं—यह विज्ञ वास्तु-शास्त्रियों से छिपा नहीं है। शास्त्र, क्रिया-कौशल तथा निजी मेधा के अतिरिक्त स्थपति का चौथा अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है उसका शील अर्थात् चरित्र। भारतीय संस्कृति के उन्नयन में चरित्रवान् व्यक्तियों ने उसे जीवित रक्खा है। अतः संस्कृति के इस अत्यन्त प्रोज्ज्वल अंग के विकास एवं अभ्युदय में शीलवान् स्थपतियों का बड़ा हाथ रहा है। अत. शास्त्रज्ञान, तदनुरूप कार्यदक्षता तथा निजी प्रतिभा इन गुणों मे स्थपति का शील कम उपयोगी नहीं है।

प्राचीन भारत एवं मध्यकालीन भारत के अद्भुत वास्तु-स्मारक शीलवान् स्थपतियों की कीर्ति-कौमुदी को आज भी प्रकाशित कर रहे हैं। शीलभ्रष्ट स्थपतियों द्वारा निर्मित भवन, मन्दिर, प्रासाद अचिरात् नाशोन्मुख हो सकते हैं।

आजकल हमारे प्रत्येक कार्य में संयम एवं नियम, तप एवं तेज, शील और मर्यादा, निष्ठा तथा नीति इन सभी का पद पद पर ह्रास प्रत्यक्ष है। हमारी पुरातन परम्परा नष्ट एवं भ्रष्ट हो चुकी है। अतः स्थापत्यकौशल जो इस देश की अत्यन्त अभ्युन्नत संस्कृति

एवं सभ्यता का अत्यन्त ओजस्वी अंग था, वह लुप्तप्राय है अथवा जो कुछ मिलता भी है वह निम्न तथा भ्रष्ट है। प्राचीन भारत में विशेषकर पूर्व मध्यकालीन युग में भवन-निर्माण-कला अत्यन्त उन्नत एवं उदात्त तो थी ही, साथ ही साथ बड़ी ही सुसंयत तथा विशुद्ध वैज्ञानिक कला थी। अस्तु, इस प्रकार स्थपति के विषय में ऊपर जो चार गुण कहे गये हैं वे तो सर्वसाधारण रूप से उसमें अनिवार्य होने ही चाहिये।

सृष्टिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि की भाँति, चतुर्मुखी इस योग्यता से सम्पन्न स्थपति का कौशल कुछ कम अद्भुत नहीं। जिन्होंने अजन्ता के गुहामन्दिर देखे हैं, उत्तुंग हिमाद्रि पर स्थित कैलाश की प्रतिकृति एलौरा के कैलाश (देखिये पर्सीब्राउन भारतीय वास्तुकला पृ० ७०) तथा ऐसे ही विभिन्न बिखरे हुये दक्षिण तथा उत्तर के विमानों एवं प्रासादों को (मामल्लपुरम्, काञ्चीपुरम्, तंजौर, भुवनेश्वर, खजुराहो, मोधारा, कोनार्क आदि शतशः सुप्रसिद्ध वास्तुपीठों की वास्तु-विभूतियों को) देखा है, उनसे प्राचीन भारत के नैष्ठिक स्थपतियों की गाथा गाई नहीं जा सकती। स० सू० के स्थपति प्रवचन में यही मर्म निहित है। अत. इन विभिन्न योग्यताओं के साधारण संकेत के उपरान्त कुछ विशेष विस्तार की आवश्यकता है।

शास्त्र

शास्त्रज्ञान स्थपति की प्रथम योग्यता है। शास्त्र से तात्पर्य वैसे तो स्थापत्यशास्त्र से है और स्थापत्य की रूपरेखा एवं उसके विस्तार पर हम दृष्टिपात कर ही चुके हैं। परन्तु स्थापत्य अर्थात् शिल्प के अतिरिक्त स्थपति की बौद्धिक योग्यता के लिये सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष तथा छन्दस्—इन शास्त्रों का भी ज्ञान आवश्यक है (स सू. ४४-३)। गणित तथा ज्योतिष के साथ वास्तु-शास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश हम डाल ही चुके हैं (अ० ६)। छन्द का क्या मर्म है इसे समझना आवश्यक है। जिस प्रकार कविता एवं गीत में (विशेषकर गीत में) छन्द तथा लय से पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है, उसी प्रकार भवन-निर्माण में भी प्रत्येक अवयव के सम्यक् मानोन्मान. संस्थान निवेश, चेय एवं द्रव्य-संयोजना आदि के घटाव-चढ़ाव से (गीत की ओर आरोहावरोह में) एक नयी रचना की अद्भुत सृष्टि सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय योग्यता का पूर्ण प्रतिबिम्ब कला में तभी प्रतिबिम्बित होता है जब छन्द के मर्म स्थपति हृदयङ्गम कर पाता है। इसके अतिरिक्त स्थपति की इस कोटि की योग्यता में सिराज्ञान तथा यन्त्रविधि का ज्ञान भी ग्रंथ सम्मिलित करता है। (स० सू० ४४-३) यन्त्रविधान पर आगे हम पूर्णरूप से विचार करेंगे। सिराज्ञान से तात्पर्य वास्तु के विभिन्न अंगों एवं स्थानों का पूर्ण ज्ञान है। भारतीय वास्तु परम्परा में 'वेध' द्वारवेध, भवनवेध, स्तम्भवेध, तुलावेध आदि वेधों से बचने पर बड़ा जोर दिया गया है। विशेष विवरण के लिये 'भवन' पटल द्रष्टव्य है। अत. बिना सिराज्ञान के विभिन्न वेधों से बचना दुष्कर है। अतः सिराज्ञान स्थपति की शास्त्रीय योग्यता में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इसप्रकार इन उपर्युक्त शास्त्रों को वास्तुशास्त्र के अंग के रूप में परिकलित करना चाहिये। (स० सू० ४४-४) 'समराङ्गण' स्थपति की योग्यताओं में शास्त्र-ज्ञान की योग्यता पर विशेष जोर देता है। स्थपति को अपनी वास्तुक्रिया की प्रसाधना प्रसिद्ध शास्त्रदृष्टान्तों से सम्पन्न करनी चाहिये। इसके प्रतिकूल, शास्त्र के बिना समझे बूझे, जो स्थपति स्थापत्य-कर्म का ढोंग साधता है वह राजा के द्वारा हन्तव्य है। क्योंकि अशास्त्रज्ञ स्थपति अपने

मिथ्याज्ञान से वसुधातल पर लोगों को अकाल मृत्यु के गाल में कवलित कराता हुआ विचरण करेगा।

अतः ऐसे अशास्त्रज्ञ स्थपति का इसप्रकार राज्यप्रतिबन्ध वाञ्छनीय है। क्योंकि अशास्त्रीय वास्तु-कल्पन अधार्मिक है, अशुभ है।

कर्म

अथच जो स्थपति केवल शास्त्रज्ञ तो है परन्तु क्रियाकौशल से शून्य है, वह क्रियाकाल में अर्थात् भवन, पुर, अथवा प्रासाद के निर्माण-काल में, युद्धस्थल में एक कापुरुष की भाँति मोह को प्राप्त होता है। अतः वही स्थपति है जो शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ कर्मकौशल मे भी निष्णात है। शास्त्रज्ञ स्थपति को कर्मवित् होने के लिये वास्तु-स्थान, उसके निवेश एवं मान उन्मान के ज्ञान के साथ-साथ वास्तुक्षेत्र से सम्बन्धित विभिन्न कर्मों के कौशल मे सिद्धहस्त होना है। साथ ही लुमालेख, (जिनकी संख्या १४ है) गण्डिकाच्छेद, (जिनकी संख्या ४ है) वृत्तच्छेद, (जिनकी संख्या ७ है) इनकी रचना का भी पूर्ण कौशल उसे प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकार सन्धिकर्म, सन्धानकर्म, ऊपर तथा नीचे के सब प्रकार की चेयविधि आदि की क्रिया एवं रेखाज्ञान में भी उसे दक्ष होना चाहिये।

वास्तुकला की इस विदग्धता के साथ वास्तु-कला से सम्बन्धित अन्य विभिन्न कलाओं का भी ज्ञान स्थपति के लिये परमोपादेय है जिनका उल्लेख समरागण ने इसी 'स्थपति लक्षण-नामक' अध्याय में किया है (४४-२०-२१)। अर्थात् वास्तु-कला के वैज्ञानिक कौशल के साथ-साथ वास्तु-कर्म के सहायक अन्य कलाओं का भी अविरल कौशल आवश्यक है। यह कर्म आठ प्रकार का है। आलेख्य (चित्रकला), लेप्यजात (लेप्यकर्म आदि), दारुकर्म—शय्या, आसन, यन्त्र आदि निर्माण, चेय (चुनाई), पाषण-कला (मूर्ति निर्माणकला) एवं स्वर्णकला तथा इन दोनों के कर्म-कौशल—इन आठों गुणों से युक्त स्थपति संसार मे पूजा को प्राप्त करता है।

इसके प्रतिकूल जो स्थपति केवल कर्मवित् है परन्तु शास्त्रार्थ से अनभिज्ञ है उस स्थपति की उस अन्धे के सदृश दशा है, जो दूसरे का सहारा लेकर डगमगाता हुआ मार्ग में चलता है। कहीं पर उसे ठोकर लग सकती है। अतः ऐसे व्यक्ति को प्रधान स्थपति की पदवी नहीं दी जा सकती है। अत. शास्त्रज्ञता एवं कर्मदाक्ष्य दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। दोनों का ही होना परमावश्यक है।

प्रज्ञा

भोज द्वारा बताये गये स्थपति के चार गुणों मे शास्त्रज्ञता एवं क्रियादक्षता, इन दोनों गुणो पर थोड़ा सा विवेचन हो चुका है। अब शेष प्रज्ञा एवं शील इन दोनों पर थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है। शास्त्र एवं कर्म इन दोनों में कुशल स्थपति विना-प्रज्ञा के अपनी निजी मेधा के निर्मद गज के समान है (निर्मद गज की क्या कीमत?) क्रियाकाल में ऐसे शतश. अवसर आते हैं, जब विना अपनी निजी प्रतिभा के स्थपति के लिये शास्त्रीय ज्ञान भी सहायक नहीं होता। प्रज्ञावान् स्थपति को कार्यकाल मे कभी मोह नहीं प्राप्त हो सकता। यह वास्तुकला "वहुविस्तर" 'गूढार्थ' 'दुरालोक' तथा 'अप्रमेय' मानी गयी है। अत. विना प्रज्ञापोत के इस वास्तुसागर का संतरण नहीं हो सकता।

शील

अथच ज्ञानी, वाग्मी तथा कर्मनिष्णात होने पर भी यदि स्थपति शीलवान् नहीं है, तो वह बेकार है। विना शील के कर्म सिद्ध नहीं होता है। यह शील ही उसकी साधना है, तपस्या है, और रागात्मिका वृत्ति है जिसे निष्ठा भी कह सकते हैं। क्योंकि रोष, द्वेष, लोभ, मोह एवं राग आदि के वशीभूत होकर दुःशील स्थपति कर्म को बिगाड़ सकता है। अतः वास्तुकला में दुःशील स्थपति सर्वथा त्याज्य है—यह ऊपर संकेत किया भी जा चुका है।

'समराङ्गण' ने शील के महत्व-प्रख्यापन पर बड़ा ही सुन्दर प्रवचन दिया है (४४ १६)। वास्तु-कला कविता की भाँति सौंदर्य और रसास्वाद की जननी है। विना शील के शुभ नहीं सम्पादित होता। विना शुभ और कल्याण के सौंदर्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। अतः शील के आधान में बुद्धिमान् स्थपति को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

समराङ्गण ने स्थपति की ज्ञानपरिधि को अत्यन्त व्यापक बताया है। स्थपति की ये योग्यतायें प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त एतद्विषयक सामग्री की ही परम्परा की पूर्ति हैं। क्योंकि स्थपति केवल आधुनिक राज नहीं था। उसमें आधुनिक इंजीनियर, ओवरसियर तथा हेड मिस्तरी और टाउनप्लानर इन सभी के गुण विद्यमान थे यह स्पष्ट है।

१— प्राचीन कारीगरों की चार कोटियाँ थीं जिनमें स्थपति मुख्य था। वे चारों कोटियाँ हैं—स्थपति, सूत्रग्राहिन्, वर्धकि तथा तक्षक।

१ स्थपति—प्रधान वास्तु-शास्त्री तथा वास्तु-कलाविद् आचार्य यज्ञकार्य के समान वास्तु-कार्य में स्थपति अपने यजमान (भवनस्वामी) का प्रतिनिधित्व करता है। 'समराङ्गण' ने प्रासाद-निर्माण में स्थपति को कर्ता तथा यजमान को कारक के रूप में (५६. ३०३) परिकल्पित किया है। अथच मयमत में (अ० ५) स्थपति जो विश्वकर्मा कहा गया है वही वहाँ (अ० १२) स्थापक का शिष्य (अनुशिष्य) माना गया है। स्थपति एवं स्थापक का यह मार्मिक सम्बन्ध हिन्दू-स्थापत्य के जिज्ञासु पाठकों के लिये विशेष ध्यान देने योग्य है।

२ सूत्र-ग्राहिन्—नाप-जोख करनेवाला आधुनिक इंजीनियर या ओवरसियर कहा जा सकता है। स्थपति के सदृश ही इसको भी सभी विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिये। परन्तु इसकी विशेष योग्यता सूत्र-कौशल है। मानसार के शब्दों में इसे सूत्रज्ञ सूत्रधारी (रेखाज्ञ) होना चाहिये। सूत्रग्राहिन् तक्षक तथा वर्धकि का गुरु कहा गया है।

३ वर्धकि—को भी सूत्रग्राहिन् के समान शास्त्रों का पण्डित एवं वेदज्ञ होना चाहिये। परन्तु उसका अपना विशेष क्षेत्र—चित्र कला है। उसे भवनकला एवं मूर्तिकला के रेखा-चित्रों की उद्भावना करनी पड़ती थी। इसी मानसी सृष्टि—काल्पनिक चित्रों को इष्टका, पाषाण अथवा काष्ठ के द्वारा मूर्तस्वरूप प्रदान किया जाता था। वर्धकि तक्षा का गुरु बताया गया है।

४ ~~२~~ तक्षक—आजकल का बढ़ई (Carpenter) है। अन्य विभिन्न कलाओं एवं शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए अपने काष्ठकौशल के लिये प्रसिद्ध था।

स्थपति का पद हिन्दू-स्थापत्य में बड़ा ऊँचा था। आज कल [illegible]हीनावस्था का क्या रहस्य है—इस पर संकेत आगे होगा। यहां पर स्थपति के साथ-साथ स्थापक एवं

पुरोहित के स्थानाङ्कन का क्या रहस्य है— इस पर थोड़ा सा निर्देश आवश्यक है। यज्ञ कार्य में जिसप्रकार यजमान तथा पुरोहित—इनदो के अतिरिक्त यज्ञकार्य का अधिष्ठाता किसी वरेण्य विद्वान् का ब्रह्मा के रूप में वरण किया जाता था उसी प्रकार वास्तु-कार्य में भी स्थापक गुरू के तत्वावधान मे ही कार्यप्रारम्भ होता था। यह स्थापक, यजमान (भवनपति) के द्वारा नियुक्त होता था। स्थपति, स्थापक एवं यजमान—इस वास्तु-त्रयी मे त्रिदेव की कल्पना भी इस देश में सनातन से प्रसिद्ध है। स्थपति ब्रह्मा है। यजमान (भवन या मन्दिर निर्माण करानेवाला) विष्णु है तथा स्थापक स्वयं भगवान् रुद्र हैं। अब रहे पुरोहित जी, वह साक्षात् बृहस्पति हैं।

स. सू. (४२-३२-३७) ने इसी परम्परा पर कुछ अन्तर से प्रकाश डाला है। वास्तु-कार्य में आवश्यक बलिदान, शान्तिकर्म आदि जो कर्म विहित हैं वे विना पुरोहित के सम्पन्न नहीं हो सकते। अथच पुरोहित के अतिरिक्त सावत्सरिक (ज्योतिर्वित्) का भी सहयोग आवश्यक है। अतएव स सू का प्रवचन है—"किसी भी वास्तु-निर्माण कार्य के प्रथम वास्तु-यज्ञ अवश्यक है। तदुपरान्त पुरोहित जी की तुष्टिकरी पूजा से पूजा करनी चाहिये—अर्थात् भोजन, वसन, द्रव्य, दक्षिणा प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये क्योंकि पुरोहित (स्थापक) की पूजा से साक्षात् ब्रह्मा की पूजा होती है। पुरोहित अर्थात् स्थापक की पूजा के अनन्तर सावत्सरिक ज्योतिषी को भी यथाविधान सम्मान प्रदान करना चाहिये। सावत्सरिक की पूजा से साक्षात् बृहस्पति जी पूजित होते हैं। इन दोनों की पूजा के बाद स्थपति की पूजा करनी चाहिये। स्थपति की पूजा से साक्षात् त्वष्टा विश्वकर्मा जी पूजित होते हैं, और प्रसन्न होते हैं। वास्तु-कार्य के अधिष्ठातृदेव होने के कारण इस देव की तुष्टि आवश्यक है, जो स्थपति की पूजा से सम्पन्न होती है। इस के अतिरिक्त स्थपति की ही अधीनता में सब वास्तु-कार्य होता है। वह उसे शुभ अथवा अशुभ कर सकता है, अतः उसको सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये सभी कारीगरों को श्वेत चन्दन लगाकर, श्वेत पुष्पों से अलंकृत कर, वस्त्र आदि देकर प्रसन्न करना चाहिये। कारीगरों के साथसाथ मजदूरों की भी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। स्वर्ण, वस्त्र आदि देकर अथवा मृदु तथा प्यार के वचनों से उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये। एक शब्द में वह सब करना चाहिये, जिससे ये कारीगर तथा मजदूर प्रसन्न हों—सुमनसः स्यु.।

पीछे संकेत किया गया था कि आधुनिक स्थपतियों की हीनावस्था का क्या रहस्य है? इस सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तपुराण मे (१-१०) में एक प्रवचन मिलता है कि विश्वकर्मा के एक शूद्र से निम्न नव पुत्र उत्पन्न हुए:—

१. मालाकार (माली)	४ कुविन्दक (जुलाहा)	७ सूत्रधार राज तथा बढ़ई
२. कर्मकार (लोहार)	५ कुम्भकार (कुम्हार)	८ चित्रकार
३. शंखकार (शंख बनानेवाला)	६ कास्यकार (बर्तन बनानेवाला)	६ स्वर्णकार (सोनार)

इन मे से तीन (जिनमें सूत्रधार राज तथा बढ़ई सम्मिलित हैं) एक ब्राह्मण के द्वारा शप्त होने के कारण हीनवर्ण हो गये और यज्ञीय-कर्म से बहिष्कृत हो गये। अस्तु, विशेष विवरण यहा वाञ्छनीय नहीं।

स्थापत्य

स्थपति की योग्यता एवं उसके ज्ञान-क्षितिज के साथ-साथ स्थपतियों की विभिन्न कोटियो पर इस विवेचन के उपरान्त स्थापत्य (जो वास्तु-शास्त्र का पर्याय है) का विवेचन आवश्यक है। स० सू० मे स्थापत्य के विवेचनार्थ 'अष्टागलक्षण' नामक ४५वें अध्याय का प्रणयन है। स्थापत्य के आठ प्रधान अंग निम्नलिखित रूप से बोधव्य हैं:—

१. वास्तु-पुरुष विकल्पना

वास्तु-पुरुष का सम्बन्ध पद-विन्यास (साइट-प्लान्स) से है। इस पर विशेष विवेचन आगे के भाग (पुर-निवेश) में होगा। यहा पर इतना ही संकेत आवश्यक है, कि हिंदू स्थापत्य मे वास्तु-पुरुष-विकल्पना (रेखाचित्र एवं पद-योजना—प्लाटिंग आदि की क्रिया) प्रथम स्थान रखती है। कोई भी निवेश—भवन, पुर अथवा प्रासाद बिना इस विकल्पना के प्रारम्भ नहीं हो सकता था। प्राचीन वास्तु-पुरुष-विकल्पना अथवा पद-विन्यास प्रक्रिया का स्थान आजकल रेखा-चित्रों (प्लान्स) ने ले लिया है।

२.		
अ.	पुर-निवेश	देखिये आगे का भाग (२)
ब.	द्वारकर्म	,, ,, ,, ,, (३)
स.	रथ्याविभाग अर्थात् मार्ग-विनिवेश	,, ,, ,, ,, (२)
य.	प्राकार-निवेश (रक्षा-विधान)	,, ,, ,, ,, ,,
र.	अट्टालक-निवेश	,, ,, ,, ,, ,,
ल.	प्रतोली-विनिवेश	,, ,, ,, ,, ,,
व.	स्थानविभाग (जन-भवन, देवतायत, पुरजन-विहार आदि)	,, ,, ,, ,, ,,
३.	प्रासाद (मन्दिर निर्माण)	,, ,, प्रासादनिवेश भाग (५)
४.	ध्वजोच्छ्रिति	यही अध्याय
५.	राजवेश्म तथा राजवेश्म से सम्बन्धित भवन—सभा अश्वशाला, गजशाला आदि	,, ,, ,, भाग (३)
६.	जन-भवन (जाति एवं वर्ण के अनुरूप वसतियाँ एवं भवन)	,, ,, ,, ,, (२ व ३)
७.	यज्ञवेदी, यजमानशाला एवं कोटिहोमविधि	,, यही अध्याय
८.	राजशिविर-विनिवेश तथा दुर्ग-रचना	देखिये आगे का भाग (२)

इस प्रकार समराङ्गण के द्वारा स्थापत्य के इस अष्टाग के आठ अङ्गों में से ६ अङ्गों पर यथावसर समीक्षा होगी, अब रहे दो अङ्ग—

१. ध्वजोच्छ्रिति।

२ यज्ञवेदी, यजमानशाला तथा कोटिहोमविधि।

उन पर थोड़ा सा स्थूल रूप से यहाँ पर विवेचन आवश्यक है।

ध्वजोच्छ्रिति—

ध्वजोच्छ्रिति का अर्थ इन्द्र-ध्वज-उत्थान है। प्राप्त वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में समराङ्गण ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें इस शक्रध्वजोत्थान पर एक विस्तृत विवेचन है। स सू के १७वें अध्याय में लगभग २०० श्लोकों में इस यत्र का सागोपाङ्ग वर्णन है।

महाभारत (आ प ६४) में उपरिचर वसु के द्वारा प्रारब्ध इन्द्र-ध्वजोत्थान-महोत्सव का वर्णन है। यह महोत्सव आगे चलकर राजाओं के द्वारा एक राष्ट्रीय महोत्सव के रूप में मनाया जाने लगा। वाल्मीकि जी ने अपनी रामायण मे इस ध्वज को कई स्थलों पर यंत्रध्वज के नाम से निर्दिष्ट किया है। अयोध्याकाण्ड में (७७-६) में भरत के गिरने की शक्रध्वज-पतन से उपमा दी है। इसीप्रकार युद्ध-काण्ड में इन्द्रजित के नाग-पाश मे पडे हुए राम-लक्ष्मण की उपमा शिथिल-रज्जु इन्द्रध्वज से दी गई है।

अत: शक्रध्वजोत्थान एक पुरातन परम्परा है.—यह हम समझ सकते हैं। किसी भी नूतन कार्यारम्भ मे निमित्तावलोकनार्थ दुर्गकर्म, प्रसादकर्म, अग्निकर्म, स्थालिका-पाक, भक्ष्यपानादि में इन्द्रध्वजोत्थान एक आवश्यकीय कृत्य है—यह स सू(१७–१५–१६) का प्रवचन है। किसी भी शुभ कार्य के प्रारम्भ पर इस ध्वज का निर्माण करके इसके उत्थान से शुभाशुभ निमित्तों के परिज्ञान से तत्कार्य के शुभाशुभ का ज्ञान हो सकता है। अथच इस ध्वज के निर्माण से इन्द्र प्रसन्न होते हैं और उनके साथ अन्य देव भी जो इस यंत्र के विभिन्न भागो के अधिष्ठातृदेव हैं, वे भी प्रसन्न होते हैं और वास्तुकार्य की सफलता के लिये उनका यंत्र में भौतिक आवाहन आवश्यक है।

'शक्रध्वजोत्थान' का यह राष्ट्रीय महोत्सव दस दिन तक चलता रहता था। शक्रध्वज का कैसे निर्माण किया जाता था, कौन-कौन से अग इसके प्रकल्पित होते थे, कैसे उठाया जाता था और कैसे उत्सव के अन्त में गिराया जाता था, किन-किन अगों पर कौन-कौन देव-पद प्रकल्पित थे—इन सभी पहलुओं पर इस अध्याय में सविस्तर विवरण दिये गये हैं। यह एक प्रकार महा-यत्र सा निर्मित होता था। इसके विविधि कलेवरों मे केन्द्रीय दण्ड, पीठ, चित्रित ध्वजा तथा स्थान विशेष, लटकती हुई कुमारिकायें (गुडियों के रूप में) वाहु, रज्जु-पटक तथा कतिपय यत्र (जिनके द्वारा इसका उत्थान एवं पतन सम्पन्न होता था) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

वास्तुकार्य में इंद्र-ध्वज-उत्थापन-परंपरा का क्या मर्म है ? संभवत. स्थपति कुल भी राजन्य क्षत्रियों की भाँति इन्द्र को अपना इष्ट-देवता मानते थे। इसके अतिरिक्त 'इन्द्रध्वज'—जैसा ऊपर संकेत है—एक महायंत्र के रूप मे निर्मित किया जाता था, कहने को ध्वजा है वास्तव मे धारागृह अथवा दोलागृह के समान एक वास्तु-कृति समझनी चाहिये। इसके विभिन्न अंगों के परिशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है। कुष्य (प्रासाद अथवा मण्डप के गर्भगृह के समान) पीठ, भ्रम मूलपाद, मल्ल, इन्द्रमाता, कुमारिकायें, लटक, सूची आदि प्रधान अंगों तथा मृगाली आदि रचना विच्छित्तियो से यह एक आगाराकृति (Edifice) प्रतीत होती है। यत्र-निर्माण स्थापत्य का एक परम कौशल है जो तक्षक का विशिष्ट क्षेत्र है। इन विवरणों मे तत्कालीन तक्षक-कला की अत्यन्त प्रोन्नतावस्था की सूचना मिलती है।

यज्ञवेदी

अब स्थापत्य के दूसरे अंग जिस पर विवेचन करने का ऊपर संकेत किया गया है अर्थात् यज्ञवेदी, यजमानशाला एवं कोटिहोम—विधान उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना ही निर्देश आवश्यक है कि भारतीय वास्तु-कला का जन्म यज्ञशाला की ही क्रोड से हुआ है। यज्ञवेदियों के अति लघुकलेवर से विशाल मन्दिरों का जन्म हुआ है। वैदिक चिति प्रासादवास्तु की पूर्वज है ऐसा सभी वास्तु-विशारदों ने माना है। अतः स्थपति के लिये यज्ञशाला एवं उससे सम्बन्धित अन्य शालायें एवं यज्ञोपयोगी वेदियाँ आदि के निर्माण का ज्ञान आवश्यक ही है इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं।

स. सू. (४७वाँ अ०) में वेदिलक्षण पर जो विचार किया गया है उससे सुतरां सिद्ध है कि यज्ञ वेदियों की ही पृष्ठभूमि पर प्रासादों की निर्माण-कल्पना की गयी है। पुरातन वेदियों का सम्बन्ध विशेषकर विभिन्न यज्ञों से था। पूजावास्तु की वे प्रथम उन्नायिका थीं। कालान्तर में किसी भी शुभ अथवा धार्मिक कार्य में वेदिरचना एक अनिवार्य अंग हो गया। निम्नलिखित तालिका से इन वेदियों की वास्तु-परम्परा पर थोड़ा सा प्रकाश अवश्य पड़ेगा तथा विज्ञ पाठकों को यह भी संकेत मिलेगा कि सभा-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु के विकास में वेदि रचना ने बड़ा योगदान दिया होगाः—

संख्या	संज्ञा	अवसर	माप	विशेष
१	चतुरश्री	यज्ञ	६ हस्त (१३½ फ़ीट)	यथानाम चौकोरे
२	सर्वतोभद्रा	देवतास्थापन	८ हस्त (१२ फ़ीट)	भद्रविभूषित
३	श्रीधरी	विवाह	७ हस्त (१०½ फ़ीट)	२० कोणों वाली
४	पद्मिनी	अग्नि कार्य, नीराजन, राज्याभिषेक एवं शक्रध्वजोत्थान	६ हस्त (६ फीट)	यथानाम पद्मसंस्थान धारिणी कमलाकृति वर्तुला

स्थापत्य का स्थान

अन्त में स्थापत्यशास्त्र के प्राचीन विद्या में स्थानाङ्कन के सम्बन्ध में भी थोड़ा सा समुद्घाटन आवश्यक है। पूर्व अध्याय (३) में यह निर्देश किया जा चुका है कि वास्तु-शास्त्र का परम्परागत-विद्यास्थानों में परिगणन नहीं प्राप्त होता है। अतः इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि वास्तु-विद्या विद्या ही नहीं थी। सच तो यह है कि वास्तु वेद का ही एक अङ्ग था। चतुर्वेदों के उपवेदों से हम परिचित ही हैं। स्थापत्यशास्त्र भी उन्हीं उपवेदों में से एक था। जिसप्रकार से आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद, धनुर्वेद यजुर्वेद का उपवेद, गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद परिगणित है उसी प्रकार स्थापत्य अथर्व-वेद का उपवेद माना गया है। इसी तथ्य की दिशा में प्रो. क्रैमिश (हिन्दू टेम्पिल पृ० ११) में लिखती है—"वास्तुशास्त्र अपने व्यापक स्वरूप में तन्त्रविद्या से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का ही उपवेद है। वास्तुकला एक यज्ञीय कार्य के रूप में सनातन से परि-

कल्पित किया गया है। अतः वास्तुशास्त्र का वेदों से दोहरा संबध स्थापित होता है, क्योंकि इसका वेदाङ्ग-षट्क में से दो वेदङ्गों से सम्बन्ध है पाँचवाँ वेदाङ्ग ज्योतिष तथा छठा वेदाङ्ग कल्प (जिसमें वैदिक याग की मीमांसा है) दोनो ही वास्तुशास्त्र के अनिवार्य अंग हैं (देखिये स्थपतिलक्षण स सू. ४४-३—लेखक)। कल्पसूत्रों में परिसंख्यानप्राप्त शुल्बसूत्रों में वैदिक याग की वेदि-रचना के नियम, एवं मान आदि का प्रवचन है। उन्हीं नियमों की आधार शिला पर प्रासाद-निर्माण की प्रक्रिया प्रकल्पित हुई है।"

स. सू. का लेखक इस मर्म को पूर्ण रूप से समझता है। अतएव (देखिये पुर-निवेश अ० १०—७७)चतुर्विध स्थापत्य उपवेद के उल्लेख के साथ-साथ अन्य उपवेदों का अष्टविध चिकित्सित (आयुर्वेद), सप्तविध धनुर्वेद तथा ज्योतिष—का भी उल्लेख करते हुए, इन सभी के मूल-आचार्य कमलालय ब्रह्मा को बताया है :—

चतुः प्रकारं स्थापत्यमष्टधा च चिकित्सितम्।
धनुर्वेदश्च सप्तांगो ज्योतिषं कमलालयात्॥

७

मान-योजना

मान-योजना से तात्पर्य भवन-कार्य में आवश्यक नापजोख के लिये प्राचीन स्थपति के साधनों से है।

भारत की वास्तु-विद्या में मान का अति महत्वपूर्ण स्थान है। शुल्व सूत्रों में प्रतिपादित वेदिरचना के नियमों में प्रथम मान-योजना के दर्शन होते हैं। भारतीयों की यह पुरातन कल्पना रही कि न केवल देवकार्य (वेदि-रचना, प्रासाद-प्रतिष्ठा, मूर्ति-निर्माण) में ही मानयोजना का सम्यक् प्रतिपालन होना चाहिये, वरन्, गृह-निर्माण एवं पुर निवेश तथा मार्ग-विनिवेश आदि में भी मान का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये; अन्यथा वास्तु एवं दिशाओं का समन्वय वास्तु-मर्मों—पद के विभिन्न स्थानों, सिराओं, सन्धियों, अनु-सन्धियों, सम्पात आदि-आदि का ध्यान तथा वास्तु-कल्पना का परिपाक पूर्ण रूप से प्रकल्पित नहीं हो सकता। वास्तु-पद-विन्यास-योजना का मर्म मान-योजना ही है। जिस प्रकार आजकल हम किसी भी भवन-निर्माण को प्रारम्भ करने के पूर्व प्रथम रेखा-चित्र (ग्राफ) से पूरी-पूरी निवेश-योजना एवं मान-योजना, वास्तु की स्थिति तथा उसकी विभिन्न दिशाओं एवं उसकी बाह्य भूमियों, वसतियों एवं वातावरण के पूर्ण ध्यान के साथ-साथ दिक् सामुख्य (ओरियन्टेशन) की पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार प्राचीन स्थपति पद-विन्यास-योजना से वह सम्पादन करते थे। भेद केवल इतना ही है कि प्राचीनों के लिये यह अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य के समान था, अर्वाचीन मनमानी कर लेते हैं। मानयोजना के मर्म के समुद्घाटन में स. सू. के निम्न प्रवचनः—

"प्रमाणे स्थापिताः देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति हि।" (अ० ४०)
"पाचकः कटुतीक्ष्णाद्यैरनुसाररसैर्यथा॥
अन्वीक्ष्य विपचेत् तद्वत् स्थपतिः सर्वमाचरेत्॥" (अ० ४४-१४१)

विशेष द्रष्टव्य हैं। इन प्रवचनों में भारतीय वास्तुकला का अत्यन्त प्रौढ़ विकास एवं समुन्नत वैज्ञानिक रूप अन्तर्हित है। मानयोजना के ही अप्रतिम निदर्शन विमान-भवनों का आगे ('प्रासाद' पटल, रहस्य समुद्घाटित होगा। इसी तथ्य की पुष्टि समराङ्गण (६-२८) ने बड़े ही मार्मिक ढंग से की है, 'यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कीर्त्यते'—कोई भी निष्पत्ति अथवा निर्मिति 'मेय' कही जा सकती है।

अस्तु, मानयोजना पर स. सू. में वैसे तो एक से अधिक अध्याय हैं परन्तु हस्त-लक्षण नामक ९वें अध्याय में इसकी विशेष चर्चा है। 'मान-योजना'—इस अध्याय की दूसरी संज्ञा 'हस्त' के नाम से दी जा सकती है। "हस्त ही समस्त प्रकार के वास्तु का (निर्माणार्थ पदों—साइट्स) का हेतु (कारण) है। बिना हस्त के कोई भी निर्माण सम्भव ही नहीं। यह सभी कर्मों (स्थापत्य-कौशल के विभिन्न कर्मों का वर्णन अ० ५ में देखिये) का आधार

है। मान, उन्मान एवं विभाग आदि अनिवार्य वास्तु-योजना के अंगों के निर्णय करने में एकमात्र सहायक हस्त ही तो है।" भवन तथा भवन-गत प्रतिमा तथा प्रतिमा-गत समस्त प्रकार की मान-व्यवस्था जैसे परिधि, उदय (ऊँचाई) विस्तार तथा लम्बाई का एक मात्र हस्त ही साधन है। यह हस्त जिसे गज कहिये या फुट कहिये ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ट प्रभेद से तीन प्रकार का माना गया है।

आजकल के गज को गिरह में बाँटते हैं, फुट को इंचों तथा सेन्टीमीटरों में। प्राचीन हस्त जिसको आधुनिक नाप से डेढ़फुटा कह सकते हैं, निम्नप्रकार से अपनी विभिन्न नाप-मालिका में विभाजित था :—

मान-विभाजन (Units of measurement)

८ रेणु	=	१ वालाग्र
८ वालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षायें	=	१ यूका
८ यूकाये	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ ज्येष्ठ अंगुल
७ यवमध्य	=	१ मध्यम अंगुल
६ „	=	१ कनिष्ठ अंगुल
२४ अंगुल	=	१ हस्त

हस्त-विभाजन

पर्यन्तस्थ चित्र को देखिये। इसमें २४ अंगुल बने हैं। इसकी त्रिविध संज्ञाओं का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ पर इसकी विभाजनप्रक्रिया समझ लेना चाहिए। इसमें तीन-तीन अंगुल पर एक-एक पर्वरेखा करने से आठ पर्वरेखायें बनती है। चौथी पर्व रेखा पर आधा हस्त अथवा गज होता है। प्रत्येक पर्वरेखा पर पुष्प का चिन्ह करना चाहिये। अथच गज के मध्य भाग से आगे के पाँचवें अंगुल के दो भाग, आठवें अंगुल के तीन भाग तथा बारहवें अंगुल के चार भाग करने चाहिये। इसप्रकार इस प्रक्रिया से प्राचीन गजों (हस्तों) का निर्माण होता था। स्थपति के लिये उपयुक्त अन्य माप-दण्डों पर इस अध्याय के अन्त में उल्लेख किया जायेगा।

हस्तनिर्माण-काष्ट

हस्त का निर्माण जिस किसी भी वृक्ष की लकड़ी से नहीं हो सकता। हस्त की लकड़ी खदिर (खैर) अञ्जन, वंश (बांस) आदि वृक्षों से लेनी चाहिये। पुन. यह लकड़ी श्लक्ष्ण (चिकनी तथा सुन्दर) हीर (लम्बी–सर्पाकृति) मनोरम तथा सारवत (पुष्ट) होनी चाहिये। जो लकड़ी गाठवाली, (ग्रन्थिल) छोटी, (लघु) जली हुई (निर्दग्ध), पुरानी (जीर्ण) तथा फटी (विस्फुटित), कमज़ोर, (अदृढ) तथा कोटराक्रान्त (पशु पक्षियों के कोटरों वाली लकड़ी खोखली हो जाती है) दारू (लकड़ी) हस्त-निर्माण के लिये इष्ट-दायक नहीं (स. सू. ६. १०–१२)

हस्त-देवता

उपर्यंकित रेखाचित्र में हस्त-देवता-विन्यास प्रत्यक्ष है। इस चित्र में शास्त्रादेश के अनुरूप मध्य में ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा के वाम भाग में प्रथम पर्व (मध्य से गणना कीजिये) पर अग्निदेव हैं, उसी प्रकार दक्षिण पर्व पर यम (काल)। पुनः उसी क्रम से दूसरे बाँये पर्व पर विश्वकर्मा तथा दाहिने पर्व पर वरुण विराजमान हैं। इसी प्रकार फिर चलिये। तीसरे बाँये पर्व पर वायु तथा दाहिने पर्व पर धनद—कुवेर जी की प्रतिष्ठा है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों के अनुसार कुवेर का उल्लेख न होकर सोम का उल्लेख है। शेष चौथे, बाँये और दाहिने पर्वों पर क्रमशः रुद्र तथा विष्णु की प्रतिष्ठा प्रकल्पित की गई है।

देवपीड़न

स. सू. में प्रतिपादित (६. १६-२७) देव-पीड़न का क्या मर्म है—यह समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त कोई भी देव गज उठाते समय स्थपति के हाथ से दबना नहीं चाहिये अन्यथा अशुभ आपतित होते हैं। हस्त के देव-स्थानों अर्थात् पुष्पाङ्कित पदों को छोड़कर ही गज उठाना चाहिये। इसके विपरीत विरुद्धाचरण से कर्ता-स्थपति एव कारक-यजमान गृहस्वामी दोनों के लिये अशुभ है। अतः हस्त-धारण में देवपीड़न सर्वथा वर्ज्य है।

गज का कौन स्थान शुभ है तथा कौन सा अशुभ यह समझ लेना चाहिये:—

शुभ	अशुभ
१. ब्रह्मा तथा अग्नि का मध्यभाग	१. ब्रह्मा तथा यम का मध्यभाग
२. विश्वकर्मा तथा अग्नि ,,	२. वरुण तथा कुवेर ,, ,,
३. यम तथा वरुण ,,	
४. वायु तथा विश्वकर्मा ,,	
५. रुद्र तथा वायु ,,	
६. विष्णु तथा कुवेर ,,	

त्रिविध हस्तसंज्ञायेः—

हस्त के जेष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ प्रभेदों का संकेत किया जा चुका है। इनकी संज्ञायें क्रमश. 'प्राशय' 'साधारण' एवं 'शय' अथवा 'मात्राशय' हैं। हस्त २४ अंगुलों का होता है। जिस हस्त के प्रत्येक अंगुल ८ यवों के परिमाण से प्रकल्पित हो उसे ज्येष्ठ अथवा 'प्राशय' हस्त कहा गया है। इसी प्रकार जिस हस्त के अंगुल सात यवों से प्रकल्पित हो वह मध्यम अथवा 'साधारण' हस्त के नाम से पुकारा जाता है। अथच तीसरी कोटि के हस्त (कनिष्ठ अथवा 'शय' अथवा 'मात्राशय') के प्रत्येक अंगुल ६ यवों से प्रकल्पित होते हैं।

हस्त-योजना

किस हस्त से कौन-कौन वास्तु-प्रकारों की माप करनी चाहिये इस ज्ञातव्य के लिये निम्न तालिका पथ-प्रदर्शन कर सकती है.—

'प्रायश' का प्रयोग

१ पुर, खेट या ग्राम के निवेश मे विभाग आयाम, विस्तार, परिखा, द्वार, रथ्या (छोटी सड़कें) मार्ग (बडी सड़कें) सीमा-क्षेत्र, वन, उपवन, देशातर-विभाजन, माग-माप-योजना, क्रोश, गव्यूति आदि के प्रमाण ।

२ प्रासाद (मन्दिर) सभा तथा भवन-निवेश में ।

साधारण का प्रयोग

१. तलों की ऊँचाई, मूलपाद (नींव आदि), भूमि के नीचे के जलोद्देश ।
२ दोलायें, धारा-यन्त्र, पात-यन्त्र (आधुनिक नल) तथा यन्त्र आदि ।
३. गुहामंदिर (शैलखात-निकेत), सुरंग तथा पगदण्डी आदि ।

शय अथवा मात्राशय हस्त का प्रयोग

(१) आयुध, धनुष का दण्ड, यान, शय्या तथा आसन ।
(२) कूप, वापी ।
(३) हाथी, घोडे तथा मनुष्य
(४) गरारी (इक्षुयन्त्र)
(५) शिल्पियों के औज़ार
(६) नौकायें, छाते, ध्वजायें तथा बाजे (आतोद्य)
(७) रसोई के बर्तन, ढोल तथा (नल्वदण्ड)

मान-वर्ग—

पुरातन वास्तुपरम्परा में जिन-जिन मानों एव मापों का प्रयोग होता था उसका एक प्रकार से निघण्टु इस निम्न तालिका में निभालनीय है । विशेष संकेत यह है कि इन सभी मापों की 'यूनिट' अंगुल थी ।

१ अंगुल	= १ मात्रा		११ अंगुल	= १ गोकर्ण
२ ,,	= १ कला		१२ ,,	= १ वितस्ति
३ ,,	= १ पर्व		१४ ,,	= १ पाद
४ ,,	= १ मुष्टि		२१ ,,	= १ रत्नि
५ ,,	= १ तल		२४ ,,	= १ अरत्नि
६ ,,	= ¼ हस्त		४२ ,,	= १ किष्कु
७ ,,	= १ दिष्टि		८४ ,,	= १ व्याम तथा पुरुष
८ ,,	= १ तूणि		९६ ,,	= १ चाप तथा नाडीयुग
९ ,,	= १ प्रादेश		१०६ ,,	= १ दण्ड
१० ,,	= १ शयताल		३० धनुष (चाप)	= १ नल्व
			१००० ,,	= १ क्रोश

२००० ,, = १ गव्यूति
४ गव्यूतियाँ = १ योजन

गणना (अंकसंख्या)—

गणना का मान में महत्वपूर्ण स्थान है। अतः समराङ्गण ने अन्त में निम्न 'गणना' पर भी प्रवचन किया है। २० संख्याओं मे सम्पूर्ण गणना (गणित) का समावेश निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

१.	एक	१	११	खर्व	१००००००००००
२.	दश	१०	१२	निखर्व	१०००००००००००
३.	शत	१००	१३	शंकु	१००००००००००००
४.	सहस्र	१०००	१४	पद्म	१०००००००००००००
५.	अयुत	१००००	१५	अम्बुराशि	१००००००००००००००
६.	नियुत	१०००००	१६	मध्यम	१०००००००००००००००
७.	प्रयुत	१००००००	१७	अन्त्य	१००००००००००००००००
८.	अर्बुद	१०००००००	१८	पर	१०००००००००००००००००
९.	अन्यर्बुद	१००००००००	१९	अपर	१००००००००००००००००००
१०.	वृन्द	१०००००००००	२०	परार्ध	१०००००००००००००००००००

कालसंख्या—

आँख का निमेष =निमेष
१५ निमेष = १ काष्ठा
३० काष्ठायें = १ कला
३० कलायें = १ मुहूर्त
३० मुहूर्त = १ अहोरात्र (दिनरात)
१५ अहोरात्र = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतुयें = १ अयन
२ अयन = १ वर्ष

हस्त (गज) के साथ-साथ लगभग सात प्रकार के और सूत्र शिल्पियों के सहायक थे। यह परम्परा जैसी प्राचीन एवं मध्यकाल मे थी, वैसी ही आज भी है।

शिल्पी के योग्य जिन आठ प्रकार के सूत्रों का संकेत किया गया है उनकी कौतूहल जिज्ञासा में निम्न श्लोक समुद्धृत किया जाता है:—

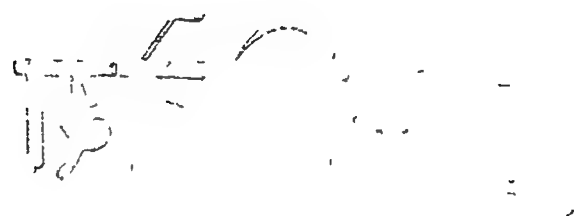
सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं,
कार्पासकं स्यादवलम्बसंज्ञम्।
काष्ठं च सृष्ट्यालयमतो विलेख्य—
मित्यष्टसूत्राणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥

सूत्रविदों ने आठ प्रकार के सूत्र माने हैं:—

१	दृष्टिसूत्र	एकमात्र नजर फेर कर चुनाई आदि का अन्दाजा लगाना कि ठीक जा रही है कि टेढ़ी-मेढी।
२.	हस्त	(गज)
३.	मूंज की डोरी	
४.	सूत की डोरी	
५	अवलम्ब	(जिसे राजा लोग साहुल कहते हैं)।
६.	काष्ठ (काठ कोना)	(जिसे राज लोग गुनियाँ कहते हैं)।
७.	सृष्टि	(रेवल)
८.	परकाल	

ये आठों सूत्र पर्यन्तस्थ रेखाचित्र (पृ० ७६ [अ]) से स्पष्ट हैं।

पुर-निवेश



पूर्व-पीठिका

१

विषय-प्रवेश

वास्तु-विद्या के क्षेत्र का विवेचन करते हुए हमने देखा कि समराङ्गण के प्रवचन— "देशः पुरं निवासश्च समावेशमासनानि च।" (अ० १ श्लोक ४) में देशनिवेश के उपरान्त 'पुरनिवेश' का नम्बर आता है। परन्तु देशनिवेश का सम्बन्ध शास्त्रीय की अपेक्षा राजनीतिक अधिक है, क्योंकि राज्यसत्ता के द्वारा ही देश-विशेष की सीमा, उस पर आधिपत्य तथा प्रभुत्व का निर्धारण होता है। अतः विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से वास्तु-विद्या के क्षेत्र में देश-निवेश के नियमों का संकीर्तन न होकर पुर-निवेश के नियमों का ही प्रथम संकीर्तन होता है। अतएव 'पुरनिवेश' की प्राथमिकता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसी दृष्टिकोण से हमने भी समराङ्गण के अध्ययन में पुर-निवेश को ही प्राथमिकता दी है।

इस पटल के विषय-प्रवेश में ही यह संकेत कर देना समुचित प्रतीत होता है कि यद्यपि इस पटल को 'पुरनिवेश' नाम दिया गया है तथापि पुर के पर्यायवाची नगर और नगर के भेद—पत्तन, पुटभेदन, खेटक, खर्वाटक, ग्राम, दुर्ग आदि भी—पुर-निवेश के ही विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अतः उनके निवेश सम्बन्धी विशेष नियमों और उनके विकास से सम्बन्ध रखने वाले वास्तुतत्व, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक घटक का विवेचन करना इस पटल की पूर्णता के लिये परमावश्यक होगा।

पूर्व इसके हम पुर-निवेश, ग्राम-निवेश अथवा दुर्ग-निवेश की समीक्षा करें, संस्कृति एवं सभ्यता के आधारभूत व्यापक सिद्धान्तो की ओर—जिनके द्वारा देशविशेष की आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति का विकास होता है—किञ्चित् संकेत कर देना अधिक अच्छा होगा। यह किसी से छिपा नहीं है कि देशविशेष की सभ्यता के विकास में वहाँ के निवासियों की वेश-भूषा, भोजन-भजन और रहन-सहन की शैलियों में एक विकास तथा प्रौढता के हमें दर्शन होते हैं। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है उसी प्रकार समाज संस्कृति का दर्पण कहा जा सकता है। जिस समाज की जैसी रूप-रेखा हमारे देखने में आती है, उसीसे हम उस समाज की संस्कृति एवं सभ्यता का अनुमान कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य के सामाजिक जीवन पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों (जलवायु, भूमि, पर्वत, समुद्र, सरिता, वृक्ष इत्यादि) का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। मानव-सभ्यता की कहानी मानव के प्रकृति के साथ संघर्ष की कहानी है। जहाँ प्राचीन मानव ने प्रकृति का दासत्व स्वीकार कर उसका उपासक बन उसी की पूजा में महान् दर्शनों, धर्म तथा काव्य की उद्भावना की, वहाँ आधुनिक मानव, उसके विपरीत प्रकृति को पराभूत कर उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत चेष्टा करता हुआ महान् विज्ञान का निर्माण करने में सफल हुआ है। इन दोनों के क्या परिणाम हुए—यह तत्ववेत्ताओं से छिपे नहीं हैं। जब तक मानव प्रकृति की पूजा में संलग्न रहा संसार में शांति एवं सुख का प्राधान्य था।

आज विपुल साधन एवं ऐश्वर्य के होते हुए भी हम अशाति एवं दुःख के नभोमण्डल के नीचे निमग्न हैं। विज्ञान बुरी चीज नही है। वस्तु-विशेष के विशिष्ट ज्ञानार्जन का ही नाम विज्ञान है। परन्तु धर्म एवं दर्शन की ज्योति से शून्य विज्ञान शुष्क और नीरस स्थाणु के सदृश होता है।

अतः इस देश में प्राचीन काल से मानव ने अपनी सभ्यता के विकास के प्रयत्न मे तथा जीवन-संघर्ष की सामान्य जटिलतओं में जिस प्रकार की रहन-सहन व्यवस्था की, उसमें हमें आध्यात्मिकता एवं धार्मिक उपचेतना तथा प्रेरणा के विशेष दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए वैदिक कालीन जीवन को ही ले लीजिये। उस समय का आर्यों का जीवन अत्यन्त सरल था। छोटे-छोटे भवन छोटे-छोटे ग्राम थे।

आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। जब कुछ समय पश्चात् लोगों को शिक्षा, आराधना, व्यवसाय, वाणिज्य तथा अन्य अभीसिप्त कार्यों के सम्पादनार्थ किसी ग्राम-विशेष अथवा स्थान-विशेष से एक सामान्य सम्बन्ध बनाये रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो कालान्तर में वह ग्राम अथवा स्थान महान् नगरों के रूप में परिवर्तित हो गया।

'नगर' एवं 'नागरिक' ये दोनों शब्द एक दूसरे के उद्बोधक हैं। जैसे नागरिक होंगे वैसे ही नगरों के विकास एवं उनकी वृद्धि की सम्भावना होगी। सच तो यह है कि नगर एक प्रकार से नागरिकों की संस्कृति एवं सभ्यता—दोनों का एक जागरूक चित्र होता है। जिस प्रकार के नागरिकों की बहुलता एवं प्रमुखता होगी, जैसा उनका रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार, वाणिज्य तथा व्यवसाय होगा, वैसी ही छाप उस नगर पर जिसके कि वे नागरिक हैं, अनिवार्यरूपेण पड़ेगी। भारत के प्राचीन प्रसिद्ध नगरो को देखिये। उदाहरण के लिये नालन्दा का विकास एक गुरु गृह मुनि-कुटीर अथवा साधारण साधु-उटज से हुआ था। शनैः शनैः विद्या और विनय, आचार तथा ज्ञान, धर्म, और संस्कृति—इन आधार-शिलाओं पर एक महान् नगर—विश्वविद्यालयीय नगर—यूनिवर्सिटी टाउन का जन्म हुआ।

पाठक साधारणतया परिचित ही होंगे कि प्राचीन भारत की शिक्षाप्रणाली एवं अनु-संधानशैली के अनुसार विश्वविद्यालय के कुलपति का कुलपतित्व तभी सार्थक होता था जब कि उसके कम से कम दस हजार मेधावी शिक्षित, दीक्षित, एवं अनु-सधान-कार्य-व्यस्त शिक्षित शिष्य होते थे। नालन्दा, तक्षशिला, नैमिषारण्य, नवद्वीप, आदि आदि विभिन्न प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय नगर इसी कोटि मे आते हैं।

नगर-निवेश की वास्तु-समीक्षा के पूर्व भारतीय नगरों के विकास पर थोड़ा सा दृष्टि-पात कर देना अनुपयुक्त न होगा। नगर-निवेश, वास्तु-शास्त्र—शिल्प-शास्त्र का एक प्रमुख अंग है और विभिन्न पुरातन शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथों मे प्रतिपादित नगर-निवेश-विषयक नियमों के परिशीलन से भारतीय नगर-विकास की प्राचीनता भी स्वय सिद्ध है। फिर भी, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह विचार करना आवश्यक है कि नगर-विकास के मूलाधार क्या हैं? और इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री का क्या स्वरूप है? लेखक के 'प्रासाद' पटल आदि विभिन्न पटलों मे तत् तत् वास्तु की प्राचीनता पर पृथक्-पृथक् विवेचन किया ही गया है। अतः मानव-सभ्यता के प्रमुख चिन्ह वास्तुकला की रूपरेखा का समुद्घाटन पाठकों को यत्र तत्र उन पटलों मे प्रचुर परिमाण में मिलेगा। अतः उसकी पुनरावृत्ति अथच पिष्टपेषण

इस पटल में उचित नहीं है। यहाँ पर इतना संकेत ही पर्याप्त होगा कि भारतीय वास्तु शास्त्र बहुत पुराना है। वास्तु-विद्या की एक विहङ्गम दृष्टि में हमने देखा कि वास्तु-शास्त्र का विवेचन न केवल वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में ही वरन् पुराण, आगम, अर्थशास्त्र आदि अ-वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। कुछ पुराण, अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति इत्यादि ग्रंथ ईसवी पूर्व के हैं। अतः वास्तु-शास्त्रीय परम्परा का शास्त्रीय रूप ईसा से कम से कम एक हजार वर्ष प्राचीन माना जा सकता है।

अतः इस प्रकार जब वास्तु-शास्त्रीय-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है तो तत् प्रतिपादित नगर-निवेश (पुरनिवेश) की प्राचीनता में दो रायें नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार व्याकरण का विकास अथवा निर्माण भाषा के विकास पर आश्रित रहता है—भाषा के सम्यक् विकास के बिना उसका व्याकरण कैसा? उसी प्रकार नगर आदि वास्तु अंगों के पूर्ण विकास के बिना नगर आदि उनके निवेश-नियमों एवं सिद्धान्तों का ग्रथन कैसा? इस दृष्टि से भारतीय नगरों की प्राचीनता पर विचार करते २ ईसवी शताब्दी से पूर्व बहुत दूर पहुँच जाते हैं।

अतिप्राचीन वेदों में भी हमें नगर-निर्माण एवं नगर-निवेश के प्रोज्ज्वल दर्शन होते हैं जिनसे वैदिक-काल की नागरिक-सभ्यता तथा विकासित रहन-सहन के तरीकों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। 'वैदिक' युग काफी सभ्य एवं समृद्ध युग था—यह तो सभी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। वेदों में वसति, पुर, दुर्ग एवं भवन सम्बन्धी विभिन्न विपुल संकेतों से तत्कालीन वास्तु-विकास का प्रबल प्रमाण प्राप्त होता है। नगर-निवेश के नियमों का भले ही सम्यक् प्रचार न हो पाया हो, किन्तु जहाँ तक नगर निर्माण एवं नगर-विकास का सम्बन्ध है उसके सुदृढ एवं सुस्पष्ट निदर्शनों का अभाव नहीं। दत्त महाशय के शब्दों में (cf T Planning in Ancient India) "निश्चय ही वे लोग जो लौहदुर्गों का निर्माण कर सकते थे, स्तम्भबहुल विशाल भवनों के निवेश में दक्ष थे तथा सुदीर्घ पुरों का विन्यास कर सकते थे वे निश्चय ही नागरिक कलाओं के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नहीं कहे जा सकते।"

इसके अतिरिक्त वैदिक-इन्डेक्स के परिशीलन से भी यही तथ्य निकलता है। मैकडानल तथा कीथ—इन महाशयों ने इसी इन्डेक्स में वैदिक पुर पर जो प्रकाश डाला है वह वैदिक नगरों के विषय में भी चरितार्थ होता है। परन्तु यह दुर्भाग्य-विलसित ही कहा जा सकता है कि ये दोनों विद्वान् इन पुर-सम्बन्धी बहुल संकेतों के होते हुए भी—यह कहते हैं — "On the whole it is hardly likely that in early vedic times city-life was much developed"—अर्थात् साराशतः यह कहना बहुत कम संभव है कि आदि वैदिक युग में नागरिक जीवन विकास एवं समृद्धि को प्राप्त हो चुका था।

वैदिक 'पुर' वाची शब्दों के पीछे 'पृथिवी' (चौड़े) 'उर्वी' (विस्तृत) 'आयसी' (लौहिक या लौहमय) 'शारदी' (शरदऋतु सम्बन्धी) 'शत-भुजी'—शत भित्ति वाले अथवा शत स्तम्भों वाले—ऐसे विपुल संकेतों के होते हुए भी वैदिक जीवन की ग्रामीणता ही सिद्ध करना कहा तक संगत है? वास्तव में वैदिक जीवन ग्रामीण तो था ही नागरिक भी था। प्राचीन, पराचीन एवं आधुनिक भारत की मुख्य सभ्यता तो ग्रामीण ही रही है। भारतीय जीवन में ग्रामीणता का सदैव प्रमुख स्थान (सनातन से) रहा है तथा यह स्वाभाविक ही

है कि जिस देश मे नगरो की अपेक्षा ग्रामो की सख्या बहुत अधिक हो, जिस देश की जन संख्या का बहुत बड़ा भाग ७५ प्रतिशत से भी अधिक ग्रामवासी हो वहाँ की सभ्यता मे ग्रामजीवन की झलक न हो—यह कैसे सम्भव है।

अथच ग्राम और नगर—इन दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सच तो यह है कि ग्राम तथा नगर का विभेद परिमाण मात्र है। साधारण छोटे छोटे ग्राम ही तो कालान्तर मे वाणिज्य, व्यवसाय, शिक्षा-स्थान अथवा तीर्थस्थान आदि विभिन्न संस्कृति एवं सभ्यता के मूल कारणों के कारण विशाल नगरो में परिणत हो जाते हैं।

उत्तर-वैदिक काल एवं सूत्र-काल मे भी वैदिक सभ्यता की ही प्रबल छाप रही। आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का सुसम्बद्ध इतिहास महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म के समय से ईसासे लगभग पाच सौ वर्ष पूर्व—प्रारम्भ होता है। महात्मा बुद्ध के समय मे भारत मे राजगृह, अयोध्या, वाराणसी, कौशाम्बी, मथुरा, मिथिला, साकेत, उज्जायेनी वैशाली आदि विभिन्न नगरो (दे० राइसडेविड्स—Buddhist India p. 82) के प्राप्त संकेतों से तत्कालीन नगर-निवेश के विकास तथा भारतीय नगरों की प्राचीनता का केवल आभास ही नहीं पुष्ट-प्रमाण भी मिल जाता है। क्योंकि इन सभी नगरों के विकास की अपनी अपनी एक कहानी होगी जो कालान्तर में—बुद्ध के समय सुविकसित एवं समृद्ध नगरों मे परिणत हो गये थे। राइस डेविड्स महाशय के मत मे नगर-निवेश की रूपरेखा का यद्यपि पूर्ण पता नहीं प्राप्त होता है परन्तु उत्तुंग भित्तियों, परिखाओं एवं प्राकारों के वर्णन एवं उनके द्वारा सुरक्षित नगरों के विवरणों से अवश्य निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक बड़े-बड़े नगरों का निर्माण हो चुका था तथा उन नगरों की रक्षार्थ उनके चारों ओर प्राकारों, परिखाओ तथा उत्तुंग भित्तियों का निर्माण किया जाता था। दुर्ग-निर्माण तो वैदिक युग मे ही काफी सुसमृद्ध था।

महागोविन्द नामक एक वास्तुवित् ने गिरिव्रज नामक ४½ मील की परिधि मे एक दुर्ग को बनाया था—यह राइस साहब ने लिखा है (दे० B India)। इसके अतिरिक्त बुद्ध भगवान् के समकालीन प्रसिद्ध राजा बिम्बसार ने राजगृह नामक नगर का ३ मील में निवेश किया था। इन उपर्युक्त जिन नगरों के सम्बन्ध में चर्चा की गई है वह 'दीघनिकाय' (१६. ३६) नामक प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ के निम्न पद्य से सुस्पष्ट है:—

दन्तपुरं कालिङ्गानामस्सकानाञ्चपोतनम्।
महिस्मती अवनीतम सोवीरानाञ्च॥
मिथिला च विदेहानाम् चम्पा अङ्गेसु माहिता।
वारायसीच-कासीनम् एते गोविन्द-मापिता॥

बौद्ध-साहित्य में यद्यपि नगर-निवेश के नियमों के विपुल विवरण पर्याप्त संख्या मे नहीं प्राप्त होते हैं तथापि अन्य वास्तु-सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं उनसे तत्कालीन नगर-निर्माण-कला एवं नगर-निवेश Town Planning के विकास एव वृद्धि का पक्का अन्दाजा लगाया जा सकता है। बौद्ध-साहित्य भवन-निर्माण-विवरणो से इतना ओत-प्रोत है कि बहुत से स्थल वास्तु-शास्त्रीय-सन्दर्भ से—प्रतीत होते है। इन विभिन्न स्थलों की सूचना हम पहले ही दे चुके हैं।

बौद्धारामों एवं बौद्ध-विहारों की करुणा और शान्ति, अहिंसा और सत्य, सरलता तथा सौजन्य की गाथा गाने वाले इन वास्तु-विवरणों के इस निर्देश के उपरान्त अब थोड़ा सा रामायण और महाभारत के महाकाव्य-काननों में भ्रमण किया जावे।

रामायण के विषय में 'सिविक्स एण्ड नेशनल आइडियल्स' नामक अपनी पुस्तक में सुश्री सिस्टर निवेदिता लिखती हैं (देखिये पत्र ६-७)—"वाल्मीकि का यह काव्य बहुत सम्भव है अथवा सत्य ही है कि कवि की अपनी अतिप्रिया अयोध्या महानगरी के पूर्व नृपों के पौराणिक आख्यानों के सजीव चित्रों का चित्रण तद्विषयक श्लाघातिशय के कारण तो नहीं प्रादुर्भूत हुआ (अर्थात् रामायण की रचना का कारण वाल्मीकि की प्रिय नगरी अयोध्या की प्रशंसा है)।" अयोध्या नगरी तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वास्तु के वर्णन में कवि की रागात्मिका-प्रवृत्ति एवं तज्जन्य आह्लादातिशय का पूर्ण आभास मिलता है। उत्सव विशेष के अवसरों पर अयोध्या-सौन्दर्य में कवि विभोर हो जाता है। अयोध्या के प्रासादों, तोरणों एवं अट्टों में कवि अपने को विस्मृत कर देता है। वाल्मीकि की नागरिक-प्रियता अयोध्या तक ही नहीं सीमित है। लंका के वर्णन को लीजिये। यहां पर कवि की नागरिकता का चरमोत्कर्ष देखने को मिलेगा। हनूमान् के प्रति लंका-द्वार-रक्षिका नारी के ये वचन—"अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवङ्गम" वास्तव में भारतीय नागरिकता-द्योतक शब्दों में अपना सानी नहीं रखते।

रामायण में इतस्ततः नगर-विवरणों की इतनी भरमार है जिससे तत्कालीन नागरिक-सभ्यता एवं नगर-निर्माण-कला के पूर्ण विकास का पता लगता है—इसमें सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता।

डा० आचार्य के शब्दों में (देखिये Indian Architecture according to Manasara page 17)—अयोध्या की नगर-निवेश-रूपरेखा मानसारीय तथा अन्य शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथों में प्रतिपादित नगर-निवेश के हूबहू-समान प्रतीत होती है। रामायण के प्रथम सर्ग (१. ५. १०—१५) तथा तृतीय सर्ग (लंकावर्णन) को देखिये—

हाप्किंस महाशय भी तो यही लिखते हैं—(देखिये J. A. O. S. 13 under City) "अर्थात् महाभारत एवं रामायण में वर्णित नगर-निवेश के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि वहाँ राजा, राजकुमारों, प्रधान अमात्यों पुरोहितों तथा सेनानायकों के महल तो निर्मित होते ही थे साथ ही साथ साधारण आवासभवनों (जिनमें मध्यमवर्ग के नागरिकों के अपेक्षाकृत बड़े घेरों में विभिन्न प्राकार तथा प्रांगण भी होते थे) तथा इन विशाल प्रासादों के अतिरिक्त विभिन्न सभागृह, स्थानक-मण्डप तथा व्यवसाय-वीथियां (स्वर्णकार तथा अन्य विभिन्न कलाकारों की कार्यशालायें) भी विद्यमान थीं।"

इस प्रकार महाकाव्य-कालीन नगर-विकास एवं नागरिक जीवन के अत्यन्त प्रोज्ज्वल रूप में दो रायें नहीं हो सकती हैं। राजेन्द्रलाल मित्र महाशय इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर अपने 'इन्डो आर्यन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में (देखिये पृ० २१—४) लिखते हैं:—"देवायतन, सभा, प्रासाद, शिविर तथा विमान आदि विभिन्न एवं विपुल-संख्यक वास्तु-शब्दों को बार-बार इन वर्णनों में (अयोध्या वर्णन) देखकर किस को उस समय की अत्यन्त विकसित नागरिक वास्तुकला (नगर-निवेश-क्रम) का पूर्णाभास नहीं

प्राप्त होगा ? क्या ये शब्द जो अत्यन्त उदीयमान वास्तुकला के अभिव्यञ्जक हैं कभी छप्पर वाले मकानों अथवा झोपड़ियों के लिये भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं ? ऐसे नगर-विवरणों को काल्पनिक अथवा कविकल्पना की उड़ान कहना कहाँ तक न्यायसंगत है ?"

स्थानाभाव के कारण महाभारत के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि महाभारती कथा की भी यही कथा है। द्वारका आदि महानगरियों एवं इन्द्रप्रस्थ आदि अत्यन्त प्रसमृद्ध नगरों के वर्णन से भी उपर्युक्त रामायण-निष्कर्षों की ही पुष्टि होती है।

'नगर-निवेश' के ऐतिहासिक सिंहावलोकन मे लेखक ने पुराणों की पुण्य भूमि पर विचरण नहीं किया और न आगमों के अगाध सलिल में डुबकी ही लगायी—जैसा अन्य पटलों में आनुषङ्गिक विवेचन मे किया गया है। अत. लेखके की यह त्रुटि (Omission) पाठक की समझ मे कैसे आवे ? बात यह है कि रामायण, महाभारत तथा अधिकाश पुराण एक प्रकार से समकालीन ही हैं। अत. महाकाव्यकालीन नगर-विकास एवं नागरिक सभ्यता के दिग्दर्शन मात्र से पुराणों में उसका चारितार्थ्य प्रकट है। अथच आगे (उत्तर पीठिका में) नगर-निवेश-नियमों एवं सिद्धातों की समीक्षा के अवसर पर आगमों तथा पुराणों में प्रतिपादित एतद्विषयक सामग्री की यथासंभव समीक्षा होगी। अत. यहाँ पर इस स्तम्भ से अग्रसर हो विख्यात विष्णुगुप्त के कौटिलीय अर्थशास्त्र के कान्तार मे पदार्पण किया जावे।

कौटिलीय अर्थशास्त्र की प्राचीनता में पुष्ट प्रमाणों से विद्वानों ने यह सिद्ध ही कर दिया है कि कौटिल्य का समय इसवीय पूर्व चतुर्थ शताब्दी पीछे ही आता। है अतः रामायण एवं महाभारत के काल की नागरिक-सभ्यता एवं नगर-जीवन की पुष्टि तथा नगर-निवेशों पक्रम की सुविकसित रूप-रेखा का प्रामाण्य कौटिलीय अर्थशास्त्र से आपाततः हो ही जाता है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ मे वास्तु-सिद्धातों एवं उनके विवरणों पर लगभग सात अध्याय हैं जिनमें नगर-निवेश (T. Planning) के विवरणों की भरमार तो है ही साथ ही साथ दुर्ग-निवेश, शिविर-गृह, एवं वास-गृह आदि पर भी अत्यन्त सुसमृद्ध सामग्री मिलती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र की इस विपुल वास्तु-सामग्री का यत्र तत्र सर्वत्र यथोचित स्थानों में प्रयोग किया जायगा ही अतः आगे बढ़ना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय पुरों के विकास एवं पुर-विषयक वास्तु-कलात्मक सामग्री प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती है जिसमे भारतीय पुरों की प्राचीनता तथा तत्सम्बन्धी वास्तु-तत्व-विवरणों की सत्यता में असन्दिग्ध प्रामाण्य प्रस्तुत किया जा सकता है। अथच भारतीयो की नागरिकता एवं नागरिक सभ्यता भी इससे सुतरा सिद्ध होती है। भारतीयों का आदर्श यद्यपि आध्यात्मिक विशेष था तथापि भौतिक विभव एवं ऐश्वर्य मे भी उन्होंने किसी भी प्राचीन देश से कम उत्कर्ष नहीं प्राप्त किया यह निश्चित रूप से सिद्ध किया जा सकता है।

२

भारतीय नगर-विकास

अभीतक हम नगर-निर्माण एवं नागरिक-जीवन सम्बन्धी प्राचीनताद्योतक विशाल पुरातन साहित्य के कतिपय स्थलों का एक मात्र स्थूल दर्शन कर रहे थे। अब हम नगर-विकास के कारणों पर थोड़ा सा ध्यान देंगे। नगरों की उत्पत्ति कैसे हुई? उनके विकास तथा उनकी वृद्धि के कौन-कौन साधन प्रस्तुत हुए? इन प्रश्नों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैसे तो नगर-विकास को हम दो दृष्टियों से माप सकते हैं। कुछ तो नगर ऐसे हैं जो अपने आप स्वतः विकसित हुए हैं तथा इसके विपरीत कुछ किसी व्यक्तिविशेष, संस्था-विशेष अथवा व्यवसाय-विशेष के आश्रय से विकास को प्राप्त हुए। परन्तु ये दोनों मत सर्वांश में सत्य भी नहीं हैं। सम्भवतः कोई भी प्राचीन नगर ऐसा न हो जो पूर्णरूप में स्वतः विकसित हुआ हो अथवा जो अविकल किसी दूसरे के आश्रय में ही पनपा हो। प्रत्येक नगर के विकास में अपना अपना व्यक्तित्व छिपा है, परन्तु अन्य विकास-घटक भी होते हैं। अतः मध्यम मार्ग का ही अवलम्ब न करके सर्वत्र विकास का प्रसार देखने को मिलेगा।

बहुत से नगर कुछ ग्राम-समूहों के पारस्परिक आदान प्रदान जैसे हट्ट, तालाब, सरिता, मन्दिर, कूप आदि के आश्रय से कालान्तर में स्वतः एक विशाल नगर में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार के विकास को हम प्रथम कोटि में रख सकते हैं। इसके विपरीत किसी राजा की राजधानी के लिये अथवा शिक्षा-संस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बड़े-बड़े नगरों के निर्माण प्राचीन भारत के सुन्दर निदर्शन हैं—यह ऐतिहासिकों से छिपा नहीं है। अतः भारतीय नगरों के ऐतिहासिक अनुसन्धान में इन दोनों प्रकार के नगरों की कमी नहीं है। समराङ्गण-सूत्रधार के 'नगरादि संज्ञा' नामक १८वें अध्याय में निम्नलिखित शब्द पुर के पर्यायों में परिगणित किये गये हैं:—

नगर	पुष्कर	सदन
मन्दिर	साम्परायिक	सद्म साम्परायिक
दुर्ग	निवास	क्षय तथा क्षितिलय

इन पर्यायों में नगर के विभिन्न कोटिक विकास-बीज छिपे हैं जिनकी विस्तृत समीक्षा आगे होगी। यहाँ पर केवल इतना ही सूचन आवश्यक है कि स० सू० वास्तु-शास्त्र का ग्रंथ है कोष तो है नहीं कि बिना प्रयोजन इन पर्यायों की अवतारणा करता। मेरी समझ में इन पर्यायों में ग्रंथकार ने नगर के बहुकोटिक विकास-परम्पराओं की सूचना दी है। सदन, सद्म, क्षय, निवास, भवनवाची हैं अतः भवनसमूह सधारण ग्राम के विकास की ओर इङ्गित होगा। मन्दिर दुर्ग एवं पुष्कर में, मन्दिर-नगर (Temple Cities) दुर्ग-नगर तथा जलाशयवर्तीय नगरों का बोध होता है—यह विशेष रूप से आगे समझ में आ सकेगा।

भारतीय नगर-विकास की परम्परा में प्रचलित शब्दकल्पद्रुम के निम्नलिखित पर्यायों

का बड़ा महत्व है। इन पुरपर्यायों के अनुसन्धान से भारतीय नगर-विकास की प्रायः अविकल विशेषतायें दृष्टि के सामने नाचने लगती हैं (देखिये श० क० भा० ३ पृ० १७२)।

पुर

१	२	३	४	५	६
गेह म्	हट्टादिविशिष्ट-स्थानम्	बहुग्रामीय-व्यवहारस्थानम्	पुरी	नगर	पत्तनम्

७	८	९	१०	११
स्थानीयम्	कटकम्	पट्टम्	निगम	पुरभेदनम्

शब्द-कल्पद्रुम की इस पुरपर्याय-माला में नगर-विकास के विभिन्न स्वरूप-पुष्पों की सौरभ-गन्ध से मत्त दत्त महाशय ने लिखा है—"इन पुर-पर्यायों की सूक्ष्म समीक्षा से भारतीय-आर्य-नगरों की उत्पत्ति, विकास एवं इतिहास पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।" लेखक के मत में तो इन पर्यायों की सार्थकता उसी नगर-विकास में विशेष चरितार्थ होती है जो नगर स्वतः विकसित हुए हैं।

अस्तु, इन पर्यायों में से क्रमशः प्रत्येक की थोड़ी-थोड़ी सी समीक्षा से नगर-विकास के बीज कहाँ तक निहित हैं—स्पष्ट हो सकेगा। पहला पर्याय है गेह। एक कौटुम्बिक भवन पहले पहल किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा किसी स्थानविशेष में स्थापित हुआ। धीरे धीरे उसी कुल से सम्बन्ध रखने वाले भी वहीं आ आकर बसने लगे—एक भवन-गेह इस प्रकार कालान्तर में एक छोटे से ग्राम में बदल गया। इस प्रकार के ग्राम का जहाँ एक ही गोत्र अथवा कुटुम्ब के व्यक्ति रहते हों उसे 'एकयोग' की संज्ञा दी गयी है—मनुष्यालय-चन्द्रिका अ० ३ श्लो० १९:—

एकविप्रवरागारं तत् कुटुम्बसमन्वितम्।
एकयोगं भवेद्ग्रामं तद्भृत्यायतनावृतम्॥

इस प्रकार के छोटे-छोटे गाँवों का अर्वाचीन-निदर्शन भी आधुनिक भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में देखने को मिलता है। बङ्गाल को ही लीजिये। वहाँ के घोष, बैनर्जी, मुखर्जी तथा दत्त आदि ब्राह्मण-परिवारों के 'पारा' आज भी विद्यमान हैं। इस प्रकार शब्द-कल्पद्रुम के पुरसम्बन्धी पर्याय 'गेह' की कहानी समझ में आ सकती है कि वही एक गेह कालान्तर में एक ग्राम में परिणत हो गया। गेह बढ़कर गाँव हो गया।

'हट्टादिविशिष्टस्थानम्'—अर्थात् हट्ट बाजार आदि विशिष्ट स्थान जहाँ हों उस स्थान को भी पुर कहा गया है। परन्तु एक बाजार के स्थान को पुर की पदवी कैसे मिली—यह प्रथम दृष्टि में जरा कम समझ में आयेगा। किसी विशेष भू-भाग में पास ही पास चतुर्दिक छोटे-छोटे गाँव फैले हुए हैं। ग्रामीणों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिये उन ग्रामों के केन्द्रस्थान में एक हट्ट की स्थापना हुई। वहीं पर सब ग्रामीण किसी दिन-विशेष पर जुटने लगे। दूकानें पहले यों ही आती तथा चली जाती होंगी। कालान्तर में व्यवसायियों तथा वणिकों के व्यापार में वृद्धि होने से वे ही दूकानें जंगम से स्थावर हो गयीं—दूकानें बनने लगीं। इस प्रकार वह नैमित्तिक हट्ट समय पाकर एक नैत्यिक हट्ट में परिवर्तित हो गया। पुनः वणिकों ने अपने आवास-भवन बनाये। सौविध्य-आकर्षण से और लोगों ने भी वहाँ अपने-अपने आवास-भवनों का निर्माण किया। चारों ओर ग्राम बिखरे ही थे। फिर क्या कालान्तर में सब गाँव तथा वह केन्द्रस्थित हट्ट मिलकर एक बृहत् नगर में परिणत होगये। इस प्रकार एक हट्ट से एक पुर का विकास होगया।

दूसरे पर्याय—हट्टादि-विशिष्ट-स्थान—के साधारण स्वरूप को व्यापक स्वरूप देने के लिये कोषकार ने लिखा होगा—"बहुग्रामीय-व्यवहार-स्थानम्" जिससे तात्पर्य यहाँ लेन-देन से है। बाजार में न केवल लोग खरीदने ही आते होंगे—अपने अर्जित अन्न आदि द्रव्य को बेचने भी आते होंगे जैसा आजकल भी देहाती बाजारों में देखने को मिलता है। प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय नगर—'सप्तग्राम' इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। सप्तग्राम बहुत समय तक एक व्यवसाय-केन्द्र—व्यवहार-वीथी रहा—जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी आते थे, वाणिज्य करते थे, रहने भी लगे। सप्तग्राम तथा वे व्यवसाय-वीथियाँ मिलकर एक विशाल नगर के निर्माण में सहायक हुईं।

जहाँ तक पुरी एवं नगर—पुर के इन दो पर्यायों की गाथा है उसके अन्तर्तम में कोई विशेष इतिहास तो नहीं छिपा है परन्तु सम्भवतः पुरी उसी नगर अथवा पुर का नाम परम्परा में प्रसिद्धि को प्राप्त करती है जो अपनी पावनता एवं गौरव की अभिव्यंजिका होती थी। यह प्रसिद्धि अथवा गरिमा किसी तीर्थस्थान, मन्दिर, विद्यापीठ, अथवा राजपीठ के कारण प्राप्त होती है। प्राचीन भारत के बड़े-बड़े नगरों की आत्म-कथा में सबसे बड़ा योग तीर्थस्थानों, मन्दिरों, राजपीठों, विद्यापीठों अथवा पुण्य-सलिला-सरिताओं ने दिया है। नालन्दा, तक्षशिला, नैमिषारण्य, नवद्वीप, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि-आदि अति-प्रसिद्ध प्राचीन पुरों की गाथा में एक-एक पर अलग-अलग विशालकाय ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है।

पुर-विकास के प्रतीक पाँचवें पर्याय—'पत्तन' की भी यही कहानी है कि उसके विकास में व्यवसाय तथा वाणिज्य—मनुष्य की अत्यन्त अनिवार्य आर्थिक आवश्यकता के बीज छिपे हैं। वाणिज्य और व्यवसाय को सुदूर अन्तर्देश तथा विदेश में फैलाने के लिये बड़ी-बड़ी सरिताओं तथा समुद्रतटों ने बड़ा योग दिया है। संसार के विभिन्न देशों में सर्वत्र समान रूप से यह देखा गया है कि इस प्रकार के वाणिज्य केन्द्र (trading port) कालान्तर में बड़े-बड़े व्यावसायिक नगरों में परिणत हो गये। बहुत पुरानी परम्परा है कि जब विभिन्न जातियाँ किसी स्थानविशेष पर वाणिज्य के लिये एकत्रित होती थीं पारस्परिक आदान-प्रदान के लिये विचारविमर्श भी करती थीं तथा अपने-अपने माल (कच्चे और पक्के) का सर्वसाधारण दूर-दूर के बाजारों में व्यापार विनियोग की योजना बनाती थीं। यह स्थान प्रायः किसी बड़ी सरिता के तट पर अथवा समुद्र के किनारे होता था। आधुनिक हावड़ा हाट इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसी प्रकार चिटगांव भी। प्राचीन भारत का

वृहत् व्यावसायिक नगर सप्तग्राम भी यही तथ्य चरितार्थ करता था। 'पत्तन' शब्द की परिभाषा से भी यही निष्कर्ष निकलता है। 'मयमत' शिल्पशास्त्र मे पत्तन के सम्बन्ध में लिखा है—

> द्वीपान्तरागतवस्तुभिरनुयुक्तं सर्वजनसहितम्,
> क्रयविक्रयकैयुक्तं रत्न-धन-क्षौम-गन्ध-वस्त्वाढ्यम्।
> सागरवेलाभ्याशे तदनुगतयापि पत्तन प्रोक्तम्॥
>
> (अध्याय १०. २८-२९)

अर्थात् 'पत्तन उस नगर को कहते हैं जहाँ अन्य विभिन्न द्वीपों से आये हुए विभिन्न वस्तु-जात एकत्रित किये जाते थे तथा जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के लोग रहते थे। वहाँ पर वाणिज्य तथा व्यवसाय का विशेष बोलबाला था। क्रय-विक्रय का पूर्ण प्रसार तथा रत्न, धन, धान्य, रेशमी वस्त्र, गन्ध-द्रव्य-जात का प्राचुर्य पाया जाता था। अथच ऐसा नगर *सागर-वेला के निकट स्थित होता था'। श्री वेंकटराम अय्यर महोदय ने अपने 'टाउन* प्लानिंग इन एन्शियेंट डेकन' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में इसी पत्तन के निदर्शन मे 'कावेरिपुं पत्तिनम्' नामक प्राचीन नगर का वर्णन किया है। सागरवेलास्थित व्यावसायिक केन्द्र —बन्दरगाहों के अतिरिक्त व्यवसायसुलभ मार्गों पर भी प्राचीन भारत में कई नगर निर्मित हुए। भारत के जगद्विख्यात तक्षशिला नामक प्रसिद्ध नगर का विकास इसी व्यावसायिक-सौविध्य से सम्पन्न हुआ।

सागर-वेला के समान या यों कहिये उससे भी अधिक सरिताओं के तटों ने भी नगरों के विकास में बड़ा योग दिया। भारत मे सरिताओं के तट न केवल प्राचीन विद्यापीठीय नगरों या सभ्यताप्रसार के लिये ही प्रसिद्ध रहे, वरन् व्यावसायिक नगरों के विकास के लिये भी सर्वोत्तम सिद्ध हुए। प्राची-काल में आदन-प्रदान, यातायात, सूचना तथा संवहन आदि के लिये सरताओं के मार्ग ही एकमात्र अवलम्ब थे। यातायात एवं यात्रा-जात (Transport and locomotion) के साधन भी सरितायें थीं—यह भी अविदित नहीं है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ये सरितायें अपने देशविशेष के आभ्यन्तरिक व्यवहार, व्यवसाय एवं व्यापार की सहायिका तो थी ही, देश के बहिर्मार्गों के साथ भी सम्पर्क स्थापित करने में निमित्त बनीं, जिससे संसार मे एक देश से दूसरे देशों में व्यवसाय एवं वाणिज्य का प्रसार सम्भव हो सका, तथा कालान्तर मे सरिताओं के तट बड़े बडे नगरों के जन्म देने मे साधन बन सके।

अथच यह हम जानते ही हैं कि भारत में आर्यों के उपरान्त उनके प्रभुत्व एवं उनकी सभ्यता के प्रसार मे सिन्धु एवं गंगा ने कितना बड़ा योगदान दिया। सरिताओं ने ही आर्यसभ्यता के प्रसार मे मार्गप्रदान किया। यही कारण है कि व्यावसायिक केन्द्र-स्वरूप विभिन्न-बडे नगरों के अलावा भी प्राचीन-भारत के बडे-बडे नगर सरिताओं के तट पर ही निर्मित हुए। ये नगर प्राय. सरिताओं के दक्षिण-कूल पर ही बसाये गये जैसा कि शास्त्रों की आज्ञा है। आजकल भारत के कुछ नगर जैसे कलकत्ता आदि जो इस नियम

के अपवाद हैं उसका कारण उनके स्थापन में अ-हिन्दू-संस्कृति एवं प्रभुता का कारण है। सरितातट पर निर्मित नगरों के लिये 'पुटभेदन' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा व्यवसाय केन्द्रों के लिये 'निगम' का।

शब्द-कल्पद्रुम के नगरपर्यायों में अभी तक जिनकी समीक्षा नहीं हो पायी है उनमें केवल तीन और अवशेष है—स्थानीय, कटक तथा पट्ट। इन तीनों का रक्षा defence) से सम्बन्ध है। 'स्थानीय' का अर्थ दुर्ग-विशेष से है। 'कटक' का अर्थ शिविर स्पष्ट ही है। 'पट्ट' से पार्वत्यप्रदेश अथवा पर्वताकीर्ण मार्ग से संकेत है।

पुरातन से यह परम्परा प्रचलित है कि मनुष्य ने अपने रहन-सहन, भोजन-भजन, एवं आचार-विचार तथा व्यवहार और आदान-प्रदान के साधनों के साथ-साथ अपनी रक्षा के उपायों पर भी विचार किया तथा उसके साधन जुटाये। अथच सभ्यता के विकास —नागरिकता के उत्थान में शासन एवं प्रभुत्व का बड़ा योग रहा। अतएव सम्यक् शासन-संचालन के लिये कतिपय ग्रामों के बीच रक्षाकेन्द्र के प्रतीकरूप में एक दुर्ग विशेष की स्थापना करनी पड़ी। इसी परम्परा के प्रभाव में प्रभावित होकर प्रायः सभी शिल्पशास्त्रों ने नगर-निवेश तथा ग्राम-निवेश के जो नियम निर्धारित किये हैं वे प्रायः हूबहू दुर्ग-निवेश में भी लागू होते हैं। डा० आचार्य के मत में पुर, ग्राम तथा दुर्ग के निवेश-नियम 'मानसार' ऐसे लब्धप्रतिष्ठ शिल्पशास्त्रीय ग्रंथ में प्रायः समान ही हैं। डा० आचार्य महोदय लिखते हैं।—

"मानसार के अनुसार एक ग्राम, एक नगर तथा एक दुर्ग में कोई विशेष भेद नहीं है। सभी सुरक्षित (fortified) जनावासोचित स्थान हैं। एक नगर एक ग्राम का विस्तृत रूप है। दुर्ग भी बहुत अंश में सुरक्षित नगर के सदृश है। इनमें यदि भेद है तो इतना ही है कि जहाँ एक दुर्ग का रक्षा के हेतु निर्माण होता है वहाँ एक ग्राम अथवा नगर का निर्माण आवास के लिये—Indian Architecture Acc. to Manasara Shilpa Shastra—page 39.

इस कथन में काफी सत्यता है, परन्तु नगर एवं दुर्ग की यह समीक्षा पूर्णतः सत्य नहीं है। संसार के प्रायः सभी देशों में प्राचीन काल में जो बड़े बड़े नगर बने, उनकी रक्षा का यथोचित प्रबन्ध अवश्य रक्खा गया। प्राचीन भारत में सम्भवतः ही ऐसा कोई नगर निर्मित हुआ हो जिसके चारों ओर परिखायें तथा भित्तियाँ न बनी हों। विद्यापीठीय नगरों तथा मन्दिरनगरों (Temple cities) के निर्माण में भी यही व्यवस्था देखने में आती है। परन्तु व्यावसायिक नगर तथा तीर्थस्थानीय नगर इस नियम के अपवाद हैं। अतः निश्चय रूप में यह कहा जा सकता है कि जिन नगरों का निर्माण अथवा विकास राजाश्रय पाकर सम्पन्न हुआ उनमें रक्षा की इस परम्परा का अवश्यमेव पालन किया गया। प्राचीन भारत के सुप्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र को ही लीजिये। उसका निवेश एक दुर्ग के समान ही सम्पादित हुआ। अथच चाणक्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थ-शास्त्र' में इसी नियम के पालन का आदेश भी दिया है। परन्तु जिन नगरों का निर्माण अथवा विकास राजाश्रय से प्रभावित न होकर धर्माश्रय पाकर अथवा व्यवसाय या व्यापार आदि के कारण हुआ उनमें यह परम्परा गौण रही। और ठीक भी है।

इसके अतिरिक्त युगधर्म बड़ा कठोर होता है। जैसा युग होता है वैसे युगधर्म बनते हैं। समय-विशेष का प्रतिबिम्ब समयविशेष की सभ्यता पर अवश्य अंकित होता है। प्राचीन काल मे यातायात के साधन तथा जीवन-रक्षा के साधन न तो इतने सुलभ थे और न इतने सुन्दर ही। ऐसी परिस्थिति में नगरों की रक्षार्थ यदि यह परम्परा पल्लवित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? आज भी प्रायः बड़े बड़े नगरों मे सरकार की ओर से छावनिया होती हैं। उनकी स्थापना मे भी तो इसी प्राचीन परम्परा के बीज निहित हैं।

अस्तु। 'प्रकृतमनुसरामः'। 'स्थानीय' एवं 'कटक' आदि जिन 'पुर'-पर्यायों के सम्बन्ध मे अभी सीमत्ता का उपोद्घात कर रहे थे उनके विषय मे भी जैसा पहले हम देख चुके हैं, विकाससिद्धान्त लागू होता है। सर्वप्रथम राजा की ओर से-देश के शासन की ओर से-विभिन्न उपयुक्त प्रदेशों मे सैन्य-शिविरों के पड़ाव पड़े होगे। पुनः इन सैन्य-स्थलों Military out-posts कालान्तर मे नगरी के विकास मे सहायक हुए। बहुत से प्राचीन नगर जिनके नामकरण में कटक अथवा कोट जुड़ा है वे इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उदाहरण के लिये कटक (Cuttock) स्यालकोट, नगरकोट, मंगलकोट आदि विभिन्न नगरों के विकास की यही कहानी है। अतः निष्कर्षरूप मे मानव-आवास-निर्माण एवं उसके विकास मे रक्षा ने बड़ा योग दिया। इसकी पोषक-सामग्री मे गोत्र शब्द बड़ा ही महत्वपूर्ण है। गोत्र शब्द का अर्थ वैसे तो एक परिवार-विशेष से है जो प्राचीन आदि ऋषियों मे से एक की परम्परा से पनप रहा है परन्तु शब्दार्थ है—'गाःत्रायन्ते यस्मिन् तत्(स्थानम्)गोत्रम्–enclosure for cows–गौवों का बाड़। और दत्त महाशय(page35 Town Pla. in Ancient India) के शब्दों में- this was the genesis of 'the Indo-Aryan village or town' 'प्रसिद्ध पुरातत्वविद् मैक्समूलर' गोत्रशब्द के इन दोनों अभिधेयार्थ तथा लाक्षणिकार्थ की स्थापना करते हुए लिखते हैं—

"पुरातन समय मे जो बडे बडे युद्ध होते थे वे योरोप अथवा एशिया की शक्ति-संतुलनार्थ (to maintain balance of power) नहीं होते थे उनका उद्देश्य एक मात्र चरागाहों पर आधिपत्य करना अथवा पशु-समूहों को अधिकृत करना था। ऐसी अवस्था में युद्धस्थल के बीच के हर्डल्स (रक्षार्थ स्थापित लकड़ी) अथवा लोहे के भित्ति सदृश प्राकार कालान्तर मे एक दुर्ग मे परिणत हो गये। ऐसे स्थानों के लिये एंगलो सेक्शन भाषा में टन अथवा जर्मन में तन इसी प्रकार टाउन, नगर शब्द प्रयुक्त हुए तथा जो लोग उन्ही दुर्ग-भित्तियों के पीछे रहते थे वे गोत्र, परिवार, वर्ग अथवा जाति के नाम से पुकारे जाते थे"—cf. Chips from a German Workshop

इस प्रकार हमने देखा कि शब्दकल्पद्रुम-कोषकार ने पुर-सम्बन्धी जितने पर्याय दिये हैं उनकी अपनी अपनी एक आत्मकहानी है जिसके अन्तर्तम मे पुरातन आवास-रहस्य निहित है। नगर-विकास के स्वतःप्रसार-सम्बन्धी विवेचन मे इन पर्यायों ने बड़ा योग दिया। हमने देखा कि वे नगर जो किसी व्यक्ति-विशेष की प्रेरणा अथवा योजना से विकसित न होकर अपने आप वृद्धिंगत हुए उनकी उत्पत्ति, विकास एवं विवृद्धि में एक गेह, एक मन्दिर अथवा एक ग्राम, एक हट्ट, द्वीप, सरितातट, सागरवेला, पार्वत्य उपत्यका आदि की अपनी एक आत्म कहानी छिपी है।

इन सभी स्थानों की प्रायः समीक्षा हो चुकी है परन्तु मन्दिर, विद्यापीठ तथा ग्रामों के सम्बन्ध मे अभीतक संकेतमात्र ही हुआ है। इनकी कुछ अधिक विवेचना आवश्यक है। सर्वप्रथम मन्दिर के दर्शन करें। प्राचीन भारत के नगरों के इतिहास पर यदि हम ध्यान दें तो पता चलेगा कि बहुत से प्राचीन नगर मन्दिर-स्थानों के विकास-मात्र हैं। संसार के अन्य देशों में भी विभिन्न प्राचीन नगरों की भी यही कथा है। परन्तु भारतवर्ष ग तो यह कथन "Temple was a City in making" अर्थात् मन्दिर की स्थापना हुई नहीं कि नगर बस गया—सर्वांश में चरितार्थ देखा गया है।

मन्दिर शब्द 'देवतायन' का तो वाचक है ही साथ ही साथ उसके दो अर्थ और हैं—भवन तथा नगर। 'समराङ्गण' ने (१८ वाँ अ० देखिये) नगरपर्यायों मे मन्दिर शब्द का प्रथम आख्यान किया है—यह हम देख ही चुके हैं। यह तो वास्तु-शास्त्र की बात हुई। अमरकोष तथा विभिन्न आन्यकोषों मे मी मन्दिर शब्द भवनवाचक है। यह सर्वविदित ही है।

'मन्दिर-नगरों का विकास स्वतःविकसित नगरो मे आता है। मन्दिर शब्द की इस पुरातन वास्तु परम्परा का प्रभाव तामिल-साहित्य मे भी परिलक्षित होता है। तामिल 'नकर' शब्द न केवल नगर का ही बोधक है बरन्, भवन, मन्दिर, प्रासाद (राजप्रासाद) का भी बोधक है। यह ठीक भी है। प्राचीन भारत मे ही नहीं, आज भी भारतीयों की जीवन-धारा में धार्मिक-स्थान, पूजा-गृह, सरिता-तट, एकान्तस्थान, वनप्रान्त पर्वत-कन्दरायें आदि का सदैव से विशिष्ट स्थान रहा है। क्योंकि रत्नगर्भा, शस्यश्यामला, समृद्धा इस भारतवसुन्धरा में संकटमय जीवन तथा संघर्षमय जीविकोपायों का कोई प्रश्न ही न था। अतएव यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति में भौतिक-प्राधान्य न होकर सनातन से अध्यात्म-प्राधान्य रहा है। इस रहस्य के अनुसार यहाँ के नागरिकों की स्वत.प्रेरणा मे यही संभव है अथवा स्वाभाविक ही है कि वे अपने आवास भवनों के निवेश के लिए पावन स्थलों, सुन्दर, स्वस्थ प्रदेशों एवं वातावरणों को चुनें। अतः स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में किसी देवतायन के पूत-पावन भू-भाग के निकट थोड़े से जिज्ञासु एवं साधक सज्जनों ने सर्वप्रथम अपने आवासों का निर्माण किया। धीरे-धीरे वह स्थान अपने निजी आकर्षण और कुछ वसतियों के सौविध्य से एक विशाल तीर्थस्थान मन्दिर-नगर मे परिणत हो गया।

इसके अतिरिक्त मन्दिर यदि सम्यक् प्रकार से संचालित है तो उसके निकट कोई सुरम्य जलाशय, पुष्कर, पुष्करिणी अथवा सरिता का होना आवश्यक है। अतः जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में जल की आवश्यकता-पूर्ति की साधन-सम्पन्नता के कारण मन्दिर के सुन्दर, स्वास्थ्य-प्रद एवं पावन वातावरण के कारण वहाँ वसति-स्थापन सहज संभाव्य है। इसके अतिरिक्त मंदिर के देवता की प्रसिद्धि – उसकी वरद-गरिमा तथा कीर्ति के कारण भी दूर-दूर से लोग दर्शनार्थ आते थे एवं दर्शनार्थियों मे बहुत से आगन्तुक वहीं आकर बसने की ठानते थे। मंदिर से-नगर का यह विकास धर्माश्रय था। विद्याश्रय भी इस प्रकार के नगर के विकास में कम सहायक नहीं हुआ। क्योंकि मंदिर न केवल तीर्थस्थान के ही कारण प्रसिद्ध थे, वरन् बहुत से मन्दिरों में वहाँ के पुजारियों

के पाण्डित्य, आध्यात्मिक ज्ञानगरिमा तथा उनके पुनीत आचरण के आकर्षण से बहुत से जिज्ञासु वहाँ जाकर रहते थे—ज्ञानार्जन करते थे, कथावार्ता सुनते, पुराण-पारायण करते, योगाभ्यास साधते थे। सच तो यह है कि प्राचीन भारत में ही नहीं, आज भी बहुत अंशों में मंदिर न केवल ध्यान, पूजा, अर्चा के ही पावन-स्थान हैं वरन् अध्ययनाध्यापन, चिंतन एवं मनन तथा गवेषण और अनुसंधान, साधना और सुश्रुषा के जाज्वल्यमान केन्द्र भी हैं। दत्त महाशय के शब्दों में "बहुत से निदर्शनों में यह अर्थात् एक मन्दिर एक छोटा सा विश्वविद्यालय का स्वरूप धारण करता था जहाँ पर विद्वान् पण्डित मन्दिर के बरामदे अथवा सम्मुखस्थित छतदार प्रागण-मण्डप में एकत्रित होकर जिज्ञासु छात्रों को साहित्य, ज्योतिष, वेद, वेदाङ्ग, पुराण तथा अन्य विभिन्न विद्याओं में शिक्षित तथा दीक्षित करते थे। समय पाकर कालान्तर में मन्दिर, उसके देवता तथा उसके पुजारी की गरिमा एवं ख्याति सुदूर प्रदेशों में फैल जाती थी—जिससे विभिन्न प्रदेशों से लोग आकर देवदर्शन के साथ-साथ ज्ञानार्जन के लिये भी आने के अभिलाषी हो जाते थे"।

अथच एक मंदिर से एक विशाल नगर बनने की कहानी में हिंन्दू-संस्कृति की प्रमुख एवं महत्त्व पूर्ण आश्रम-व्यवस्था ने भी बड़ा साहाय्य प्रदान किया। आश्रमचतुष्टय में वानप्रस्थाश्रम में जब लोग पदार्पण करते थे तो घर छोड़कर किसी निर्जन, पावन, एकांत स्थान में जाकर रहते थे। यदि सौभाग्यवश ऐसा स्थान किसी मंदिर के सान्निध्य में मिल गया तो फिर क्या, अहोभाग्य। अतः वानप्रस्थाश्रमियों के सान्निध्य से भी जो प्रथम छोटे-छोटे उटज बने वे कालान्तर में दानवीरों की सहायता से सुन्दर आवास-भवनों में परिणत हो गये।

इसप्रकार इन विभिन्न कारणों से जब मन्दिर के चारों ओर बस्तियाँ बस गयीं तो फिर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु विभिन्न दूकानों आदि की स्थापना हुई। कालान्तर में वह स्थान राजाश्रय पाकर वहाँ पर राजपीठ के स्थापन में भी निमित्त बना। राजप्रसादों का निर्माण भी हो गया। फिर क्या कहना था—वह स्थान और भी अधिक बसने लगा। अन्ततोगत्वा मार्ग, प्रतोली, परिखा, प्राकार, अट्ट आदि आवश्यक विभिन्न नागरिक वास्तु-उपकरणों की निवेश क्रिया भी सुतरां सम्पादित हो गयी। इस प्रकार वह मन्दिर आगे चलकर एक नगर में बदल गया। इस प्रकार के नगरों के निदर्शन में दक्षिण-भारत का कंजीवरम् प्राचीन नगर प्रस्तुत किया जा सकता है—देखिये—T. Planning in Ancient Deccan p. 21) । आधुनिक इस प्रकार के नगरों में दत्त महाशय ने तारकेश्वर (बर्दवान) सीताकुण्ड (चिट्टगाव) आदि नगरों का उदहरण दिया है।

मन्दिर-नगरों के—विशेषकर दक्षिण-भारत के—विषय में एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि उन मन्दिरों की 'निवेश-प्रक्रिया' तथा शिल्पशास्त्रों में प्रतिपादित 'ग्राम-निवेश' अथवा नगर-निवेश प्रक्रिया बिलकुल मिली जुलती है। ग्राम या नगर के gate towers—का सादृश्य मन्दिर के गोपुर से, ग्रामीय या नगर के राजमार्ग का सादृश्य मन्दिर मार्गों से, मगलवीथी या ग्रामीय वृत्ताकार सड़कों का सादृश्य मन्दिर की प्रदक्षिणा से सुतरां प्रकट है। इसी प्रकार मन्दिर-मण्डप—ग्रामीय या नगर-परिषद्-भवन से सादृश्य रखता है।

इसीप्रकार मन्दिर के विभिन्न भवनों एवं सभा-सदनों, प्रकोष्ठों, प्राँगणों, कूप, तड़ाग जलाशयों आदि का भी सादृश्य प्रकट है।

पुर-पर्यायो की पृष्ठभूमि पर नगर-विकास का यह प्रसार खूब प्रवृत्त हुआ। परन्तु अभीतक हम विशेषकर ऐसे नगरो के विकास के कारणों का विवेचन कर रहे थे जिनका विकास पूर्व-सूचित विकास कोटि-द्वय—स्वत.प्रवृत्त तथा परप्रवृत्त—मे से प्रथम कोटि से सम्बन्धित था। जहाँ तक दूसरी कोटि का प्रश्न है उसमे पूर्व-प्रतिपादित स्थानीय आदि किलो की स्थापना के कारण नगरों का विकास बताया ही जा चुका है। ऐसे नगर पर-प्रवृत्त कोटि मे आते हैं। अब इस प्रसंग मे एक दो तथ्यों का उद्घाटन कर दूसरे प्रकरण मे प्रवेश करना है। परप्रवृत्त अथवा स्वतःप्रवृत्त नगरो के विकास मे ग्रामों ने बड़ा योग दिया। इसके अतिरिक्त देश की तत्कालीन शासन-पद्धति एवं सुरक्षा-व्यवस्था ने भी कम योग नहीं दिया। पाटलिपुत्र आदि बडे-बडे नगरों की कहानी ग्राम-समूहो में लिखी है। अथच, जैसा हम आगे देखेंगे नगर-विधान तथा ग्राम-विधान के निवेश-नियम प्रायः समान ही हैं। ग्राम के बृहत् रूप को ही नगर की संज्ञा दी गयी है। राजमार्ग, मंगलवीथी अथवा प्रदक्षिणा, चेसबोर्ड की पद्धति के अनुसार विभिन्न वास्तुपद-विभाग (जहाँ पर अपने-अपने व्यवसाय एवं पद के अनुरूप आवास-भवनो का वर्गीकरण प्रतिपादित किया गया है); तड़ागों, कूपों, देवतायतन आदि की व्यवस्था तथा द्वार-निवेश-नियम—ये प्रायः सभी वास्तु-अंग ग्राम-निवेश एवं पुरनिवेश मे प्रायः सर्वत्र समान प्रतिपादित हैं। अतः प्रकट है कि ग्राम एवं नगर—इन दोनों के निवेशोपक्रम एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न विन्यास के साम्य के कारण ही ग्रामों को नगरों में परिणत करने—विकसित होने का प्रश्रय मिला। यही कारण है कि पुरातन समय में जब यातायात एवं अन्य विभिन्न आधुनिक साधनों का अभाव था तो राजा लोग (क्योंकि प्राचीन समय मे प्रायः माण्डलिक राज्यों का ही प्राधान्य था) प्रायः किसी सौविध्य-पूर्ण ग्राम में अपना महल बना कर रहते और वहा से उस ग्राम के चतुर्दिक् स्थित अन्य बहुत से ग्रामों के शासन-संचालन कर-एकत्रीकरण आदि का प्रबन्ध करते एवं रक्षार्थ दुर्ग की स्थापना करते—इस प्रकार थोडे ही समय मे वह ग्राम राज-पीठ होने के कारण एक विशाल नगर में परिणत हो जाता था। भारतवर्ष के प्राचीन नगर जो अब भी अपनी पूर्वगरिमा अक्षुण्ण बनाये हुए हैं उनके इतिहास पर दृष्टि-पात करने पर यह तथ्य सहज ही समझ में आजायेगा। पाटलिपुत्र का उल्लेख हो चुका है। बीजापुर आदि अन्य बहुत से नगर इसी कोटि मे आते हैं।

इस प्रकार शब्द-कल्प-द्रुम के पुर-पर्यायों का आधार लेकर नगर-विकास के उप-क्रम में प्राय. सभी विकास घटकों (Factors of Development) पर कुछ न कुछ प्रकाश पड़ चुका है। अब आगे पुर-प्रभेद पर विवेचन आवश्यक है। अतः उसकी अवतारणा के लिये यहाँ पर अब विराम लेना ही ठीक है।

३

नगर-प्रभेद

यद्यपि गत अध्याय में पुर-पर्यायों की समीक्षा से विभिन्न पुर-विभेद—नगर-विभेद का कुछ आभास प्राप्त हो चुका है। परन्तु शिल्पशास्त्रों में नगर एवं ग्राम तथा दुर्ग के जो वर्गीकरण दिये गये हैं, साथ ही साथ समराङ्गण में जो नगर-प्रभेद पर थोड़ा सा संकेत है उन सब का समुद्घाटन कर देना आवश्यक ही है।

पीछे के प्रकरणों में यह बार-बार कहा गया है कि नगर और ग्राम का भेद आकार-भेद है न कि प्रकार-भेद। तथापि यह अधिक संगत होगा यदि ग्राम एवं नगर का विवेचन अलग अलग प्रकरणों में किया जावे। इसके अतिरिक्त नगर-निवेश के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने के पूर्व प्राचीन भारत मे नगर-विकास के कौन कौन स्वरूप विकसित हुए ? कितने प्रकार की ग्राम-निवेश-पद्धतिया प्रचलित हुई ? दुर्गों का सन्निवेश कितने प्रकार का था ? इत्यादि (नगर-प्रभेद, ग्रामप्रभेद तथा दुर्गप्रभेद—इन तीनों) का थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है। यहाँ पर इस प्रकरण में हम नगर-प्रभेद का प्रतिपादन करेंगे।

पूर्व-प्रकरण में पूर्णरूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि नगर-विकास की विभिन्न धाराओं,—स्वरूपों, आकृतियो, एवं श्रेणियों क अन्तर्तम मे नगर-विशेष के विकास की विशेषताओ के कारण ही नगर के विभिन्न विभेद परिलक्षित होते हैं। प्रत्येक नगर की अपनी एक निजी वैयक्तिकता होती है जिसकी छाप उसके कलेवर पर पूर्णरूप से परिलक्षित होती है। किसी सरितातट पर पनपे नगर की वैयक्तिकता किसी पार्वत्य-प्रदेश अथवा उपत्यका-भूमि में उत्थित नगर की वैयक्तिकता से सुतरा विभिन्न होगी ही—यह सहज बोधव्य है। इसी प्रकार देवतायतन की छाया में विकसित अथवा किसी आश्रम, उटज, कुटीर अथवा कुलग्रह से विकसित नगर की विशेपता भी उस नगर से जो किसी सागर-वेला पर विकसित हुआ है—अवश्य भिन्न होगी।

यहा पर इस तथ्य के समझने के लिये एक बात और ध्यान देने की है कि पुरातन से नगर-निवेश की परम्परा में भवन-निर्माण की आवश्यक सामग्री (Material) सर्वत्र समान नहीं प्राप्त होती रही और न हो भी सकती है। जिसप्रकार से नगर-विशेष के विकास में वहा के प्राकृतिक-वातावरण से सम्बन्ध रखने वाली विशेषताओं का पूर्ण प्रभाव एवं योग होता है, उसी प्रकार विभिन्न नगरो के निर्माण मे, उनमें आवश्यक भवन-निर्माण-सामग्री के संभार और जुटाव मे वहा की प्राप्य सामग्री का ही प्राधान्य होता है। पाषाण-पट्टिकाओं की सर्वत्र प्राप्ति तो नहीं हो सकती और न यातायात के सुकर साधन ही थे, जिससे उनका सुसंचार सर्वत्र सुकर होता। अतः पाषाणमय-प्रासाद सर्वसाधारण कैसे हो सकते थे ? भवन-सामग्री के साथ-साथ देश-विशेष, जनपद-विशेष अथवा स्थान-विशेष की, संस्कृति-विशेष का भी प्रभाव तत्तद्देशीय नगर-निर्माण अथवा भवन-प्रक्रिया मे होता ही

है। यही कारण है कि इस विशाल देश के विभिन्न भूभागों में प्राचीन काल से ही विभिन्न तत्तद्देशीय सामग्री से निर्मित एवं तत्तद्देशीय-संस्कृति से प्रभावित नगर एवं भवन अपनी-अपनी निजी विशेषताओं के प्रोज्ज्वल प्रतीक प्रतीत होते हैं। इसी हेतु द्राविड़, महाराष्ट्र, आन्ध्र उत्तरापथ (नागर) आदि विभिन्न जनपदों में विकसित विभिन्न वास्तु-शैलियों के रहस्य को हम समझ सकते हैं।

नगर-विकास के प्रतीक-स्वरूप, विभिन्न-संज्ञक नगरश्रेणियों का उल्लेख विभिन्न शिल्प-शास्त्रों में पाया जाता है—परन्तु सुविधा-वश दत्त महाशय की नगर-तालिका को आधार मानकर हम नगर-प्रभेद पर कुछ विवेचन करेंगे। दत्त महाशय के शब्दों में नगर-विभेद की यह तालिका मानसार एवं मयमत में प्रदत्त नगर-विभेद के अनुरूप है, परन्तु समराङ्गण के इस अध्ययन में समराङ्गण के आनुषङ्गिक नगर-विभेद की चर्चा होनी ही चाहिये। इस सम्बन्ध में यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि समराङ्गण में नगर-निवेश पर केवल एक ही अध्याय—'पुरनिवेशो नाम दशमोऽध्यायः' है जिसमें नगर-पुर के तीन प्रधान वर्ग हैं—उत्तम पुर, मध्यम पुर तथा अधम पुर।

साथ ही साथ समराङ्गण के १८वें अध्याय (नगरादिसंज्ञाध्यायोऽष्टादशः) में विभिन्न नगर-प्रभेद पर जो प्रकाश डाला गया है उसका संकेत हम पहले ही कर चुके हैं। अब पुर-प्रभेद पर कुछ विशेष संकेत आवश्यक है।

इस अध्याय की सामग्री का परिशिष्ट में अवलोकन कीजिये। यहाँ पर उसका निम्न संक्षेप द्रष्टव्य है :—

"जहाँ पर राजा रहता है उसे राजधानी कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो नगर की संज्ञायें हैं वे शाखा-नगर आदि हैं। शाखा-नगर को ही कर्वट कहते हैं जो नगर के सदृश होता है। कर्वट के कुछ गुणों से न्यून उसको निगम कहते हैं। निगम से छोटा ग्राम होता है। ग्राम-कल्प-गृह कहते हैं। गौओं के समूह का आवासस्थल गोष्ठ कहलाता है तथा उससे छोटे को गोष्ठक की पदवी दी गई है।"

"राजाओं का जहाँ उप-स्थानं (2nd capital, summer-capital) हो उसे पत्तन कहते हैं। वही पत्तन प्रचुर एवं समृद्ध वाणिज्य-व्यवसाय से युक्त हो तो पुट-भेदन कहलाता है।"

"तरु-पत्रों, उनकी शाखाओं, घास, फूस आदि तथा पाषाणचयों आदि संभारों को जुटा कर जहाँ कुटिया बना कर पुलिन्द लोग निवास करते हैं उसे पल्ली की संज्ञा दी गयी है। उससे छोटी पल्लिका। नगर को छोड़ कर अन्य सब बस्तियों को जनपद की संज्ञा दी गई है। राष्ट्र, देश अथवा मण्डल—ये सब नगर के ही अविकल समान हैं।" स. सू. १८ वाँ अध्याय।

"इसप्रकार से अभीतक हमने नगर-विभाग पर अविकल विवेचन किया। नगर के आधे विष्कम्भ के प्रमाण से खेट की रचना होती है। खेट के आधे विष्कम्भ-प्रमाण से ग्राम बनता है। पुर से एक योजन की दूरी पर खेट होना है तथा खेट से एक योजन की दूरी पर ग्राम। एक ग्राम से दूसरा ग्राम दो कोस की दूरी पर होता है"।

"देश में सीमा का प्रमाण दो क्रोश, उससे आधे प्रमाण अर्थात् एक क्रोश से वह नगर की होती है। पुर में चारों दिशाओं के मार्गों का विष्कम्भ ३० धनुष के प्रमाण का होता है। वही खेटक में २०, और ग्राम में दस बताया गया है।"

"उत्तम राष्ट्र में नौ हजार एक सौ चौवन (६१५४) गाँव होते हैं। ऐसा विद्वानों ने बताया है। मध्यम राष्ट्र में गाँवों की संख्या पाँच हज़ार तीन सौ चौरासी (५३८४) होती है। कनिष्ठ राष्ट्र में एक हजार पाँच सौ अड़तालीस (१५४८) गाँव बताये गये हैं।"

"इस प्रकार से राष्ट्रों का विभाग कर लेने पर विधान-दक्ष स्थपति को समुचित एवं अनुकूल भूभागों पर यथाशास्त्र प्रत्येक राष्ट्र में सात-सात नगरों का निर्माण करना चाहिये।"

समराङ्गण के इन अवतरणों के परिशीलन से नगर-प्रभेद की निम्न तालिका का संग्रह किया जा सकता है:—

अ. नगर

१ ज्येष्ठ नगर (पुर)
२. मध्यम नगर
३. कनिष्ठ नगर

ब शाखा-नगर

४ राजधानी
५. पत्तन
६ पुटभेदन
७. निगम
८. खेट
९. कर्वट
१०. ग्राम

नगर-निवेश की पूर्व-पीठिका में नगर-निवेश संबन्धी औपोद्घातिक विवेचन के लिये समराङ्गण की नगर-विभेद-माला का यहाँ पर संकेत करना ही पर्याप्त है। आगे उत्तर-पीठिका में जब हम नगर-निवेश के पूर्ण अंगों का प्रतिपादन करेंगे तो इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा कर सकेंगे। अस्तु, अब ऊपर दत्त महाशय की नगर-तालिका का जो निर्देश किया गया था उसकी समालोचना करना है। दत्त महाशय ने अपने T. Planning in Ancient India में निम्न प्रकार के नगर-प्रभेदों का उल्लेख किया है:—

१. नगर	५. खेट	९. द्रोण-मुख
२. राजधानी	६. खर्वाट	१० कोष्ट्यकोलक
३. पत्तन	७. शिबिर (सेनामुख स्कन्धावार)	११. निगम
४. दुर्ग	८. स्थानीय	१२. मठ या विहार

यह ऊपर बताया गया है कि दत्त महाशय की यह तालिका मानसार तथा मयमत पर आधारित है, परन्तु मानसार मे जो पुर-भेद दिये हैं उनमे पुर, नगरी तथा कुब्जक ये तीन भेद इस तालिका में नहीं है। मानसार के अनुसार (देखिये Encyclopaedia of Hindu Architecture—Acharya) डाक्टर आचार्य महोदय ने नगरों को निम्नलिखित आठ प्रकारों मे विभाजित किया है:—

१.	राजधानी	५	खेट
२.	नगर	६.	खर्वाट
३	पुर	७.	कुब्जक
४	नगरी	८	पत्तन

अस्तु। नगरी नगर का ही पर्याय मात्र है। पुर भी नगर का ही पर्याय है, परन्तु परम्परा से जिन नगरों के लिये प्राचीन साहित्य मे पुर शब्द का प्रयोग किया गया है वे डा० आचार्य के ही शब्दों में (Ency. of H. Arch. see under Pura) एक विशाल सुरक्षित (fortified city) नगर के बोधक हैं। उदाहरणार्थ त्रिपुर तथा महापुर (यजुर्वेद तथा ब्रह्माण्ड पुराण द्रष्टव्य है)। हाँ इनमें अर्थात् पुरों में नगरों की रौनक तथा शान-शौकत नहीं मिलती है।

अब रहा 'कुब्जक'। यह भी एक नगर ही है परन्तु कामिकागम (२०. २५) के अनुसार यह महानगरों के किसी कोण-विशेष पर निविष्ट एक सुन्दर बस्ती है जहाँ पर लोग अवकाश के दिनों मे महानगर से आ आकर रहते हैं अथवा मकान बना लेते हैं। यह एक Suburb होता है अथवा महानगर के अत्यन्त समीप एक ग्राम-विशेष का नागरिक उपकरणों एवं संभारों से विकसित स्वरूप।

अब इन पर क्रमशः विवेचन करना चाहिये।

नगर

नगर के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम हमे इसकी शब्द व्युत्पत्ति पर ध्यान देना है। नगर नग (न गच्छतीति नगः) से सम्भवतः सम्पन्न हुआ है। जिसप्रकार एक नग पर्वत में पाषाण शिलाओं के कारण पुष्टि एवं स्थायित्व होता है उसीप्रकार ऐसी बसती जिसमे पक्के मकान हों तथा जिसकी दीवालें तथा छतें विशेषकर पाषाण-शिलाओं अथवा तप्त इष्टिकाओं से निर्मित हों, उसको नगर की संज्ञा दी गयी है। इसके साथ ही साथ जहा के निवासी ग्रामीण न होकर शिष्ट एवं सभ्य नागरिक हों—ऐसा भी अर्थ निकलता है।

नगर की परिभाषायें विभिन्न शिल्प-ग्रन्थों, पुराणों तथा अन्य साहित्य सन्दर्भों मे भिन्न-भिन्न रूप मे प्राप्त होती हैं। अत. उन सब की पुनरावृत्ति न कर यहा मानसार तथा मयमत मे उल्लिखित परिभाषाओं को दे देने से विवेचन सुकर हो जायेगा। मानसार मे नगर की निम्न परिभाषा दी गयी है:—

जनैः परिवृत द्रव्यक्रयविक्रयकादिभि.
अनेकजातिसयुक्तं कर्म्मकारै· समन्वितम् ।
सर्वदैवतसंयुक्तं नगर चाभिधीयते ॥ (अ० ६)

मयमत में देखिय—

दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्त तु शालाढ्यम्
क्रयविक्रयकैयुंक्तं सर्वजनावाससङ्कीर्णम्
सर्वसुरालयसहितं नगरमिद केवल प्रोक्तम् ॥ (अ० १०)

इन दोनों परिभाषाओं मे बहुत कुछ साम्य है। दोनो का अर्थ है—"जहाँ पर क्रय-विक्रय आदि विभिन्न व्यवहार होते हैं। नाना नर निवास करते हैं। अनेक जातियों के लोग पाये जाते हैं। विभिन्न श्रेणियो के कर्मकार (artisans) बसते हो। अथच जहाँ पर सब प्रकार के श्रेष्ठ देवो के देवतायतन स्थित हों उसे नगर की सज्ञा दी गयी है।"

नगर-निवेश के वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि-कोण से चारों ओर चारों दिशाओं पर द्वार (gates) होने ही चाहिये। ये सब द्वार गोपुरों से परिवेष्टित होने चाहिये। नगर में वास-भवनो का सम्यक्-विन्यास होना चाहिये। यातायात एवं क्रय-विक्रय आदि के कारण सदैव तत्परता, संकीर्णता एवं सम्पन्नता भी पद-पद पर परिलक्षित होती ही है। नाना-शिल्पोपजीवियों का नगर केन्द्र होता है तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी प्रमुख देवो के देवतायतनों से यह स्थान सदैव पवित्र रहता है। भारत की प्राचीन एव अर्वाचीन दोनो ही परम्पराओं मे नगर आभ्यन्तरिक-वाणिज्य एवं व्यवसाय का केन्द्र होता है तथा प्रदेशीय ग्राम-समूहों—जिले का वह हेडक्वार्टर होता है। नगर के प्रमाण, मार्ग, सीमा एवं बसति आदि पर आगे प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर नगर-प्रभेदो की साधारण समीक्षा ही अभिप्रेत है।

नगर की आधुनिक रौनक सभाभवन (Assembly Halls) पुर-जन-विहार स्थान (parks) आराम, फौवारे तथा कासार (artificial lakes) आदि उपकरण पर समराङ्गण मे बडे सुन्दर संकेत हैं जिनका उल्लेख 'पुर-निवेश' अध्याय में (२२-२५ श्लोकों मे) निभालनीय है—देखिये परिशिष्ट (अवतरण) भोज के 'युक्ति-कल्पतरु' में भी ऐसा ही प्रतिपादन है—प्रपा-मण्डप-कासार-काननाद्युपशोभिते।

राजधानी

देश-विशेष अथवा मण्डल-विशेष के कतिपय समुन्नत नगरों मे से एक नगर को राजधानी चुना जाता है। शासन-सौविध्य अथवा अनुकूल स्थिति ही इसके कारण होते हैं। समराङ्गण का प्रवचन हम देख ही चुके हैं "यत्रास्ते नगरे राजा राजधानी तु ता विदु.' अर्थात् जिस नगर मे राजा रहता है अथवा शासन-पीठ होता है उसे राजधानी कहते हैं। आजकल भी तो यही परम्परा है। उत्तर-प्रदेश के प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, अगरा, बनारस आदि अनेक महानगरो मे मे राज-पीठ के लिये, शासन-पीठ के लिये पहले

प्रयाग अब लखनऊ को चुना गया है। मयमत-शिल्प शास्त्र मे राजधानी पर बड़ा सुन्दर प्रवचन है जिसमे प्राचीन राज-पीठीय नगरों की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है।

"जिस नगर की आबादी पश्चिम तथा उत्तर मे गहन हो तथा जिसकी समन्तात् दीवालें परिखाओं एवं प्राकारों से परिवृत हों। रक्षार्थ बाह्यसीमा मे चारो ओर सैन्यशिविर भी स्थापित हों। इस प्रकार जहाँ पर पश्चिम एवं उत्तर भू-भागो पर जनावासो की स्थिति हो तथा पूर्व दक्षिण भू-भागों पर राजकर्मचारियों, सेनानियो एवं सैनिकों की वास-भवन-वीथी बनी हो। अथच जिसके द्वारों पर गोपुरों की मालायें शोभित हो। नगराभ्यन्तर प्रदेश पर सभी प्रमुख देवों के देवालय स्थित हों। नाना गणिकायें भी जहाँ विराजमान हो। इतस्तत. समन्तात् उद्यानों की शोभा भी बिखरी हो। राज-प्रासाद तो वहाँ होवे ही, साथ ही हाथी, घोडे, प्यादे तथा अन्य सभी सेनाङ्ग, सैनिक एवं सेनानी रहते हो। विभिन्न जातियों के लोग जहाँ पाये जाते हों—उस नगर को राजधानी की संज्ञा दी गयी है।" (म० म० १०)।

कौटलीय अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति के राजधानी-विवरण बडे ही सुन्दर हैं। शुक्रनीति मे राजधानी के सम्बन्ध में लिखा है :—

"राजधानी नगर की आकृति सुन्दर, अर्धचन्द्राकार हो अथवा वृत्ताकार अथवा समचतुरश्रायताकार हो। प्राकार, भित्तियों एवं परिखाओं से परिवृत हो ही। इसका आभ्यन्तरिक निवेश अथवा विभाग विभिन्न वसतियो के अनुकूल हो। केन्द्र मे सभा-भवन हो। वहाँ पर सतत कूप, तड़ाग, वापी, पुष्कर सुसम्पन्न हों। चारो दिशाओं पर चार मुख्य द्वार हों। इसके मार्ग विस्तृत हों, उद्यान तथा पुरजन-विहार-स्थान सुविस्तृत एवं एक कतार में हों। मंदिरों, मठों तथा पथिक-शालाओं की जहाँ पर बहुतायत हो" (शु० नी० अ० १)।

पत्तन (तथा पुट-भेदन)

समराङ्गण के परिशिष्ट अवतरणों में पत्तन के सम्बन्ध मे जो प्रवचन हैं—"उप-स्थानं भवेद्, राज्ञा यत्र तत् पत्तनं विदु." अर्थात् जहाँ पर राजाओं का उपस्थान (2nd Headquarter) हो अर्थात् ग्रीष्मकालीन अथवा शीतकालीन राजपीठ हो उसे पत्तन कहते हैं। परन्तु समराङ्गण की यह पत्तन-परिभाषा परम्परागत-शिल्पशास्त्रों एवं व्यावहारिक साहित्य संदर्भों के अनुकूल नही जँचती—ऐसी सम्भवत. शंका उठ सकती है। परन्तु यह बात नहीं है—अमरकोष को देखिये (मणिप्रभा—हरगोविंदशास्त्री) जहाँ पर नगर के पर्यायों की टिप्पणी में लिखा है "जहाँ राजा के नौकर आदि बसते है उसके पत्तनम्, पुटभेदनम्, ये दो नाम हैं" अत· अर्थात् जहाँ राजा के नौकर रहते हैं वह स्थान राजा का उपस्थान हो ही सकता है। वही उप-स्थान यदि व्यवसाय तथा वाणिज्य का केन्द्र हो तो पुटभेदन के नाम से पुकारा जाता है—बहुस्फीतवणिग्युक्तं तदुक्तं पुटभेदनम् (स सू. १८ वाँ अ०)। अत. पत्तन एवं पुटभेदन की समराङ्गणीय साहचर्य सम्मत प्रचलित परम्परा से वैषम्य नहीं रखती।

मयमत के पत्तन-प्रवचन का पूर्व-उल्लेख हो ही चुका है। (देखिये नगर विकास—दूसरा अध्याय) अब मानसार को देखिये :—

क्रयविक्रयसंयुक्तमब्धितीरसमाश्रिम् ।
देशांतरागतजनैर्नानाजातिभिरन्वितम् ॥
पत्तन तत् समाख्यातं वैश्यैरध्युषितं तु यत् ॥ मा० नवाँ अ०
पत्तनसज्ञ तद्वत् पोतान्वितवारिधितटोपेतम् ॥ मनु० च० अ० १७ ।

मानसार मे पत्तन की जो परिभाषा दी है तथा मनुष्यालय-चन्द्रिका मे पत्तन पर जो प्रवचन है—इन दोनों को मयमतीय परिभाषा के साथ लेकर जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं उसके अनुसार पत्तन एक प्रकार का वृहत् वाणिज्य बन्दरगाह है जो किसी नदी या सागर के किनारे स्थित होता तथा जहाँ पर प्रधान-रूप से वणिक्गण निवास करते हैं। अथच कौटिलीय अर्थ-शास्त्र के परिशीलन से पत्तन के दो रूप प्राप्त होते हैं—पत्तन तथा पट्टन (जो प्राय. पत्तन का ही विकृत रूप सामान्य रूप से समझा जाता है)। इनका रूप पूर्व निर्दिष्ट पत्तन-विशेषताओं से ही प्रभावित है।

दुर्ग

यतः दुर्ग-प्रभेद पर इस ग्रंथ में एक अलग अध्याय है अतः दुर्ग संबंधी समीक्षा वहीं द्रष्टव्य है।

खेट

खेट के सम्बन्ध में समराङ्गण में (देखिये पुर-निवेश नामक दसवा अध्याय) जो निर्देश है उसका साराश यह है कि नगर खेट एवं ग्राम इन तीनों के निवेश में खेट बीच का है—नगर से छोटा परन्तु गाँव से बड़ा। अतएव नगर के विष्कम्भ के आधे के प्रमाण से खेट का विष्कम्भ प्रतिपादित किया गया है। नगर से एक योजन की दूरी पर खेटक या खेट का निवेश अभीष्ट है। जहा नगरों के मार्गों के विष्कम्भ का प्रमाण ३० धनुष है, वहाँ खेटक के मार्गों का २० धनुष।

खेट के सम्बन्ध में भोज का यह वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण से प्रभावित हुआ है [देखिये ब्रह्माण्ड पुराण के निम्नोद्धृत श्लोक.—

ततस्तन्निर्ममयामासु· खेटानि च पुराणि च ।
ग्रामश्चापि यथायोगं तथैव नगराणि च ॥
खेटानाञ्च पुराणाञ्च ग्रामाणां चैव सर्वश. ।
विविधाना च दुर्गाणां पर्वतोदकधन्विनाम् ॥
नगरादर्धं विष्कम्भ: खेटं पर तदूर्धतः ।
नगरादर्धयोजनं खेटं खेटाद् ग्रामोऽर्धयोजनम् ॥

इस प्रकार खेट या खेटक एक प्रकार का छोटा नगर होता है जोकि समतल भूमि पर किसी सरिता के तट पर स्थित होता है अथवा वन-प्रदेश मे भी इसकी स्थिति अनुकूल

है यदि छोटी-छोटी पहाड़ियाँ समीपस्थ हैं। इसके चारों ओर ग्राम होते हैं। इसीलिये भी कुमार ने अपने शिल्प-रत्न में लिखा है:—

'ग्रामयो. खेटकं मध्ये राष्ट्र-मध्येम् खर्वटम्,' अर्थात् दो ग्रामों के मध्य में अथवा ग्रामसमूहों के मध्य में एक समृद्ध लघु-काय नगर को 'खेटक' के नाम से पुकारा जाता है तथा राष्ट्र-मध्य में उसी को खर्वट की संज्ञा दी गयी है।

खेट-नगर की इस साधारण विशेषता के साथ-साथ एक दूसरी विशेषता यह है कि इस नगरकी आबादी विशेषकर शूद्रों तथा कर्मकारों की होती है इस तथ्य का पुष्टीकरण मयमत की निम्नलिखित परिभाषा से प्रकट हैं:—

शूद्रैरधिष्ठित यसद्यचलावेष्टितं तु तत्, खेटम् ॥
मयमत १० वां अ०

अर्थात् जो शूद्रों से अधिष्ठित हो तथा नदी और पर्वत से आवेष्टित हो उसे खेट कहते हैं।

खेट की तीसरी विशेषता यह है कि इसका प्राकार मृन्मय—"पांसुप्राकार-निबद्ध खेटम्".—"खेटानि धूलीप्राकारोपेतानि" (देखिये कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र अ० २२वां पृ० ४६वां टिप्पणी)

खेटक के सम्बन्ध में एक संकेत और आवश्यक है। श्रीकुमार जी के खेट के विषय में पूर्वोद्धृत प्रवचन के आगे निम्न प्रवचन मिलता है:—

वने वा नगरोपान्ते नागरैस्तु जनैर्वृतम् ।
सेनारामाकरोपेतं शाखानगरमिष्यते ॥

अर्थात् यह खेट कहीं अपने व्यवसाय (Industry) अथवा कला-कलापों के कारण अथवा फिर किसी आकर (खान) आदि विशेपता के कारण अधिक समृद्ध यदि हो उठा हो तो उसे शाखा-नगर कहना समीचीन होगा।

खेटक की यह एक परम्परा है। यह सम्भवतः वास्तु-शास्त्रीय दो परम्पराओं—पौराणिक तथा आगमिक—में से पौराणिक परम्परा है। कामिकागम का निम्न वचन द्रष्टव्य हैं:—

वने जनपदे चैव केवले शूद्र-सेवितः ।
कण्टकः खेटको ग्रामः क्रमात्त्रिविधमीरितः ॥

अतः निश्चित है कि इस परम्परानुसार खेटक में केवल शूद्र ही लोग रहते थे। आज भी देहातों की बसतियों की ओर ध्यान दीजिये। खेड़ों, खेरों के नाम से प्रसिद्ध छोटे-छोटे ग्रामों में प्रायः नीच जाति के लोग रहते हैं।

खर्वाट—

अभी तक खेट के खटराग में पड़े रहे। अब खर्वाट की "आट" से नगर-वाटिका के आगे के निटपों को देखें।

खर्वाट-नगर की मुख्य विशेषता यह है कि यह पार्वत्य-प्रदेश पर होता है। मयमत देखिये:—

'परितः पर्वतयुतं खर्वटकं सर्वजनसहितम् ॥

(मयमत दसवा अ०)

अर्थात् सब प्रकार के मनुष्यों से आवासित एवं चारों ओर पर्वतों से आच्छादित नगरों को खर्वटक या खर्वाट कहते हैं। इस नगर के परकोटे के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि "क्षुल्लकप्राकारवेष्टितं खर्वटम्" उसका प्राकार बहुत बड़ा न होकर साधारण छोटा सा होता है—ठीक ही है, क्योंकि जिस नगर के चारों ओर पहाड़ियाँ हैं तो वे सुतरा प्राकार का सम्पादन करती ही हैं। अथच खर्वट की स्थिति श्रीकुमार जी के ऊपर उद्धृत वचन के अनुसार राष्ट्रमध्य (जनपद-मध्य में) बतायी गयी है। इसी तथ्य का पुष्टीकरण चाणक्य के अर्थ-शास्त्र में प्राप्त होता है। कौटिल्य के मत में खर्वटिका अथवा खर्वाटिका निवेश एक दुर्ग के रूप में होता है जो दो सौ ग्रामों की रक्षार्थ निविष्ट होता है—"द्विशतग्राम्या खर्वाटिकाम्" (कौ० अ० अ० १२)

दत्त महाशय ने अपनी पुस्तक में (T. Planning in Ancient India page 279) जो इसके प्रमाण पर प्रकाश डाला है उससे यह स्पष्ट है कि यह खर्वाट खेट से बड़ा होता है। खेट का प्रमाण उत्तम, मध्यम एवं अधम अथवा ज्येष्ठा, मध्यम तथा कनिष्ठ प्रभेद से क्रमशः २५६, ३२० तथा ३८४ दण्ड होता है वहाँ खर्वाट का प्रमाण उसी त्रिविध प्रभेद से ४४८, ५१२ तथा ५७६ दण्ड नियत किया गया है।

मानसार के अनुसार (देखिये Dr. Acharya—Encyclo. of Hindu Architecture page 137) खर्वाट का प्रयोग ग्राम के अर्थ में भी है साथ ही खर्वाट शब्द का प्रयोग राजकीय भोजन-शालीय-मण्डप के लिये भी संकेतित है:—

"नृपाणां भोजनार्थं स्यात् खर्वटाख्यन्तु मण्डपम् ॥ ३४वां अ०

शिविर

इसकी विस्तृत समीक्षा आगे के अध्याय 'दुर्ग-प्रभेद' में की गयी है।

स्थानीय

'स्थानीय' नामक नगर के लिये चाणक्य ने तो दुर्ग कहा है। ८०० ग्रामों के मध्य में स्थानीय नामक दुर्ग-विशेष की स्थापना 'अर्थ-शास्त्र' का आदेश है। अथच मयमत तथा शिल्परत्न के स्थानीय-विषयक समुद्धरण समुल्लेख्य हैं:—

नद्याद्रिपार्श्वयुक्तं नृपभवनयुतं सबहुरक्षम्
यन्नृपतिस्थापितकं तत् स्थानीयं समुद्दिष्टम् ॥

(म० म० अ. १०)

पर्वतस्याथवा नद्याः पार्श्वे राजवलान्वितम्
राष्ट्रस्यान्तकपालाय तत् स्थानीयं विदुर्बुधाः ॥

(शि. र० ५)

इसप्रकार स्थानीय नगर की स्थिति किसी सरितातट पर अथवा पर्वतीय उपत्यका-प्रान्त में बतायी गयी है। यहाँ रक्षार्थ सैनिकों की स्थापना आवश्यक है। यह एक प्रकार का Muffasil town अथवा डिवीजनल आफीसर का हेडक्वार्टर है।

'स्थानीय' शब्द के शब्दार्थ पर यदि हम ध्यान दें तो वाच्यार्थ के साथ-साथ वास्तु-शास्त्रीयपरम्परा में उसके विकसित स्वरूप के मर्म को हम समझ सकते हैं। वाच्यार्थ तो एक मात्र लोकल fortified town हुआ—स्थानीय से लोकल तथा fortified town तो सर्व-साधारण-विशेषता। परन्तु इसमे एक इतिहास भरा है। प्राचीन-काल में जब आधुनिक साधनो का अभाव था तो राज्यसत्ता एवं राज्य-व्यवस्था सदैव एक सी स्थिर नहीं रहती थी। अतः आवश्यकतानुसार राजा लोग अपने अपने स्थानीय हेडक्वार्टर स्थापित करते रहते थे—बदलते रहते थे। अतएव कालान्तर में इसप्रकार के नगर-विशेष की संज्ञा ही स्थानीय पड़ गयी। आगे चल कर जब शान्ति एवं सुरक्षा में स्थिरता आई तो फिर स्थानीय नगरों में राजा की ओर से सुरक्षाहेतु एवं कर-एकत्रीकरणार्थ राज्य की ओर से कोई उच्च राज्याधिकारी रहने लगा। आधुनिक भारत में कमिश्नरियों के लिये हम स्थानीय शब्द-वाच्य नगर का प्रयोग कर सकते हैं।

द्रोणमुख

द्रोणमुख एक प्रकार का आपणक-नगर market town है। यहाँ पर व्यवसायियों का आनाजाना लगातार रहता है। इसकी स्थिति किसी नदीतट पर अथवा सरिता-संगम अथवा सागर-वेला पर बतायी गयी है। इसका दूसरा नाम द्रोणीमुख भी है। श्री कुमार जी के अनुसार यह नगर एक प्रकार का बन्दरगाह है जहाँ पर जहाज आते जाते हैं और विश्राम लेते हैं —शिल्परत्न अ० ५।

तदेवाब्धेश्च नद्याश्च संगमागतपोतकम्
द्वीपान्तरवणिग्जुष्टं विदुर्द्रोणीमुखं बुधा. ॥

यह द्रोणीमुख अथवा द्रोणमुख मयमत के अनुसार 'विडम्ब' बन जाता है यदि ग्रामों के समीप में स्थित होता है। मयमत का मत है.—

नद्याश्चिदक्षिणादक्षिणभाग् वणिगादिसंयुक्तम्
सर्वजनावासं यद् द्रोणमुखं प्रोक्तमाचार्यैः
ग्रामसमीपे जनताश्रयमिदमुदितं विडम्बमिति ॥
(म० म० १०)

दत्त महाशय के संकेत ने द्रोणमुख की एक तीसरी विशेषता भी है जिसके अनुसार यह एक व्यावसायिक केन्द्र के रूप में परिगणित किया गया है। ४०० ग्रामों के बीच इसकी स्थिति उन स्थानीय ग्रामों (Local villages) की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रतिपादित की गयी है।

द्रोणमुख के निवेश-नियमों में भिन्न भिन्न परिमाणों का भी शास्त्रों में परिगणन मिलता है जिसने इसके क्षुद्र, साधारण एवं विशाल सभी रूप मिलते हैं।

कोटमकोलक

यह एक प्रकार का आरण्यक नगर है। पर्वतों के मध्य में भी इसकी स्थिति हो सकती है। भिन्न भिन्न स्थानों के अनुरूप इसकी विभिन्न निवेश-परम्परायें शास्त्र में प्रतिपादित हैं। दत्त महाशय ने ५ प्रभेदों का संकेत किया है जो १६० दण्ड से ५०० तक जाते हैं।

निगम

इस नगर की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें विशेषकर कलाकार—कारीगर शिल्पी लोग रहते हैं। यह बडे ग्राम एवं बडे नगर के बीच की बस्तीवाला नगर (town) कस्बा कहा जा सकता है। समराङ्गण के नगर-प्रकार-प्रवचन की पंक्तियों का समुद्धरण हो चुका है। उनमें निगम का दर्जा केवल ग्राम के ऊपर तथा नगर-श्रेणियों के बीच निर्दिष्ट किया गया है।

मयमत तथा शिल्परत्न के विवरण भी इस प्रसङ्ग में अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं।

चातुर्वर्ण्यै. कर्मकारैर्नानाकर्मोपजीविभिः
पण्याश्वधनधान्याद्यैर्युक्तं तु निगमं स्मृतम्
शि० र० ५.

चातुर्वर्ण्यसमेतं सर्वजनावाससङ्कीर्णम्
बहुकर्मकारयुक्तं यन्निगमं तत्र समुद्दिष्टम्
म. म. १०

यद्यपि इस नगर में विशेषकर शिल्पियों की वसतिया होती हैं तथापि इन प्रवचनों के प्रमाण से चारों वर्णों के लोगों के भी इसमें निवास होते थे—इसमें सन्देह नहीं परन्तु प्राधान्येन शिल्पी लोग रहते होंगे।

निगम-नगर के विकास सम्वन्धी परम्परा मे इसकी संज्ञा—निगम का महत्व है। निगम का शब्दार्थ तो व्यापार-मार्ग है—Trade route—अतः कालान्तर में इसी विशेषता के कारण नगर का नाम भी निगम पड़ गया।

मठ अथवा विहार

मठ या विहार उन विद्यास्थानों—विश्वविद्यालयीय नगरों की संज्ञा दी गयी है, जिनकी महत्ता एवं गरिमा के गर्व से आज भी हमारा वक्ष गर्वस्फीत है। वैसे तो मठ या विहार उस स्थान को कहते हैं जहां छात्रों के आवास एवं अध्ययन के स्थान हों। परन्तु कालान्तर पाकर जैसा कि नगर-विकास के प्रकरण मे निर्देश किया जा चुका है ये ही छोटे-छोटे गुरु-गृह, कुल-पति-कुटी, छात्रावास, भिक्षु-उटज बडे बडे नगरों के आकार मे परिणत हो गये। ऐसे विश्वविद्यालयीय नगर (University towns) आज भी पाये जाते हैं। कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, वाराणसी, प्रयाग, आदि विभिन्न आधुनिक विश्वविद्यालयीय नगरों को कौन नहीं जानता ? प्राचीन भारत में ऐसे नगरों में केवल दूरदूरगत छात्र

ही नहीं रहते, पढते, अनुसन्धान एवं गवेषणा करते, ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचिंतन एवं वेदाध्ययन तथा वीर्यरक्षण) पालन करते, वरन् विभिन्न जिज्ञासु लोग भी आकर इनकी छाया मे रहते, चिंतन मनन, एवं भजन करते, शान्ति पाते थे। विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षु-वृन्द, परिव्राजक-गण, साधु-टोलियॉं भी यहॉं विचरण करती थी। बडे-बडे धर्मो के आचार्य अपने-अपने धर्म चक्रों का श्रीगणेश भी करते थे। बडे-बडे दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शनो की रचना की। ऐसे नगरों में खाद्य एव पेय का पूर्ण प्रबन्ध होता था। शान्ति का साम्राज्य, तपस्या और साधना का वातावरण सौविध्य एवं सादगी का आदर्श सर्वत्र विराजमान रहता था। भारत की महान् सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में इन नगरों ने बड़ा योग-दान दिया। काशी, सारनाथ, नालन्दा और तक्षशिला के इतिहास की गाथा के समुज्ज्वल पृष्ठ— भारतीय सभ्यता की गौरव-गाथा को कौन नहीं स्वीकार करेगा ?

यहॉं पर यह स्मरण रहे कि प्राचीन भारत के सभी प्रकार के नगरो की जो सर्व-साधारण विशेषता उसकी रक्षा-योजना (प्राकार-योजना अथवा सैन्य-स्थापना) थी वह इस नगर-प्रभेद में भी पायी जाती थी। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लेकर श्री कुमार ने अपने शिल्परत्न में मठीय नगरों के सम्बन्ध मे निम्न परिभाषा दी हैः—

आगन्तुकानां च सर्वेषां नैष्ठिकानां निवासभूः
अन्नपानीयसंयुक्तः केवलो वा मठो मत·
विद्यास्थानं तु तद्वद् स्यात् बहुसेना-समन्वितम् ॥

इस परिभाषा का अन्तिम चरण 'बहुसेनासमन्वितम्' इसी उपर्युक्त तथ्य का निर्देशक है।

हैवेल साहब ने प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयीय नगरों के सम्बन्ध मे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Indian Architecture में ऐसे नगरों के विकास में जो भारतीय संस्कृति की आधार-भूत विशेषता ब्राह्मणाधिवास अथवा आश्रम-व्यवस्था को प्रश्रय दिया वह ठीक ही है। उनके शब्दों मेः—

" And as the Brahmans became the custodians of Aryan traditions and culture, the Asrama or Brahmana village developed into the University town to which Aryan Youth of the twice-born went for Instruction "

अर्थात् जब ब्राह्मण लोग आर्य-संस्कृति एवं सभ्यता के संरक्षक बने तो उनके निवास —आश्रम अथवा अधिवासीय ग्राम (ब्राह्मणाधिवास देखिये हर्ष-चरित) एक विश्वविद्यालयीय नगर मे परिणत हो जाते थे। क्योंकि उनकी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य की कीर्ति को सुनकर हजारो की तादाद में शिष्यमण्डली उनसे शिक्षा-ग्रहण करने के लिये आती थी।

अस्तु ! इस प्रकार नगर-प्रभेदों की समीक्षा ने हमने देखा कि मानवीय विभिन्न व्यापारों के अनुरूप विभिन्न आवासोपयुक्त विभिन्न नगरो का निर्माण मानवसभ्यता की

सर्वतोमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति के ही कारण सर्वत्र—इस देश तथा विदेश में हुआ। अतः नगरो के विभिन्नप्रकार उसी तथ्य के द्योतक हैं। इन प्रकारों मे मन्दिर-नगरों Temple cities—जो प्राचीन भारत की अनुपम निधि कही जा सकती हैं—पर विवेचन इसलिये नहीं किया गया, क्योंकि इन पर पूर्व अध्याय में नगर-विकास में काफ़ी संकेत हो चुका है। अथंच जहाँ तक आधुनिक उद्यान-नगरों garden cities का प्रश्न है उन पर आगे के अध्यायो मे अवसर-प्राप्त विवेचन होगा। अतः इस स्तम्भ से अग्रसर होकर अब ग्राम-प्रभेद पर आना है।

४

ग्राम-प्रभेद

लेखक ने पिछले प्रकरणों मे यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ग्राम और नगर मे भारतीय वास्तु-परम्परागत-शास्त्रों के अनुसार 'प्रकार' का भेद नहीं है केवल 'आकार' का है। भारत के बहुत बड़े-बड़े प्राचीन नगरों की आत्मकथा का प्रारम्भ एक छोटे से ग्राम की कहानी है। पाटलिपुत्र से बढ़कर कौन भारत का प्राचीन नगर था। पाटलिपुत्र की आत्मकथा का श्रीगणेश थोड़े से गावों ने प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार अन्य नगरों का भी इतिहास है।

सच तो यह है (जैसा कि पूर्व प्रकरणों मे संकेत किया गया है) कि मनुष्य के रहन-सहन, निवास, परिधान तथा भोजन-भजन के ढंग पर उसकी अपनी मौलिक सभ्यता एवं संस्कृति की पूर्ण छाप रहती है। इस अध्यात्म-प्रधान देश मे सरलजीवन-यापन की बहुमुखी अथवा सार्वभौमिक विशेषता के कारण, औद्योगिक नगरों एवं बड़े-बड़े कार्यालयों का विकास सामान्य रूप से सम्भव नहीं था। इस कृषि-प्रधान देश में ग्रामीण सभ्यता ने ही विशेष प्रश्रय पाया। फलतः ग्रामो की अधिकता सहज ही समझ मे आ सकती है। कालांतर मे कुछ ग्राम अपनी स्थिति एवं सुविधानुसार तथा राजपीठादि (मंदिर, अथवा विद्यापीठ आदि) पूर्वोक्त कारणों से बड़े-बड़े महाग्रामों अथवा नगरों में परिणत हो गये। अतः ग्राम और नगर का भेद एकमात्र आकार भेद ही रहा। नगर का आकार एवं विस्तार बृहद, ग्राम का लघु। दत्तमहाशय के शब्दों में "Village is a town in miniature"।

इस प्रकार नगर और ग्राम मे साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद था, और है। जहाँ ग्राम अकृत्रिम एवं प्राकृतिक हैं वहाँ नगर कृत्रिम तथा मानविक हैं। जहाँ ग्राम के विकास में नैसर्गिक विकास के दर्शन होते हैं वहाँ नगर के विकास में, उसकी विवृद्धि मे मनुष्य-प्रदत्त कृत्रिमता का पुट पद-पद पर परिलक्षित होता है।

ग्रामों की इस सर्वसाधारण विशेषता के अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र की एक दूसरी परम्परा है, जिसके अनुसार ग्रामो का विकास भी नैसर्गिक आवश्यकताओं एवं साधनों के अतिरिक्त सैन्य-संचाल में अथवा शासन-सौविध्य के आधार पर भी है। इस सम्बन्ध मे ग्राम-निवेश एवं ग्राम-निर्माण के विषय में कौटिल्य के निम्न प्रवचन दिये जाते हैं:—

शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानं अन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। नदी-शैल-वन-घृष्टि दरी-सेतुबन्ध शाल्मली शमी-क्षीरवृक्षान् अन्तेषु सीमानं स्थापयेत्।

अष्टशतग्राम्यामध्ये स्थानीयचतुश्शतग्राम्याद्द्रोणमुखं द्विशतग्राम्यां खार्वटिकं दशग्राम्या संग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत्।

(कौ० अर्थ० अ० २२ वाँ)

अर्थात् ग्राम जिनमें, कि प्रत्येक मे कम से कम सौ शूद्र अथवा कृषक परिवार तथा अधिक से अधिक ऐसे पॉच सौ परिवार हो, स्थापित किये जावें। प्रत्येक की सीमा एक कोस से दो कोस की हो। इनकी रक्षार्थ अपनी अपनी स्थित्यनुरूप पारस्परिक रक्षा का प्रबन्ध हो। सीम का पार्थक्य अथवा निर्धारण एक नदीविशेष, पर्वतविशष, वनविशेष, वाल्वाकृति वीरुधविशेष, कन्दरायें, पुल अथवा वृक्षविशेष जैसे शाल्मली, शमी अथवा क्षीरवृक्ष आदि से सम्पादित की जावे।

इन ग्रामों की रक्षार्थ ८०० ग्रामो के बीच स्थानीय दुर्ग २०० के बीच द्रोणमुख दुर्ग तथा १० ग्रामों के बीच में संग्रहणदुर्ग की स्थापना की जावे।

महामंत्री चाणक्य के इन आदेशों से तो राजा के लिये ग्रामों की स्थापना करना कृत्रिम हो जाता है। ग्राम-निवेश की इस कृत्रिमता के अन्तर्तम मे जो रहस्य है उस पर प्रथम ही संकेत हो चुका है। राजपीठीय नगरो—राजधानियो को संकीर्ण होने से बचाने के लिये आबादी के कुछ अंशों को, नये-नये गावो का निर्माण करके, वहाँ भेजना अथवा विदेशियों का इन नव-निविष्ट ग्रामो मे रहने के लिये प्रोत्साहित करना—ये ही प्राय. इन कृत्रिम ग्रामों की रचना के हेतु हैं।

ऐसे ग्रामों के विकास के सम्बन्ध मे जो एक और संकेत है वह है सैन्य-सचालन-प्रयोजन। इस की पुष्टि दत्त-प्रदत्त उम्माग जातक की (देखिये T. P in Ancient India page 198) एक कहानी से हो जाती है। युद्ध-प्रस्थान के लिये उद्यत एक राजा ने अपने मंत्री को आज्ञा दी कि वह प्रस्थान-पथ पर ग्रामों का निर्माण करे। मंत्री ने वैसा ही किया तथा राजा से निवेदन किया— 'महाराज। अब विलम्ब न करें। सात-सात योजनों की दूरी पर मैंने आपकी आज्ञानुसार ग्रामों का निर्माण करा दिया है तथा उनमे विश्राम स्थान आदि के साथ-साथ भोजन-वस्त्र, आभूषण, यान, अश्व, गज आदि सभी आवश्यक वस्तु-संभारों का विन्यस एवं प्रबन्ध भी कर दिया है।"

अत. प्रकट है कि ग्राम-विकास का कारण, जहॉ स्वतः उदय होना तो सवसाधारण रूप से था ही, और भविष्य मे भी होगा वहाँ इस नैसर्गिक विकास के अलवा दूसरी कोटि राजनैतिक एवं सैनिक कारणों के योग की भी है यह सिद्ध होता है।

कौटिल्य के इस उपर्युक्त प्रवचन के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामों के प्रादुर्भाव के इस साकेतिक समीक्षण के उपरान्त उनकी आबादी के विवेचना आवश्यक है। चाणक्य ने जो लिखा है कि ग्रामो की आबादी के अविरल अग कृष्योपजीवी शूद्र हैं, उसका पोषण मार्कण्डेय-पुराण के निम्न वचन से भी होता है:—

तथा शूद्रजनप्राय सुसमृद्धकृषीवला।
क्षेत्रोपयोगभूमध्ये वसति ग्रामसंज्ञिका॥

परन्तु ये निर्देश आपूर्ण सत्य के द्योतक नहीं हैं। इनकी आशिक सत्यता मे दो रायें नहीं हो सकती। परन्तु मयमत आदि शिल्प-ग्रथो में इस के विपरीत प्रमाण मिलते हैं जिससे यह सुस्पष्ट है कि शूद्रेतर जातियाँ एवं ब्राह्मण आदि भी ग्राम के प्रमुख निवासी होते थे।

बाण ने 'ब्राह्मणाधिवास' नामक ग्राम का हर्षचरित में वर्णन किया है। इस परम्परा की पुष्टि में मयमत के निम्न प्रवचन विशेष रूप से द्रष्टव्य है.–

द्वादशपञ्चविप्रैर्यत्स्थितमुत्तमोत्तमं ग्रामम्।
दशसाहस्रैर्मध्यमधमं स्यादष्टसाहस्रैः ॥ २५ ।

६ वाँ अ०

मयमत के इन प्रवचनों के परिशीलन से ग्रामों में शूद्रेतर उत्तमवर्णी ब्राह्मणों की बस्तियाँ होती थी। विभिन्न-संख्यक ब्राह्मण-भवनों के अनुरूप ही उत्तम, मध्यम तथा अधम ग्रामों का संख्यान किया जाता था।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि मयमत आदि प्राचीन शिल्प शास्त्रों में प्राचीन भारतीय-जीवन की उस झलक के दर्शन होते हैं जब भारतीय-जीवन अधिकाश ग्रामीण था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भारत का नागरिक जीवन अत्यन्त विकास को प्राप्त हो चुका था। अतः नागरिक चाणक्य यदि ग्रामों में शूद्र आदि निम्न श्रेणी के लोगों की बस्ती पर संकेत करता है तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं। ग्रामों की आबादी की इस साधारण समीक्षा के उपरान्त ग्राम-प्रभेद पर प्रकाश डालने के पूर्व एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। जहा आज भी प्राचीन नगरों के पर-कोटों के भग्नावशेष विद्यमान हैं—देखने को मिलते हैं, वहाँ ग्रामों के प्राकारों की शायद ही कहीं उपलब्धि होती हो। इसके दो कारण हैं। एक तो ग्रामों का निर्माण साधारण, तत्तद्देशीय मृत्तिका, काष्ठ, घास-फूस आदि से सम्पन्न होता था अर्थात् ग्रामों के भवन मृन्मय (mud houses) होते थे, अतः उनमें स्थायित्व के तत्व कहा रह सकते थे? ग्रामों के पुराने मकान गिरते गये, नये बनते गये। अत. प्राचीन ग्रामों के भग्नावशेष खण्डहरों में अथवा भूगर्भ में विलीन ही प्राप्य हैं जो खुदाई से अध्ययन अथवा खोज में कुछ भी सहायक नहीं बन सकते। दूसरा कारण यह है कि ग्रामों की प्राकार-प्रक्रिया पुस्तकों तक विशेष सीमित रही, प्रयोग में वह पूर्णरूप से नहीं पनप सकी। ठीक भी है, प्राकारादि-निवेश-प्रक्रिया तो मानवीय विशेष है, कृत्रिम अधिक है—नैसर्गिक कम है। ग्रामों के विन्यास के आधार-भूत सिद्धान्तों की समीक्षा में स्वतःप्रवृत्त ग्राम-विकास की ओर पाठकों का ध्यान पूर्व ही आकर्षित किया जा चुका है। अतः स्वतःप्रवृत्त ग्रामों में प्राकार आदि सन्निवेश सर्वसाधारण हो ही नही सकता। यत्रतत्र एक दो ग्रामों की यह विशेषता हो सकती है। उसी विशेषता से सम्भवतः प्रभावित होकर मानसार आदि शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी नगर-निवेश एवं दुर्ग-निवेश के सामान्य नियमों—प्राकार-परिखा आदि प्रक्रिया का समान रूप से ग्रामों के सन्निवेश में भी उल्लेख किया गया है।

यह पूर्व ही संकेत किया जा चुका है कि मानसार, मयमत आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में नगर, दुर्ग तथा ग्राम के निवेश एवं विभिन्न अंगों के विन्यास में प्रकार का अन्तर नहीं, आकार का ही अन्तर है। तीनों ही सुरक्षित स्थान (Fortified places) बताये गये हैं। हा जहा दुर्ग-निवेश का प्रमुख उद्देश्य रक्षार्थ सैन्यावास था वहाँ ग्रामों एवं नगरों के निर्माण का प्रयोजन आवास-स्थापन था। यहाँ पर यह स्मरण रहे जैसा कि पूर्व-प्रतिपादित किया

गया है कि ग्रामों की नगरों एवं दुर्गों की इस सामान्य-निवेश-प्रक्रिया का प्रवर्तन बहुत दिन तक नहीं चला। भले ही संक्रान्ति-कालीन यह व्यवस्था रही हो—ठीक भी था। परन्तु जब सुव्यवस्था एवं शान्ति के दिन आये तो पर कोटे आदि का विन्यास ग्रामों की बसतियों में विलीन हो गया।

ग्राम-विकास एवं ग्राम-निर्माण के सम्बन्ध में इस अतिसंक्षिप्त पर्यालोचन के के उपरान्त अब क्रमप्राप्त ग्राम-प्रभेद की विवेचना करनी है।

समराङ्गण में ग्राम पर कोई अलग अध्याय नहीं है। 'पुरनिवेश' नामक दशवें अध्याय में ही राष्ट्र-विधान, जनपद-निवेश, पुरनिवेश तथा राष्ट्रों के मध्य में ग्राम-निवेश आदि पर प्रकाश डाला गया है। अतः जहाँ तक ग्राम-निवेश की समीक्षा है उस सम्बन्ध में समराङ्गण की पुर निवेश सम्बन्धी सामग्री की उपादेयता का संकेत मिलता है। ग्राम-प्रभेद पर समराङ्गण ऐसे इस अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं वास्तु-विद्या के अत्यन्त विकसित काल में लिखित ग्रन्थ में भी ग्राम-प्रभेद पर मौन प्रथम दृष्टि में यह कुछ समझ में नहीं आता। परन्तु यदि हम थोड़ा सा विशेष ध्यान दें, तो इस अनुपलब्धि का कारण तत्कालीन सामाजिक स्थिति है, जिसके प्रभाव से प्रभावित यह ग्रंथ मयमत आदि प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों की ग्राम-प्रभेद-परम्परा को विस्मृत कर गया। राजा भोज का दरबार एक अत्यन्त प्रोज्ज्वल एवं प्रोन्नत नागरिक दरबार था। नागरिकता, वैभव, अतिरंजना तथा ऐश्वर्य का वह स्वर्ण-युग एक प्रकार से अपने में आत्म-विभोर था। ऐसी अवस्था में भोज ऐसे नागर नृपति के लिये अस्वाभाविक नहीं कि वह भारतीय जीवन के विराट-जीवन—ग्राम्यजीवन की असाधारण-विभूति की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। तथापि किसी भी निवेश-पद्धति में विशेषकर समराङ्गणीय व्यापक पुर-निवेश की रूपरेखा में ग्रामों को भुलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से समराङ्गण में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रवचन है। जिसका विशेष-उल्लेख उत्तर-पीठिका में होगा। उत्तम, मध्यम अधम राष्ट्रयोजना में समराङ्गण ने ग्राम-निवेश को ही इकाई (यूनिट) माना है।

अस्तु, प्राचीन ग्रंथों में प्रतिपादित ग्राम-प्रभेदों का उल्लेख कर इस स्तम्भ की पूर्णता सम्पादन करना ही होगा। मानसार के अनुसार ग्रामों के निम्न लिखित प्रभेद हैं. —

१. दण्डक
२. सर्वतोभद्र
३. नन्द्यावर्त
४. पद्मक
५. स्वस्तिक
६. प्रस्तर
७. कार्मुक तथा
८. चतुर्मुख

मानसार की इस ग्राम-प्रभेद-प्रक्रिया अथवा ग्राम-वर्गीकरण का आधार तत्तद्ग्रामों की आकृति-विशेष है। अर्थात् आकृत्यनुरूप ग्रामों की संख्या आठ है। जहाँ तक इनके विभिन्न अंगों के विन्यास अर्थात् मार्ग-निवेश-प्रक्रिया, वर्णाधिवास-विन्यास, देवतायन-निवेश आदि के साथ-साथ पद-सन्निवेश, प्रमाण-परिगणना, भवन-सन्निवेश आदि का प्रश्न है वह अवसर प्राप्त होते ही आगे चलकर प्रस्तुत किया जायेगा। यहाँ पर प्रथम अन्य आचार्यों की भी ग्रामप्रभेद तालिका द्रष्टव्य है।

मयमत के अनुसार भी ग्रामों की संख्या जैसा पूर्व अवतरण से प्रकट है आठ है, परन्तु उनमें मानसारीय संख्या साम्य के साथ-साथ पूर्ण संज्ञा-साम्य नहीं है :—

१. दण्डक
२. स्वस्तिक
३. प्रस्तर
४. प्रकीर्णक
५. नन्द्यावर्त
६. पराग
७. पद्म तथा
८ श्रीप्रतिष्ठित

इस प्रकार मानसार एवं मयमुनि के ग्रामाष्टक में केवल निम्नलिखित साधारण (Common) ग्राम हैं:—

१. दण्डक
२. नन्द्यावर्त
३. पद्म अथवा पद्मक
४. स्वस्तिक तथा
५. प्रस्तर

मयमुनि की इस ग्राम-प्रभेद-तालिका के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता यह है कि इस वर्गीकरण का आधार मानसार के अनुरूप आकृति आदि नहीं है वरन् एकमात्र "मार्ग योजना" (Planning of Streets) ही है।

अस्तु, अब आगमों और पुराणों की पुण्य-भूमि पर भी विचरण करें और देखें कि कितने ग्राम मिलते हैं? आगमों को वास्तु-शास्त्रीय देन अपूर्व है। कामिकागम के मत में ग्रामों को हम पन्द्रह प्रभेदों में विभाजित कर सकते हैं। निम्न-निर्दिष्ट इन ग्राम प्रभेद-पुंज के परिशीलन से प्रतीत होगा कि मानसार तथा मयमत के ग्राम-प्रभेदों के सम अथवा साधारण (Common) तथा विषम अथवा असाधारण दोनों प्रभेदों के ग्यारह प्रभेदों (५ साधारण) (३ असाधारण—मयमुनि) (३ असाधारण—मानसार) के अतिरिक्त चार और नये नाम निभालनीय हैं—

१. दण्डक
२. सर्वतोभद्र
३. नन्द्यावर्त
४ पद्म अथवा पद्मक
५. स्वस्तिक
६. प्रस्तर
७. कार्मुक
८. चतुर्मुख
९. प्रकीर्णक
१०. पराग
११. श्रीप्रतिष्ठित
१२. सम्पत्कर
१३. कुम्भक
१४. श्रीवत्स तथा
१५. वैदिक

अ इनमें निम्न पांच मयमत तथा मानसार के साधारण अथवा सम प्रभेद हैं—

१—दण्डक
२—नन्द्यावर्त

३—पद्मक
४—स्वस्तिक तथा
५—प्रस्तर

ब. निम्न तीन-तीन मानसार तथा मयमत के विशेष प्रभेद भी परिगणित हैं—

मानसारीय	मयमतीय
१. सर्वतोभद्र	१. प्रकीर्णक
२. कार्मुक	२. पराग तथा
३. चतुर्मुख	३ श्रीप्रतिष्ठित

स इन दोनों प्रभेद-मालाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित चार प्रभेद और हैं जिनसे सब मिलकर पन्द्रह हुए—

१. सम्पत्कर
२. कुम्भक
३. श्रीवत्स तथा
४ वैदिक

वैसे तो प्रकरणानुरूप इस स्तम्भ के ग्राम-प्रभेद को यहीं समाप्त कर देना चाहिये। परन्तु जैसा कि पूर्व ही प्रतिपादित किया गया है कि समराङ्गण में ग्राम-प्रभेद पर प्रकाश नहीं पड़ता उसमें ग्राम-निवेश पर पुर-निवेश के आनुषङ्गिक नियमों का परिपालन ही विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है। अतः आगे पुर-निवेश की समीक्षा ही प्रधान विषय होने के कारण इस स्तम्भ की पूर्णता के लिये यहा पर यह आवश्यक है कि थोड़ा सा इन १५ प्रभेदों का केवल सामान्य-निवेश-विवरण ही पाठकों के सम्मुख समुपस्थित किया जावे। दूसरे भारतीय ग्राम-निवेश के आधारभूत सिद्धान्तों की महत्ता एवं उपादेयता की ओर भी थोड़ा-सा संकेत करते चलना चाहिये। जहाँ तक इनके प्रत्येक के अलग-अलग सविस्तार विवरणों का सम्बन्ध है वे मयमत-शिल्पशास्त्र अथवा मानसार में विशेष द्रष्टव्य हैं। इन दोनों ग्रन्थों के एतद्विषयक सविस्तर वर्णन दत्त महाशय के ग्रन्थ मे अवलोकनीय हैं। अतः उन सबकी यहाँ प्रकृत मे, समरागण के अध्ययन की पूर्व-पीठिका में विशेष उपदेयता न देखकर इन विभिन्न ग्राम-प्रभेदो की निवेश-योजना पर दो चार शब्द लिखकर दुर्ग-प्रभेद की परिखाओं एवं प्राकारों को पार करना है। इन विभिन्न ग्रामो के निवेश-नियमों के आधाभूत विषय हैं—

१ आकार (चतुरश्र, वृत्त, आयत, खड्ग, अष्टाश्र, धनुषाकृति आदि-आदि)
२ पदविन्यास—(स्थण्डिल, चण्डित, अथवा परमशायिक—इनके विषय में 'पदविन्यास'—उत्तर-पीठिका में देखिये)
३ मार्ग-विनिवेश
४ रथ्या-महारथ्या-विनिवेश
५ मार्ग-रथ्या-महारथ्या के वाम अथवा दक्षिण ओर भवन-विनिवेश
६ केन्द्र-सन्निवेश—देवतायतन

७ द्वार-गोपुर-विनिवेश

८ प्राकार-परिखा-विनिवेश

९ विभिन्न देवों के देवतायतन-निवेश

१० विभिन्न-वर्णोचित-वसतिसन्निवेश

११ तडाग, पुष्कर, वृक्ष आदि का विन्यास

इस अतिविकसित-निवेश-परम्परा को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामों की यह निवेश-योजना शास्त्रीय विशेष है व्यावहारिक बहुत कम। यह तो एक समृद्ध नगर की निवेश-योजना प्रतीत होती है। इसका क्या रहस्य है? प्राचीन शिल्प-ग्रन्थ ग्रामों, नगरों एवं दुर्गों में वास्तुकला की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। अतएव ऐसा प्रतिपादन मिलता है। अन्यथा ऐतिहासिक अनुसन्धान में ग्राम-निवेश की यह रूप-रेखा शायद ही मिल सके। शास्त्रीय दृष्टि से इन विभिन्न-कोटिक-ग्रामों की विशेषताओं पर थोड़ी सी समीक्षा कर लेनी चाहिये।

दण्डक—ग्राम की आकृति दण्डाकार बतायी गयी है। इसमें मार्गों का सन्निवेश सीधा एक ओर से दूसरी ओर तक इसी प्रकार चारों ओर। इस विनिवेश ने केन्द्र में समकोण पर उनका एक दूसरे को काट तथा चतुष्पथ की रचना सहज समझ में आ सकती है। मार्ग-विनिवेश में मयमत तथा मानसार के अलग अलग नियम एवं मार्ग-संख्या द्रष्टव्य है। इसके पद-विन्यास के सम्बन्ध में स्थण्डिल-योजना विशेष उपादेय है। यह ग्राम ब्राह्मणों की बसती के लिये विशेष उपयुक्त है। विभिन्न ब्राह्मणाधिवासों एवं परिवारों की संख्यानुरूप इस ग्राम के विभिन्न भेद मानसार में बताये गये हैं—आश्रम, पुरम्, वास्तुक तथा मंगल।

सर्वतो भद्र तथा नन्द्यावर्त—के निवेश प्रायः समान ही हैं। नन्द्यावर्त के सम्बन्ध में केन्द्र-विन्यास चार प्रकार के होते हैं—ब्राह्मण, मानुष्य, दैविक तथा पैशाच। इसके पद-विन्यास की योजना चण्डित (६४) अथवा परमशायिक (८१) दोनों में की जा सकती है। नन्द्यावर्त की दूसरी विशेषता यह है कि इसके मार्गों में दो प्रकार के मार्ग-विभाजन हैं। बड़े तथा छोटे। बड़े मार्गों पर पब्लिक-प्लेसेज तथा छोटों पर आवास-भवन। नन्द्यावर्त की संज्ञार्थकतानुरूप (आनन्द-भवन) यह ग्राम बड़ा ही सुखावायक बताया गया है। यह भी ब्राह्मणों के लिये विशेष उपयुक्त है। हाँ मिश्र-वसति के लिये कोई आपत्ति नहीं। ब्राह्मणों की बसती की प्रधानता से इसको "मंगल", क्षत्रियों तथा वैश्यों की मिश्रित बसीती से "पुर" तथा यदि वैश्यों एवं शूद्रों की बसती प्रधान हो तो फिर "अग्रहार" की संज्ञा दी गयी है।

स्वस्तिक—स्वस्तिक ग्राम की विशेषता यह है कि इसके मार्गों का विन्यास स्वस्तिक की आकृति में होना चाहिये। यह ग्राम राजाओं के निवासोचित तथा उनके लिये अधिक उपादेय बताया गया है। राजभवनों के निवेश से सम्बन्धित ग्राम के अभ्यन्तर प्रदेश में विभिन्न स्थितियों (situations and sites) के अनुरूप इस ग्राम के चार प्रकार होते हैं—आगत, संग्रह, विजय तथा स्थानीय।

पद्मक

पद्मक—इस ग्राम की आकृति पद्माकार होनी चाहिये। यह तभी हो सकता है जब यह या तो चतुरश्रायताकार, षडश्रि, अथवा अष्टाश्रि हो। इसका भी पद-विन्यास स्थण्डिल अथवा चण्डित में होना चाहिये। मयमत के अनुसार इस ग्राम के मार्ग को विभिन्न प्रक्रियाओं एव मार्ग-संख्या के कारण इसके पाच प्रकार हैं।

प्रस्तर—जैसा नाम है (प्रस्तर-शय्या) वैसी ही इसकी विनियोजना होनी चाहिये। इस योजना के अनुसार इस ग्राम के लिये भविष्य मे विस्तार एवं प्रसार (extension तथा expansion) का काफी मौका रहता है। जिस प्रकार अर्वाचीन नगर-निवेश पद्धति मे आगामी विस्तार एवं प्रसार के लिये पूर्ण ध्यान रखने की व्यवस्था एवं तदनुरूप विन्यास योजना को प्रश्रय दिया जाता है वैसा ही इस ग्राम के विनिवेश में द्रष्टव्य है।

कार्मुक—इस ग्राम की आकृति यथानाम धनुषाकार होती है। अतः अर्ध-वृत्ताकार इसका विन्यास होता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह ग्राम विशेषकर सरिता-तटों पर अथवा सागर-वेला पर निविष्ट किया जाता है और ऐसी आकृति (धनुष) वाले ग्रामों के लिये ये स्थल-विशेष उपयुक्त भी होते हैं। इसी ग्राम की निवेश-प्रक्रिया 'पत्तन' 'खेट' अथवा "खर्वाट" नगर-प्रकारों की निवेश प्रक्रिया का आधार होती है। इसका महामार्ग एक ही होता है तथा रथ्यायें अधिक।

चतुर्मुख—यथानाम यह चतुरश्रायताकार विन्यस्त होता है। इसकी मार्ग-विनिवेश प्रक्रिया इस प्रकार सम्पादित होती है कि पूरा गॉव चार वर्गों मे (blocks) मे विभाजित हो जाता है। इस ग्राम की वसति में प्रधानता यदि व्यापारियों की है तो इसका नामकरण कोलकोष्टक किया जाता है।

प्रकीर्णक—प्रकीर्णक का अभिधेयार्थ चामर है। इसकी चामराकृति का क्या रहस्य है—इस सम्बन्ध मे इसका रहस्योद्घाटन ग्रंथों के परिशीलन से नहीं प्राप्त होता है। हॉ कामिकागम मे जो बहुमार्ग-विन्यास इस ग्राम के सम्बन्ध में निर्दिष्ट किया गया है सम्भवतः इसी हेतु इसकी चामराकृति सम्पन्न हो सकती है।

पराग—यह एक छोटा-सा ग्राम होता है। इसका विन्यास परागाकृति में (cob-webbed) होता है। मार्गों का प्राचुर्य विशेष रूप से इसमे देखा गया है। अतः यातायात तथा यान-सचार का सौकर्य सुन्दर होता है। सम्भवतः इससे बढ़कर किसी भी ग्रामनिवेश-प्रक्रिया मे यह सौविध्य नहीं प्राप्य है।

श्रीप्रतिष्ठित तथा **सम्पत्कार**—इन दोनों ग्रामों का विन्यास सर्वसाधारण है। हॉ प्रथम में श्री देवी की प्रतिष्ठा परमावश्यक है और दूसरा भी प्रथम के समान ही सम्पति-प्रदान करने वाला बताया गया है।

कुम्भक—इस ग्राम का यथानाम कुम्भाकार (Like pitcher) विनिवेश होता है। अत: यह या तो वर्तुलाकार अथवा बहुधायत (Polygo'nal) होता है इसकी मार्ग-व्यवस्था की विनियोजना यह है कि मार्ग-संख्या प्रचुर होती है तथा वे सब समानान्तर दौड़ते हैं।

श्रीवत्स एवं वैदिक—इन दोनों ग्रामों के विशेष विवरण नहीं हैं। ये सर्वसाधारण हैं। केवल वैदिक की विशेषता यह है कि इस ग्राम की महारथ्याओं के दोनों ओर भवन-विन्यास होना चाहिये तथा पूर्वोल्लिखित ग्रामों की योजना से विशिष्ट योजनानुरूप ये भवन द्विभौमिक हो सकते हैं।

इन ग्रामों के प्रत्येक की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा तथा सभी की सामान्य समीक्षा के उपरान्त भारतीय ग्राम-निवेश-पद्धति के आधार-भूत सिद्धान्तों की समीक्षा में एक दो तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अभिप्रेत है।

इन पन्द्रह प्रभेदों में अन्तिम सात प्रभेदों के जो विशेष विवरण मयमत एवं विशेषकर कामिकागम में मिलते हैं उनमें मार्गों की पृथुल संख्या का निर्देश है। अतः प्रथम विशेषता हुई बहुमार्ग-योजना दूसरी विशेषता यह है कि उत्तरी मार्गों की संख्या पूर्वी मार्गों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस उत्तरदिग्वर्तिनी बहुमार्ग-विन्यास-विनियोजना का कोई आधारभूत सिद्धान्त होना ही चाहिये। इसके सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि ग्राम पूर्व से पश्चिम की ओर विशेष प्रसारित (elongated) किये जाते हैं। अतः पूर्व-पश्चिम मार्ग विशेष लम्बे होने ही चाहिये। इस विनिवेश का वैज्ञानिक आधार यह है कि इस देश में जहाँ वायु विशेषकर दक्षिणोत्तर अथवा उत्तर-दक्षिण बहता है वह यहाँ के खुले मकानों के सम्मुख धूल न उडा सकें और बन्द करने की आवश्यकता भी न पड़े जिससे पवन संचार ही रुक जावे। आधुनिक-नगर निवेश के वैज्ञानिक दिग्साम्मुख्य (orientation) विनियोग में इस दृष्टिकोण ने विशेष अभिनिवेश प्रदान किया है। वह पुरातन समय में भी इस देश की ग्राम-विन्यास-प्रक्रिया की विशेषता थी—यह सुतरां प्रकट है। अतः भारतीय वास्तु-शास्त्र की मौलिकता कितनी गम्भीर है यह विद्वान् पाठक समझ सकते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वास्तु शास्त्री हैवेल महोदय के निम्न शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं:—

"The experience of many generations had proved that (their plans of villages) were the best for the purpose of defence, and gave the most healthy, pleasant and practical lay out for an Indian village and town. The easterly axis of the plan ensured that the principal streets were purified by the rays of the sun sweeping through them from morning till evening; while the intersection of main streets by shorter ones running north and south provided a perfect circulation of air and the utmost benefit of the cool breezes."

अर्थात् अनेकपीढ़ियों के पुञ्जीभूत अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय ग्रामों की ये विभिन्न निवेश-प्रक्रियायें रक्षा, स्वास्थ्य, सौंदर्य एवं सौकर्य और शान्ति के लिये अत्यन्त उपादेय हैं। ग्राम-योजना के पूर्वाभिमुख्य से यह नितरां निश्चित हो जाता

है कि उस ग्राम के मुख्य मार्ग प्रातः से लेकर सायं तक सूर्य की रश्मियों से पुनीत एवं प्रकाशित रहें अथच महामार्गों का ग्रामीय रथ्याओं (जो विशेषकर उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिणोत्तर दौड़ती हैं) के साथ पारस्परिक कटाव (intersection) से वायु-संचार का पूर्ण प्रसार तथा शीतल पवन का पूर्ण आनन्द सुगम हो जाता है।

अब अन्त में एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित कर इस स्तम्भ को यहीं छोड़ना है। वह यह कि इस अध्याय के उपोद्घात में ग्राम-विकास की स्वतःप्रवृत्त प्रवृत्ति पर संकेत किया गया है। अतः जैसा कि आधुनिक युग में जब वास्तु-कला के उदीयमान एवं अत्यन्त विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं और जिसमें उद्यान-नगर (garden cities) के आदर्श सर्वसाधारण रूप से पनपते हुए दृष्टिगत होते हैं तो फिर इन ग्राम-निवेश-प्रक्रियाओं को देखकर अर्वाचीन उद्यान-नगर-विनियोजना का जो आभास इनमें प्राप्त होता है उसका रहस्योद्घाटन कैसे किया जावे ? इस शंका और मर्म के समाधान में यह स्मरणीय है कि ग्रामों का विकास स्वत प्रवृत्त अर्थात् नैसर्गिक तो सर्वत्र सनातन से होता ही आया है, परन्तु मानव-सभ्यता के विकास में यत्र-तत्र; सर्वत्र, सभी देशों मे मानव ने अपनी सहज बुद्धि एवं विज्ञता से उस उदीयमान सभ्यता के प्रकर्ष में जो प्रयत्न किया है वही तो कला, विद्या एवं शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं। अरण्य और उद्यान में केवल अन्तर कला का ही है—योजना और विन्यास का ही तो है। स्वत.प्रवृत्त ग्रामों को कालातर में कलात्मक दृष्टि से निविष्ट किया जना ही तो शास्त्रों के नियमों का मर्म है। अतः इन ग्राम-निवेशों में जो अर्वाचीन उद्यान-नगर-निवेशों की प्रक्रिया की झलक दिखाई पड़ती है उसका यही मर्म है।

अथच भारतीयों का सनातन से प्रकृति-सानिध्य एव प्रकृति-साहचर्य प्रसिद्ध रहा है। जिस स्थान पर शुद्ध वायु, मनोहर पादप, सुरम्य कानन, सुन्दर लताओं, वीरुधों, अथच स्वच्छ जलाशयों—पुष्कर-पुष्करिणी-तडगों अथवा पुण्यसलिला सरिताओं का प्राकृतिक साम्राज्य नहीं छाया हो, क्या वह कभी भी भारतीयों के लिये आकर्षक हो सकता था ? प्राचीन भारत का तो प्रत्येक ग्राम और नगर—आधुनिक कृत्रिम उद्यान-नगरों (garden cities) का अकृत्रिम रूप था।

५

दुर्ग-प्रभेद तथा दुर्ग-निवेश

नगर-प्रभेद तथा ग्राम-प्रभेद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। अब क्रम-प्राप्त दुर्ग-प्रभेद पर कुछ प्रकाश पड़ना चाहिये। यों तो नगर-प्रभेद की पर्यालोचना के अवसर पर दुर्ग एवं दुर्ग-नगरों के विषय में संकेत किया जा चुका है, परन्तु दुर्ग-प्रभेद तथा दुर्ग-निवेश की कुछ अधिक सविस्तर समीक्षा आवश्यक है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भारतीय वास्तु-शास्त्रीय विवरणों में नगर, ग्राम एवं दुर्ग इन तीनों की निवेश-पद्धतियों में प्रकार-भेद नहीं है, एकमात्र आकार भेद है। मानसार आदि उच्च कोटि के शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों में इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है—यह हम देख ही चुके हैं।

अब प्रश्न यह है कि भारतीय प्राचीन नगरों का यह वैलक्षण्य अथवा उनकी यह विशेषता कि उनके चारों ओर परिखा, प्राकार आदि की निवेश-पद्धति, सर्व-साधारण रूप से आवश्यक ही नहीं अनिवार्य थी—इसका क्या रहस्य है? न केवल प्राचीन भारत में ही, वरन् ग्रीस, रोम आदि पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में ऐसी ही व्यवस्था थी। अतः असन्दिग्ध है कि प्राचीन पुरों एवं ग्रामों की इस सामान्य विशेषता (fortification—चतुर्दिक् प्राकर-योजना) के अन्तर्तम में तत्कालीन जीवन-दशा का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। ठीक भी था। प्राचीन युग में जब शासन-पद्धति तथा शासन-सुव्यवस्था के वे सुन्दर तथा सार्वभौमिक अथवा केन्द्रीय साधन उपलब्ध नहीं थे जिन से किसी विशाल भू-भाग पर शासन की सुव्यवस्था, शांति-रक्षा (उपद्रवों, अराजकता, तथा लूटमार का मूलोच्छेदन) का प्रबन्ध किया जा सके, विभिन्न बस्तियाँ चाहे वे ग्राम हों अथवा नगर, अपनी-अपनी रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ही समेटती थीं। अतएव बड़े-बड़े नगरों एवं राजधानियों की तो बात ही क्या, छोटे-छोटे ग्रामों एवं पुरों के लिये भी यह निवेश-पद्धति, सामान्य रूप से अनिवार्य थी। अतः यह कहना असंगत न होगा कि पूर्वीय तथा पाश्चात्य—दोनों ही ओर के देशों में आर्य-जीवन से समन्वित इस प्रकार की नगर-निवेश-पद्धति की एक सामान्य पुरातन व्यवस्था थी।

पुरातन साहित्य में प्रायः सर्वत्र प्राप्त नगर-वर्णनों में (यथा रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में) इस उपर्युक्त तथ्य के द्योतक नगर-निवेश के ज्वलन्त निदर्शन उपलब्ध होते हैं। अतः यह ठीक ही था कि पुर—नगर दुर्ग के रूप में और दुर्गनगर के रूप में सामान्य रूप से प्रचलित एवं सन्निविष्ट होते थे। वैदिक-वाङ्मय के परिशीलन से भी पता चलता है कि उस सुदूर अतीत में 'पुर' शब्द का अभिधेयार्थ दुर्ग-सदृश बस्ती था। शब्द-कल्पद्रुम में भी सम्भवतः इसी तथ्य के परिणाम-स्वरूप परिशिष्ट में लिखा है :—

'पुरं' दुर्गमधिष्ठानं कोट्टोऽस्त्री राजधान्यपि इति जटाधर।

अर्थात् पुर का अर्थ दुर्ग, अधिष्ठान, कोट्ट तथा राजधानी है। इन पयर्यायों की समीक्षा का आधार-भूत सिद्धात रक्षा की सुव्यवस्था है एवं तदनुरूप प्राकार-परिखादि-सन्निवेश-प्रक्रिया के कारण ही इनमें पारस्परिक पर्याय-साम्य प्रदर्शित किया गया है। नगर, ग्राम एवं दुर्ग की सुरक्षा सम्बन्धी यह सामान्य परम्परा इन्हीं तक सीमित नहीं रही। नगरों की तो बात ही क्या मन्दिरों के भी चारों ओर प्राकार आदि सन्निवेश (fortification) का अनुगमन बहुत समय तक इस देश में विशेष कर दक्षिण भारत के मन्दिरों में किया गया। मन्दिरो से तथा विद्यापीठों से नगरों के विकास पर (on the origin and development of temple cities and University towns) पूर्व-प्रकरणों में पूर्ण प्रकाश पड़ चुका है।

दुर्गाकृति-नगरों के निवेश अथवा नगराकार दुर्गों के विन्यास की परम्परा के अतिरिक्त कालान्तर में एक और पद्धति पनपी। वह है नगर के अभ्यन्तर-प्रदेश में अथवा किसी कोण विशेष पर, अथवा नगर से कुछ दूरी पर दुर्गों का सन्निवेश होने लगा। मध्यकालीन राजधानियों के जो निदर्शन आज भी अवशेष हैं, उनमें इस पद्धति के पूर्ण दर्शन होते हैं। जयपुर लीजिये। इस मध्यकालीन राजधानी के उत्तर-पश्चिम कोण पर दुर्ग का निवेश हुआ है। महाभारत तथा रामायण में इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, लङ्का, अयोध्या, द्वारका आदि के वर्णनों से भी प्रकट है कि ये नगर तथा नगरियाँ पहले दुर्ग पुनः कालान्तर में विस्तार एवं प्रसार (extension and expansion) की बहुमुखी आवश्यकताओं से महानगरियों एवं महानगरों के रूप में परिणत हो गयीं। राजस्थान के नगरों की भी यही कथा है। चित्तौर पहले एक किला था, कालान्तर में एक नगर हो गया। बात यह है कि दुर्गाकार नगरों की प्रथम विन्यास-योजना कालान्तर में बढ़ती हुई आबादी तथा अन्य विविध आवास-आवश्यकताओं के कारण असफल हो गयी। अतः किला भीतर रह गया और बस्तियाँ चारों ओर निर्मित होने लगीं। अत. निष्कर्षत. यह कहना ठीक ही होगा कि यद्यपि प्राचीन भारत मे प्रत्येक नगर सुरक्षित अथा दुर्गाकृति-नगर (fortified town) था परन्तु वह दुर्ग सर्वदा के लिये नगर का सम-विस्तृत (Co-extensive) तो नहीं हो सकता था। अतः समय पाकर वह नगर के अभ्यन्तर रह गया अथवा नगर के किसी कोणविशेष पर स्थित रह गया।

दुर्ग-निवेश की यह परम्परा अर्वाचीन नहीं कही जा सकती। महाभारत के शान्ति पर्व (८६ अ० देखिये) में लिखा है.—

"षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्" अतः यह परम्परा भी प्राचीन है—यह सिद्ध है।

अभी तक दुर्गाकृति-नगरो अथवा नगराकार दुर्गों अथवा नगराभ्यन्तर-दुर्गों के संबंध में जिस निवेश-पद्धति की मीमासा कर रहे थे उसका सम्बन्ध प्राकार-परिखादि-विनिवेश सम्बन्धी कृत्रिम-पद्धति से है। परन्तु वास्तव में दुर्गविनिवेश की दो पद्धतिया शास्त्रों में पायी जाती हैं—१ अकृत्रिम तथा २. कृत्रिम

अकृत्रिम-दुर्ग-प्रक्रिया का अर्थ यह है कि इस प्रकार के दुर्गों के विन्यास के लिये प्रकृति स्वयं उपादान उपस्थित करती है। अर्थात् प्राकार-विधान, परिखाखनन तथा वप्र-विन्यास आदि कृत्रिम सुरक्षा-साधनों के अतिरिक्त दैवकृत अथवा प्रकृति-प्रदत्त उपादानों से

भी दुर्गों की व्यवस्था होती थी। महनीय कीर्ति कौटिल्य के निम्न प्रवचन उल्लेख्य हैः—

"चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्। अन्तर्द्वीपं स्थलं वा, निम्नावरुद्धमौदकं प्रास्तरं गुहा वा पार्वतं निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं खंजनोदकं स्तम्ब-गहनं वा वनदुर्गम्। तेषा नदीपर्वतदुर्गमजनपदारक्षस्थानं धान्वनवनदुर्गमटवी स्थानम्" अर्थात् जनपद अर्थात् राज्य की चारों सीमाओं पर सुरक्षार्थ प्रकृति-प्रदत्त साधनों के द्वारा दुर्ग-व्यवस्था अनिवार्य रूप से करनी चाहिये। इस व्यवस्था के विभिन्न रूपों में कहीं जलदुर्ग—(सरिता के मध्य-प्रदेश पर स्थलभूमि पर—अन्तर्द्वीपीय स्थानपर) अथवा उस मैदान पर जिसके चारों ओर निम्न स्थल में अवरुद्ध जल भरा हो—का विन्यास करना चाहिये। कहीं पार्वतीय दुर्ग की व्यवस्था सम्पादित करनी चाहिये। यह भी दो रूपों में हो सकती है जिसके चारों ओर पर्वत हो अथवा पर्वतीय उपत्यका भूमि में जिसकी स्थिति हो, और वह चारों ओर से छोटी छोटी पहाड़ियों से घिरी हो। तीसरी व्यवस्था है मरुदुर्ग (धान्वन) की। यह या तो निरुदक वन्यप्रदेश के मध्य में स्थित हो अथवा उस भूमि पर स्थित हो जिसकी जमीन मरु क्षार से वन्ध्या बन गयी हो। चौथी व्यवस्था वन-दुर्ग की है। इस व्यवस्था में भी दो विकल्प हैं जिसके लिए कौटिल्य के शब्द साक्षी हैं— 'खञ्जनोदक' अथवा 'स्तम्बगहन'। प्रथम का अर्थ है—उस दलदली अरण्य-भूभाग से जो झाड़ियों तथा वन-वृक्षों से घिरा हो। दूसरे का अर्थ उस आरण्यक घेरे से है जिसमें बड़े-बड़े उत्तुंग वृक्ष तथा उनके नीचे झाड़ियाँ घेरा बनाये हों।

प्रायः प्राचीन शिल्प-शास्त्रों में अकृत्रिम दुर्ग-प्रक्रिया के ही प्रवचन मिलते हैं। मयमत तथा मानसार—इन दोनों ग्रन्थों में तो अकृत्रिम तथा कृत्रिम दुर्गों की मिश्रित व्यवस्था है। दुर्ग-नगरों अथवा नगराकार दुर्गों की जैसा कि ऊपर प्रतिपादित ही किया जा चुका है जो व्यवस्था थी वह तो प्राकार-परिखा-वप्रादि-विनिवेश-विन्यास विनियोजना से अलङ्कृत होकर कृत्रिम पद्धति के निदर्शन हैं।

परन्तु भोज महाराज को यह श्रेय है कि इन्होंने दुर्ग-निवेश की दोनों पद्धतियों—कृत्रिम तथा अकृत्रिम की विवेचना की है। भोज के 'युक्ति-कल्पतरु' के परिशीलन से यह पता चलता है। युक्ति कल्पतरु के अनुसार दुर्गों को हम पहले दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं—अकृत्रिम तथा कृत्रिम। अकृत्रिम अर्थात् प्राकृतिक दुर्गों से हम रा अभिप्राय उन दुर्गों से है जो प्रकृति-प्रदत्त उपादानों जैसे जल मरु, पर्वत, वन आदि से व्यवस्थित होते हैं। इसके विपरीत जहाँ पर प्रकृति-प्रदत्त साधन उपलब्ध नहीं होते हैं, और प्राकारों (इष्टिका, पाषाण आदि से निर्मित) के विन्यास से परिखा तथा वप्र आदि विनिवेश से सुरक्षा के साधन समुपस्थापित किये जाते हैं उन्हें हम कृत्रिम-दुर्ग कहते हैं।

मानसार की दुर्ग-निवेश पद्धति का सारांश यह है कि दुर्गों को हम प्रथम निम्न लिखित आठ वर्गों में बाँट सकते हैं.—

१.	शिबिर	५	सम्विदार्यक
२.	वाहिनीमुख	६.	कोलक
३.	स्थानीय	७.	निगम तथा
४.	द्रोणक	८	स्कन्धावार

फिर इन आठों प्रकारों का दुर्ग-वर्ग, अपनी स्थित्यनुरूप निम्न लिखित उपवर्गों में वर्गीकृत किया गया है—

१.	पार्वतीय दुर्ग—(गिरिदुर्ग)	२.	वनदुर्ग	३.	जलदुर्ग
४.	ऐरिणदुर्ग	५	देवदुर्ग	६	पंकदुर्ग
७.	मिश्रदुर्ग				

अथच गिरि-दुर्ग के पुनः तीन भेद प्रतिपादित किये गये हैं। स्थित्यनुरूप वह दुर्ग पर्वत-शिखर पर स्थित है अथवा उसकी स्थिति पर्वत की उपत्यकाओं में है अथवा वह पर्वत की समीपस्थ ढालू भूमि पर है। फलतः इनको पर्वतावृत, पर्वत-मध्य अथवा पर्वत-समीपक संज्ञा क्रम से दी जा सकती है।

अतः प्रकट है कि मानसार की इस दुर्ग-वर्गीकरण-प्रक्रिया में कृत्रिम दुर्गों एवं अकृत्रिम दुर्गों—दोनों का ही सम्मिश्रण है। परन्तु भोज-प्रदत्त द्रुर्ग-पद्धति (युक्ति-कल्पतरु) में कृत्रिमदुर्गों एवं अकृत्रिम दुर्गों के दो विभिन्न दुर्ग-वर्ग पृथक् पृथक् समुपस्थापित किये गये हैं—वह मानसार की परम्परा नही हैं। जो कृत्रिमदुर्ग हैं वे ही अपनी स्थिति के अनुरूप पुनः अकृत्रिमदुर्ग-षट्क मे परिवर्तित हो जाते है जहाँ प्रकृति-प्रदत्त उपादानों का बाहुल्य एव सौविध्य होता है।

अस्तु, दुर्ग-प्रभेद के इस ऐतिहासिक उपोद्घात का समराङ्गण में प्रदत्त दुर्ग-निवेश एवं दुर्ग-प्रभेद-विवरणों के संक्षिप्त परिचय से उपसंहार करना है। समराङ्गण तथा युक्ति-कल्पतरु इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक ही है। अतः महाराज भोज ने जहाँ युक्ति-कल्प-तरु में कृत्रिम एवं अकृत्रिम दो दुर्ग-वर्गों का उल्लेख किया है वहाँ समराङ्गण में ('अष्टाङ्ग लक्षण' नामक ४५वें अध्याय में, स्थापत्य के अष्टाग में) आठवें अङ्ग राजशिविर-निवेश एव दुर्ग-कर्म के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है—

"दुर्गों की संख्या ६ है—

जलदुर्ग, पङ्कदुर्ग, वनदुर्ग, ऐरिणदुर्ग पार्वतीय दुर्ग तथा गुहा-दुर्ग—जिनमें, पार्वतीय दुर्ग—सर्वश्रेष्ठ है।

अतः प्रकट है इस प्रवचन में प्राकृतिक-उपादानों से परिपुष्ट अकृत्रिम दुर्गों का ही वर्ग-षट्क दृष्टि-पथ में अवतरित होता है और उसी की ओर भोज ने पाठकों का ध्यान आकर्पित किया है। इसका क्या समाधान है? हमारी समझ में यहाँ भोज ने भले ही कृत्रिम अकृत्रिम विभेद से दुर्गों के प्रभेद पर प्रकाश न डाला हो परन्तु कृत्रिमदुर्ग, जो नगर-निवेश की सामान्य-पद्धति से निविष्ट होते थे उन पर 'पुरनिवेश' नामक १०वें अध्याय मे संकेत किया ही है जिसका उल्लेख अभी आगे किया जायगा। अथच भारतीय प्राचीन परम्परा मे जो दुर्ग, नगर तथा ग्राम का आकार-भेद ही विशेष रूप से माना गया है वह परम्परा भोज ने भी स्वीकार की है, क्योंकि नगरादि-संज्ञा नामक १८वें अध्याय मे नगर-पर्यायों में दुर्ग को दूसरा स्थान मिला है।

"नगरं मन्दिरं दुर्गं पुष्करं साम्परायिकम्

इत्यादि प्रथम श्लोक १८वां अ०

इसके अतिरिक्त समराङ्गण की दुर्ग-निवेश-पद्धति की समीक्षा के प्रथम इस सम्बन्ध में प्रथम हमे दो तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। एक तो जैसा ऊपर के प्रकरणों में लिखा है कि प्राचीन भारत मे दुर्ग-निवेश-पद्धति तथा ग्राम एवं नगर इन दोनों की निवेश-पद्धति में कोई विशेष विभेद नहीं था—यह परम्परा समराङ्गण भी स्वीकार करता है। अथच वैसा ही आदेश देता है।

"नगरेषु समग्रेषु ग्रामेषु निखिलेष्वपि।
खेटकेषु च सर्वेषु सामान्योऽयं विधि. स्मृतः॥

१० १४७

तथा "यथा पुरे पुरा प्रोक्तं स्थानं दुर्गेऽपि तत्त तथा॥

४५ ४५

अर्थात् "नगर के अखिल प्रभेदों में (दुर्ग भी सम्मिलित) तथा सभी प्रकार के ग्रामों में अथच सर्वविध खेटकों मे पुर-निवेश की यह सामान्य विधि वर्तनी चाहिये।"

अर्थात् "जैसा पहले हमने पुर में (देखिये १०वा अ०) स्थानादि-विनिवेशन-विनियोग बताया है वैसा ही दुर्ग में भी है"।

दूसरे तथ्य जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना है वह यह कि समराङ्गण शिविर एवं दुर्ग—इन दोनों को बिलकुल अलग दो चीजें मानता है। स्थापत्य के अष्टाग मे दवा अंग शिविर-निवेश तथा दुर्ग-कर्म वास्तु-कर्म की ये दो अलग अलग चीजें हैं और ऐसी ही परिगणना महाराज भोज ने की है (देखिये ४५ वा अ०) अतः कौटलीय परम्परा मे में जो दुर्ग एवं शिविर एक ही चीज प्रायः माने गये हैं तथा मयमत एवं मानसार की परम्परा में शिविर को नगर-विभेद बताया गया है वह समराङ्गण को स्वीकार नहीं। शिविर तो एक प्रकार का क्षणिक-निवेश (temporary arrangement) है जो कि युद्धावसर यात्रा आदि मे सन्निवेश्य समझा जाता था। हाँ, कालान्तर में ये क्षणिक स्थान (temporary station) आधुनिक छावनियों (Cantonements) में परिणत हो गये हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि इनके निवेश मे स्थायित्व-प्रयोजन का अभाव था। इसके विपरीत दुर्ग-निवेश क्षणिक न होकर एक स्थायी चीज थी तथा अत्यन्त स्थायी प्राकृतिक उपकरणों से (वन, पर्वत, नदी, मरु, पंक आदि प्रकृति-प्रदत्त उपादान) उसकी रचना होती थी।

अब दुर्ग-निवेश एवं शिविरनिवेश की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे समराङ्गण की दिशा से समीक्षा के प्रथम इन दुर्ग प्रभेदों के एक एक के सम्बन्ध मे कुछ थोड़ी सी समीक्षा आवश्यक है, अन्यथा दुर्ग-प्रभेदों का यह प्रकरण अपूर्ण ही रह जाता है।

दुर्ग प्रभेदों के विभिन्न वर्गों की विवेचना मे हम इस तथ्य पर पहुँच चुके हैं कि भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार दुर्ग के निम्न प्रभेद हैं, जिनको हम इनिम

दुर्गों (अर्थात् दुर्ग-नगरों fort cities) तथा अकृत्रिम दुर्गों (सैन्य प्रयोजन-रक्षार्थ-निविष्ट) इन दो महाभेदों से निम्नरूप में विभाजित कर सकते हैं:—

अ कृत्रिमदुर्ग —दुर्ग-नगर

१	शिविर	२.	वाहिनीमुख अथवा सेनामुख
३	स्थानीय	४.	द्रोणक
५	सम्विद्धक	६	कोलक
७	निगम	८	स्कन्धावार

ब अकृत्रिम दुर्ग —(प्रकृति-प्रदत्त उपादानों से)

१.	पार्वतीयदुर्ग—नगरदुर्ग	(I) प्रान्तर	(II) गिरिसमीपक तथा	(III, गुहा दुर्ग
२.	जल-दुर्ग	(I) अन्तर्द्वीपीय	(II) स्थल-दुर्ग	
३	धान्वन-दुर्ग	(I) निरुदक	(II) ऐरण	
४.	वनदुर्ग	(I) खाञ्जन	(II) स्तम्भ-गहन	
५	महीदुर्ग	(I) पारिघ	(II) पंक तथा	(III) मृद्दुर्ग
६	नृदुर्ग	(I) सैन्य दुर्ग	(II) सहायदुर्ग	
७	मिश्रदुर्ग—(पार्वत-वन्य)			
८	दैवदुर्ग			

जहातक दुर्ग-नगराष्टक का सम्बन्ध है वह तो नगर-प्रभेद के प्रकरण में पूर्ण रूप से प्रतिपादित किया जा चुका ही है। अब यहाँ पर अकृत्रिम-दुर्गाष्टक अपने अवान्तर भेदों सहित विवेचनीय है।

१. पार्वतदुर्ग

पार्वतदुर्ग—जैसाकि इसके नाम से प्रतीत है कि यह दुर्ग पर्वत के ऊपर (शिखर-भाग) अथवा समीपस्थ ढालू भूमि पर अथवा पर्वत-समीपस्थ उपत्यका-भूमि पर स्थित होता है। अतएव इसके तीन भेद होते हैं:—

(I) प्रान्तर—यह पर्वत के शिखर-प्रदेश पर स्थित होता है जो बराबर करके प्रवेश-मार्गों की विरचना गुप्तमार्गों से [जो अन्तर्मार्गाकार (subterranean tunnels) होते हैं] सम्पन्न की जाती है। देवीपुराण (देखिये ७२ १५—१६) के अनुसार यह बड़ा ही मागलिक एवं प्रशस्त दुर्ग बताया गया है। दत्त महाशय के अनुसार देखिये। (T. Planning in Ancient India page 76) चित्तौरगढ तथा लंका इस दुर्ग के निदर्शन हैं।

(II) गिरिपार्श्वक—यह पार्वतदुर्ग है जो पर्वत के समीपस्थ ढालू-भूमि पर स्थित होता है। दत्त के अनुसार बून्दी का किला इसका निदर्शन है।

(III) गुहा—नामक वह पार्वत-दुर्ग है जो पर्वत की उपत्यका भूमि पर स्थित होता है तथा जिसके चारो ओर पर्वत-श्रेणियाँ होती हैं। जयपुर तथा उदयपुर इसके निदर्शन हो सकते हैं।

२. जलदुर्ग—जहाँ पर चतुर्दिग् प्रवाहमय जल से सुरक्षित स्थान-विशेष दुर्ग का काम देता है। इसके भी दो भेद हैं:—

(।) अन्तर्द्वीप—जिसके दोनों ओर नदी बहती हो अथवा वह सागर के मध्य मे हो (Island), इसी को शुक्राचार्य ने नदी-दुर्ग के नाम से पुकारा है (देखिये ४ अ०) यह एक प्रकार का आन्तर्द्वीपीय नगर है (insular town) जिसके सुन्दर निदर्शन आधुनिक बम्बई, प्राचीन लंका, श्रीरंगम, कावेरीपुंपत्तनम् हैं।

(॥) स्थलदुर्ग—इस दुर्ग की स्थिति उस प्रदेश पर वाञ्छित है जो उच्च स्थल हो तथा जिसके चारों ओर अप्रवहमाण (Stagnant) गम्भीर जलराशि हो। यही जलराशि यहाँ इसकी रक्षा का प्राकृतिक साधन हो। तभी तो यह जल-दुर्ग का अवान्तर भेद है।

३. मरुदुर्ग—(धान्वन) यह दुर्ग रेगिस्तान के मध्य मे होता है और इसके चारों ओर पाच योजन तक जलाभाव रहता है। इस दुर्ग के भी दो भेद हैं:—

(।) निरुदक तथा (॥) ऐरिण—

प्रथम—निरुदक मरुदुर्ग उस दुर्ग को कहेंगे जो मरुभूमि से आच्छादित हो और जहा पर जल, वृक्ष तथा शस्य का पूर्णाभाव हो।

द्वितीय—ऐरिण—मरुदुर्ग उस भूमि-विशेष के मध्य में स्थित होता है जो समन्तात् क्षारजल से वन्ध्य बन गयी हो। इन दोनों भेदों का मर्म यह है कि प्रथम कोटिक दुर्ग की भूमि बालुका अथवा ककड़ों के कारण वन्ध्य है तथा दूसरे मे क्षारीय जल हेतु है। जहा प्रथम मे किसी भी प्रकार के पौधों की स्थिति अनुमेय नहीं वहा दूसरे में ऐसी भूमि के अनुकूल पौधे, झाड़ियों तथा शिलाओं की स्थिति आवश्यक है। राजस्थान की बहुत सी राजधानियों के दुर्ग इन्हीं दोनों कोटियो में आपतित होते हैं।

४. वनदुर्ग—वह दुर्ग जिसके चारों ओर लगभग एक योजन तक घने जंगल हों। इसके दो भेद हैं:—(।) खंजन तथा
(॥) स्तम्ब-गहन

प्रथम कोटिक-दुर्ग के चारों ओर उन वृक्षों के जंगल होने चाहिये जो लघु तथा कटीले हों। वहाँ पर झाड़ियाँ हों, गुल्म हों तथा जलाभाव न हो। भूमि दलदली हो, दूसरे में समन्तात् उत्तुङ्ग शाल सदृश ऊचे वृक्षों की गहनता हो तथा वहा पर जलाभाव भी हो। मत्स्यपुराण तथा मनु के अनुसार इनको वार्क्ष कहते हैं।

५. महीदुर्ग—इस दुर्ग की तीन कोटियाँ हैं—

(।) पारिघ—परिघ की प्राकारों तथा वप्रों Ramparts तथा Parapets की रचना मृत्तिका, शिलाओं अथवा इष्टिकाओं से की जाती है। इसकी भित्तियों की ऊँचाई उन की चौड़ाई से दुगुनी होती है तथा भित्तियाँ स्वभावतः बहुत चौड़ी जिससे सैनिक लोग उन पर निगरानी के लिये टहल भी सकें।

(॥) पङ्क—यथानाम ऐसे-भूमि प्रदेश से सुरक्षित हो जो पंकिल, क्षारीय अथवा सैकत मृत्तिका से भरा हो।

(॥।) मृद्दुर्ग—वैसे तो इसका विन्यास सामान्यरूप से किया जाता है। विशेषता जैसा इसके नाम से ही संकेत है, यह है कि इसकी दीवालें मिट्टी की बनी होती हैं। आधुनिक भरतपुर निदर्शन है।

६. नृदुर्ग—इसके दो भेद हैं:—

(।) सैन्यदुर्ग (॥) सहायदुर्ग।

सैन्यदुर्ग—में बहुमुखी सेना के द्वारा रक्षाविधान दुर्गाभ्यन्तर एवं उसके वाह्यप्रदेश-दोनों जगह सदैव कतारें बाँधकर करने का आदेश है।

सहायदुर्ग—अथवा मित्रदुर्ग से अभिप्राय मित्र-राजाओं से जो संक्रान्ति-काल में सहायता देकर रक्षा का कार्य करते हैं।

७. मिश्रदुर्ग—इसकी सुरक्षा-व्यवस्था नगरदुर्ग तथा वनदुर्ग—दोनों की मिश्रित परिपाटी है।

८. दैवदुर्घ—इस दिव्य एवं अलौकिल दुर्ग के सम्बन्ध में दत्त महाशय ने अपने ग्रन्थ में (पृ० ८१) में एक अवतरण दिया है जो निम्न है:—

महाराक्षसवेताल-भूत-प्रेत-गुहैरपि
शिलावर्षप्रवृष्टिभिरालोक्यावेशनिर्गमे।
मंत्रतन्त्रादिसायकैरुक्तद् देवदुर्गक्रम्

अतः इस अवतरण के अनुसार देवदुर्ग उसे कहेंगे जिसके प्रवेश-द्वारों की रक्षा देवों, दानवों, वेतालों, भूत-प्रेतों के द्वारा तो सदैव होती है ही, साथ ही साथ इनके द्वारा अवसर आने पर शिलासंघात घनघोर-वृष्टि तथा महा आँधी तूफान आदि की अवतारणा से भी यह दुर्ग शत्रुओं के लिये अगम्य हो जाता है।

शिल्परत्न के अनुसार उस दुर्ग को दिव्यदुर्ग कहेंगे जिसकी भित्तियों पर इन्द्र, वासुदेव, गुह, जयन्त, वैश्रवण अश्विनौ, श्रीमन्दिर, शिव, दुर्गा, सरस्वती की स्थापना हो।

भगवान् मनु के अनुसार (अ० ७ श्लोक ७२) यह देवदुर्ग एक प्रकार का पार्वतदुर्ग ही है जिसकी रक्षा देवगण करते हैं। कैलाश पर्वत इसका निदर्शन हो सकता है। समराङ्गण के अनुसार इन सभी दुर्गों में "पार्वतीय" दुर्ग सर्वश्रेष्ठ एवं प्रशस्त है:—

"सर्वेषामेव दुर्गा । पार्वतीयं प्रशस्यते" (४५, ४० अ०)

इस प्रकार दुर्ग-प्रभेद के उपरान्त अब क्रमप्राप्त दुर्ग-निवेश पर समराङ्गण के प्रवचनों (देखिये परि० अ०) के अनुसार उसकी समीक्षा करनी है.—

अर्थात् दुर्ग-निवेश की संक्षिप्त प्रक्रिया यह है कि जहा तक इसके पदविन्यास (site plannning) का प्रश्न है वह षोडशपद-वास्तु में बनाना चाहिये। मध्य में ब्रह्मा के स्थान का विन्यास करना चाहिये। पुनः ब्रह्मा के स्थान से राजहर्म्य का विधान पाच हस्त

प्रमाण से होना चाहिये। ब्रह्मा के मन्दिर तथा राजा के राज-प्रासाद के निवेश के बाद मार्ग-विनियोग के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि दुर्ग-मार्ग चारों ओर निर्मित किये जायें तथा दुर्ग के अभ्यन्तर भिन्न-भिन्न रथ्याओं एवं उपरथ्याओं की परिकल्पना करना चाहिये जिनके प्रमाण हैं—उपरथ्या तीन हाथ, शेष रथ्याय दो हाथ। दुर्ग-द्वार का विन्यास दुर्ग रथ्यानुरूप हो। वह अत्यन्त ऊँचा न हो और न शत्रु की सेना के द्वारा वह प्रवेश्य ही हो अतः उसे सदैव सुरक्षित होना चाहिये। इस प्रकार पद-विन्यास, राज-मन्दिर-सन्निवेश, मार्ग-विनिवेश एवं द्वार-विनियोग के उपरान्त प्रश्न आता है दुर्ग के मालिक का। (बड़ा अफसर) स्थान कहाँ हो। वह ब्रह्मस्थान के चारों ओर हो। उसके संबंध मे विकल्प यह है कि दुर्गेश्वर का स्थान वैवस्वत, अर्यमा, मैत्र अथवा पृथ्वीधर इन देवों में से किसी भी एक्के अधिष्ठित पद पर उसका विन्यास वाछित है। इसके अतिरिक्त दुर्ग के आभ्यन्तरिक विभागों का सन्निवेश पुर-सन्निवेश के सदृश ही होता है। विभिन्न वसतिया जनावास, देवावास आदि सब पुर के सदृश ही व्यवस्थित हों। विशेषता यह है कि दुर्ग मे निर्दोष, शुभ, राजभक्त, धनुर्वद के विशेषज्ञ, अस्त्र-शस्त्र-कुशल तथा शास्त्रों के प्रवीण योद्धाओं को अवश्य रखना चाहिये। साथ ही साथ सुन्दर स्त्रियों को भी वहाँ अनिवार्य रूप से रखना चाहिये। दुर्ग में रनिवास और खजाना होना ही चाहिये। विशेषकर राजकुमारों को वहा प्रतिष्ठित करना चाहिये।

'दुर्ग-नगर' पर मय मुनि का निम्न प्रवचन (म. म. ६ अ०) अवलोकनीय है। इतनी व्यापक, ओजस्वी एवं समृद्ध दुर्ग-नगर-परिभाषा अन्यत्र दुर्लभ है:—

"जहाँ पर जल, अन्न तथा अस्त्र-शस्त्र की अक्षय निधि हो, जिसके चारों ओर बडे-बड़े उत्तुंग साल वृक्षों की भरमार हो। सम्पूर्ण दुर्ग के चारो ओर प्राकार एवं परिखायें हों तथा रक्षार्थ अनेक द्वार निविष्ट हों। जिनकी उत्तुंग भित्तियाँ कम से कम १२ क्यूबिट ऊँची हो और जिनपर वाचटावर्स अवलोकनक तथा सैन्य-टोलियों से सुशोभित हो। दुर्ग के बाह्य प्रदेश मे भी जल की कमी न हो, मार्ग दुष्प्रवेश्य एव एकात निर्जन वन के छन्न पथों के समान छन्न-पथ तथा छाया-पथ हों। द्वारों पर गोपुर भी हों, मण्डप भी हों। चढ़ने के लिये यत्र तत्र गुप्त सोपान श्रेणियाँ विरचित हों। दुर्ग के सभी द्वारों के दोनों कपाटों में चार चार लौह अथवा काष्ठ अँगलायें हों जिनके कोणकील भी हस्तप्रमाण से कम न हों। द्वार-प्रमाण दुर्ग-नगरानुरूप हो। इस दुर्ग-नगर मे विभिन्न जातियों के लोगों की भरमार पायी जाती है। चतुर्दिक शिविर सन्निविष्ट रहते हैं। राजवेश्म तथा सैन्यशालायें दुर्गाभ्यन्तर-प्रदेश मे सन्निविष्ट की जाती हैं। दुर्ग-नगर के लिये यह अनिवार्य है कि धान्य, चावल, तैल, लवण, औषधि, लौह और इन्धन आदि के भंडार बहुपरिमाण मे एकत्रित किये जावें, जो समय पर काम आ सकें। इस प्रकार दुर्ग दुर्गम, दुर्लंघ्य तथा दुरवगाह्य होना चाहिये (म. म. ६)

शिबिर

शिविर को हमने अजिक-दुर्ग माना है। समराङ्गण के अनुसार जैसा प्रथम ही संकेत हो चुका है शिविर-निवेश स्थापत्य के अष्टाग मे आठवाँ अंग है:—

" निवेशं शिबिरस्याथ कथयामोऽष्टमाङ्गकम् "

अतः शिविर-निवेश भी वास्तु-शास्त्र एवं वास्तुकला का एक महत्व-पूर्ण अंग है—यह निर्विचिकित्स है।

समराङ्गण में शिविर-निवेश के सम्बन्ध में निम्न प्रवचन उल्लेख्य है:—

"अर्थात् जब कभी (युद्धार्थ अथवा अन्य किसी प्रयोजनार्थ—देश भ्रमण(touring of the country) राजा अपने स्थान से—अपने राजपीठ से यात्रा के लिये प्रस्तुत हो तो शिविर सन्निवेश केतत्वज्ञ के द्वारा शिविर के निवेश योग्य स्थान की परीक्षा करवानी चाहिये।

यह स्थानादि परीक्षण-कार्य या तो अर्थशास्त्रज्ञ (राजनीतिज्ञ) किसी मंत्री आदि के द्वारा हो अथवा सर्वशास्त्र-विशारद स्थपति के द्वारा हो। इस प्रकार शिविर-सन्निवेश्य भूमि की परीक्षा के उपरान्त शिविर के आकार के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का आदेश है—वह किसी भी आकार का हो सकता है—चतुरश्र, वृत्त, वृत्तायत, चतुरश्रायत अथवा फिर किसी स्थान पर यह शिविर विषम भी हो सकता है। आकार के बाद मार्ग-विकल्पन के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है। मार्गों का निवेश यथास्थान (अर्थात् जितना स्थान-निवेश के योग्य मिल सकता हो उसके अनुसार) शिविर के दोनों ओर बडे-बडे दो मार्गों की रचना करनी चाहिये। मार्ग के निवेश के बाद द्वारों का प्रश्न आता है। द्वार तो चार ही होने चाहिये। सेना-रथ्या की विरचना पुररथ्या के प्रमाण से आधी हो। राजा के स्थान की रचना मित्र, पृथ्वीधर, अर्यमा अथवा वैवस्वत—इन देवों में से किसी एक से प्रतिष्ठित पद पर करनी चाहिये। (शिविर का सन्निवेश भी प्रचलित विभिन्न पदवास्तुओं में से ६४ पद-वास्तुक विभेद का आदेश है—देखिये अन्तिम पंक्ति)। राज-स्थान के पश्चिम में मन्त्री का, उत्तर मे पुरोहित का, पूर्व में सेनापति का, दक्षिण में रनिवास का तथा भण्डार का सन्निवेश करना चाहिये।

अब आया चतुरङ्गिणी सेना के निवेश का विषय। उस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जब राजा अपने स्थान में प्रवेश करे तो उसके दक्षिण की ओर घोडे तथा बायें ओर हाथी हों। राजवेश्म के बाहर की ओर परिखा भी बनानी चाहिये जिसका प्रमाण है ३, या ४ हाथ।

इस प्रकार इस अवतरण से सुस्पष्ट प्रकट है कि इस शिविर में न तो नगरों की तरह विभिन्न बस्तियों के निवेश पर प्रवचन है न विभिन्न देवालयों, प्राकारों, वप्रों, गोपुरों का ही उल्लेख है, अतः लेखक की यह धारणा कि समराङ्गण की परम्परा में शिविर से हमारा अभिप्राय एक क्षणिक पड़ाव से ही है न कि चिरस्थायी दुर्ग अथवा दुर्ग-नगर अथवा नगर-प्रभेद से, ठीक जँचता है।

शिविर शब्द से साधारणतया तो एक छावनी सेना-स्थान (कैम्प) का बोध होता है, परन्तु वास्तुशास्त्र की परिभाषा में शिविर का प्रयोग न केवल कैम्प वरन्, राजा के निवास स्थान तथा सुरक्षित नगर के लिये होता है। डा० आचार्य ने अपनी इन्साइक्लोपीडिया मे इन दोनो अर्थों का उल्लेख किया है। कामिकागम की भी यही मानसारीय परम्परा है। (देखिये २० वाँ पटल)

साधारण पाठकों की समझ मे सम्भवत. यह नहीं आता होगा कि शिविर का अर्थ

नगर कैसे हुआ ? पूर्व-प्रकरण के परिशीलन से यह प्रकट ही है कि भारतीय नगर-विकास में जहाँ ग्राम-समूह हट्टप्रदेश, सरिताकूलस्थित कुल-गृह, मन्दिर आदि के सहारे बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ वहाँ भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न कालों में राजनीतिक स्थिति ने भी नगर-निर्माण में योग दिया। इस तथ्य का विकास आर्यों के सैनिक-जीवन के रहन-सहन में हुआ है। राजपीठों (Royal seats) के चारों ओर ही तो भारत के महत्त्वपूर्ण नगरों का विकास हुआ और ये राजपीठ भारत की तत्कालीन राजनैतिक संक्रमण काल की परिस्थितियों में एक प्रकार के जंगम स्थान ही थे—आज यहाँ कल वहाँ। युद्धकालीन परिस्थितियों-वश साम्राज्य एवं राज्य के ह्रास अथवा उदय से राजपीठों में परिवर्तन होता रहता था।

सम्भवतः इसी तथ्य को लेकर शब्द-कल्पद्रुम नामक संस्कृत के पुरातन एवं प्रसिद्ध कोष में शिविर के जो विभिन्न अर्थ दिये हैं वे प्रायः सभी इन्हीं उपर्युक्त रहस्य के द्योतक हैं। हाँ, शब्द-कल्पद्रुम के निम्न अर्थ देखिये —

अ. निवेश Settlement or encampment

ब. आगन्तुक सैन्यावास

स. कटक अर्थात् राजधानी नगर, दुर्ग, सैन्य, श्रेणी

द. नृपस्य मूलस्थानम्—राजा का प्रधान वासस्थान। (श. क. ५ वीं पुस्तक पृ० १०६) यही कारण है जैसा कि पूर्व प्रकरण में संकेत किया जा चुका है, कि कुछ प्राचीन नगरों के नामों के आगे 'कटक' आदि शब्द जुड़े हैं जिनसे उनके मूल-विकास के रहस्य का आभास प्राप्त होता है।

इस सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्त-पुराण—में प्रतिपादित शिविर-विशेषताओं का समुल्लेख शिविर-प्रवचन पर सुन्दर प्रकाश डालेगा (देखिये अ० १०३ श्रीकृष्ण जन्म खण्ड)

शिविरं परिखायुक्तं सुचैःप्राकारवेष्टितम्।
युक्तद्वादशद्वारश्च सिंहद्वारपुरस्कृतम्॥
युक्तं चित्रविचित्रैश्च कृत्रिमैश्च कपाटकैः।
निषिद्धपुरुषरहितं प्रसिद्धैश्च पुरस्कृतम्॥

उत्तर - पीठिका

१

विषय-प्रवेश

पुरनिवेश की पूव पीठिका में हम पुरों अर्थात् नगरों के विषय में विविध ज्ञातव्य वस्तुओं का निरूपण एवं वर्णन करते रहे हैं। नगर, नागरिक एवं नागरिकता के आधारभूत सिद्धातों के आधार पर नगरों की प्राचीनता, नगरों का विकास, नगरों के प्रभेद, नगरों के लघु कलेवर—ग्राम, उनके विभिन्न प्रभेद,नगराकार दुर्गों अथवा दुर्गाकृति नगरों, इत्यादि की समीक्षा से केवल ज्ञानार्जन ही नहीं हुआ, साथ ही साथ मनोरञ्जन भी होता रहा है। उत्तर-पीठिका में क्रम-प्राप्त सर्वप्रथम नगर-निवेश के सास्कृतिक प्रयोजन की मीमासा और नगर-निवेश के क्षेत्र पर किंचित् विचार कर लेना अत्यावश्क प्रतीत हो रहा है। आगे के वर्ण्यविषय का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नगरों के विकास के कारणों की पूर्व-पीठिका में पर्याप्त समीक्षा हो चुकी है। वहाँ पर हमने उन कारणों का सम्बन्ध भौगोलिक, आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक एवं शिक्षार्थ आदि घटकों से घटित किया है। नागर-शैली के विवेचन में चारुता की महत्ता और उसकी देन के विषय में हम प्रासाद-पटल में विशेष विवेचन करेंगे। यहाँ पर इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि बडे-बडे सुन्दर भवनों, प्रासादों-मण्डपों तथा सभाओं का निर्माण, एक नगर की सौंदर्य-वृद्धि के लिए साधारण स्थानों में निर्मित उन भवनों की अपेक्षा विशिष्ट रूप से सम्पन्न करना चाहिये। स सू का नागर-प्रसादों के सम्बन्ध में यह प्रवचन है—"नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पयत्"। अत. 'चारुता' की यह विशेषता नगरों तक ही सीमित नहीं है, वात्स्यायन के अनुसार नागरिकों के लिये भी परमोपजीव्य है। भारत की प्राचीन ६४ कलाओं में बहुत सी ऐसी कलायें हैं, जिनका सेवन, केवल एक समृद्ध-नगर में ऐश्वर्यसम्पन्न नागरिक ही कर सकते हैं। चौंसठ कलाओं की निम्न लिखित सूची से पाठक-गण इस तथ्य का स्वयं भी मूल्याकन कर सकते हैं:—

१. गीत—चतुर्विध—स्वरग, पदग, लयग तथा अवधानग।
२. वाद्य— ,, घन, वितत, तत तथा सुषिर।
३. नृत्य—बहुविध।
४. नाट्य—(दे० भरत-नाट्य-शास्त्र)।
५. आलेख्य—(दे० 'चित्रकला' सातवा पटल)।
६. विशेपकच्छेद्य—(विलासिनियों का मुख-लेप्य-विशेष)।
७. तण्डुल-कुसुम-बलि-विकार—भोजन-कला सम्बन्धी।

८ पुष्पास्तरण—मालाओं का ग्रन्थन, पुष्प-वीथियों की बनावट।

९. दशन-वसन-अंगराग—दाँत की रंगाई, कपड़ों की रंगाई और शरीर-प्रसाधन (अंगरागों से)।

१०. मणि-भूमिका-कर्म—मणियों से फर्श बनाना (यह स्थापत्य है)।

११. शयन-रचना—शय्या-निर्माण (यह भी स्थापत्य है) दे० म. सू. २६ वाँ अ०।

१२. उदक-वाद्य—जल-तरंग आदि जल-वाद्यों का बजाना।

१३. उदक-घात—जल-स्तम्भ-विद्या-जलक्रीड़ा।

१४. चित्र-योग—वैचित्र्य-प्रदर्शन।

१५. माल्यग्रथन-विकल्प—मालाओं की विविध रचनायें।

१६. शेखरपीठ-योजन—पुष्पों के शिरोभूषण।

१७. नेपथ्य-प्रयोग—वस्त्र-परिधान-चातुर्य अथवा रंगमंचीय पर्दों की बनावट।

१८. कर्ण-पत्र-भंग—कपोलों पर राग-रचना-विन्यास।

१९ गन्धयुक्ति—गन्धों (इत्र आदि) का निर्माण-कौशल।

२०. भूषण-योजना—विविध अंगों पर विविध-भूषण-धारण-चातुर्य अथवा नर्तक-भूषण।

२१. ऐन्द्र-जाल—ऐन्द्रजालिक (जादूगर के तमाशे।

२२ कौचुमार-योग—कुचों की पत्रक-रचना-चातुर्य।

२३. हस्तलाघव—हस्त-सम्बन्धी जादूगरी।

२४. विचित्रशाक-यूष-भक्ष्य-विकार-क्रिया—दशविध शाक (मूल, पत्र, फल, डाल, पुष्प, कण्टक आदि) यूष-पूड़ी, पुवा एवं अन्य नानाविध भोज्य पदार्थों (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य एवं पेय) का क्रिया-कौशल।

२५. पानक-रस-रागासव-योजना—दुग्ध, रस, आसव तथा राग-चटनी आदि बनाने की कला।

२६. सूचीवाय-कर्म—सीवन (दर्जीगीरी) ऊतन (रंगरेजगीरी) विरचन (जुलाहेगीरी)।

२७. सूत्र-क्रीड़ा—रस्सों पर नाच तथा कपड़ों की जादूगरी।

२८. वीणा-डमरुकवाद्य—(देखिये कला नं० २)।

२९ प्रहेलिका—पहेलियाँ।

३०. प्रतिमाला—प्रतिमा-निर्माण अथवा तुकान्त-कविता।

३१. दुर्वाचक-योग—पशुओं और पक्षियों की बोली बोलना।

३२. पुस्तक-वाचन—इसमें वक्तृत्व कला भी सम्मिलित है।

३३. नाटकाख्यायिका-दर्शन—यह रंगमंचीय नाटक नहीं, यह एक प्रकार चित्र-प्रदर्शन है जिसे अँगरेजी में टेबलो कहते हैं।

३४. काव्य-समस्या-पूर्ति—समस्या-पूर्तियाँ (कविता-चातुर्य)।

३५. पट्टिका-वेत्र-वान-विकल्प—बेंत की कुर्सियाँ, बेंत-शय्या आदि की रचना।

३६. तक्षकर्म—खुदाई।

३७. तक्षण—बढ़ईगीरी—

३८. वास्तु-विद्या—(दे० प्रथम प. ५वाँ अ०)।

३९. रूप्य-रत्न-परीक्षा—स्पष्ट है।

४० धातु-वाद—मृत्तिका, प्रस्तर (पाषाण) रत्न आदि धातुओं का पातन, शोधन, मेलन आदि। (metalurgy)

४१ मणि रागज्ञान—मणियों की रंगाई।

४२. आकर ज्ञान – खानों का ज्ञान (mining)।

४३ वृक्षायुर्वेद-योग—गृहोद्यानों के वृक्षों का रोपण, पुष्टि, चिकित्सा तथा विन्यास-चातुर्य।

४४. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि—सर्कस (सजीवद्यूत-विधान) के तमाशे—मेष-युद्ध, कुक्कुट-युद्ध आदि।

४५. शुक-सारिका-प्रलापन—शुक सारिकाओं को बोलना, सन्देश लेजाना, आदि सिखाना।

४६ उत्सादन मर्दन-कौशल—मर्दन दो प्रकार का हाथों से (मर्दन) पैरों से (उत्सादन)।

४७ केश-मार्जन-कौशल—बाल संवारने के विविध कौशल।

४८. अक्षर-मुष्टिका-कथन—अदृष्ट अक्षरों का तथा मुट्ठी में बद्ध वस्तु का अनुमान।

४९ म्लेच्छित-विकल्प—गूढ वस्तु मंत्रणा के लिये गुप्तभाषा प्रयोग।

५०. देशभाषा-विज्ञान—स्पष्ट है।

५१ पुष्पशकटिका-विज्ञान—पुष्पों की गाड़ी बनाना।

५२ निमित्त-ज्ञान—काक आदि की बोली से शुभाशुभ निमित्तों की पहचान।

५३. यन्त्र-मातृका—(देखिये इस ग्रन्थ का यंत्र-पटल)।

५४. धारण-मातृका—गूढ-कविता-कौशल (प्रहेलिका आदि पद्मबन्ध तथा मुरजबन्ध आदि)।

५५ सपाठ्य—गान तथा वाद के लिये पठनाभ्यास।

५६. मानसी-काव्य-क्रिया—आशु-कवित्त।

५७ अभिधान-कोष—किसी शब्द अथवा पद-विशेष के पूरे पर्यायों को कहना।

५८. छन्दोज्ञान—स्पष्ट है। अथवा सुन्दरियों के द्वारा पुरुष-मनोज्ञान—यशोधर (वात्स्यायन काम सूत्र के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार)।

५९. क्रिया-विकल्प—व्याकरण-वैदुष्य एवं अलङ्कार-शास्त्र-पाटव।

६०. छलित-योग—शूर्पणखा तथा कीचक के सदृश भेष बदलना।

६१. वस्त्र-गोपन—सूती कपड़ा रेशमी सा बना देना अथवा शरीर के अप्रकाश्य देशों का संवरण आदि—यशो०।

६२. द्यूत-विशेष—जुवा खेलना।

६३. अक्ष-क्रीडा— ,, ,, ।

६४. बाल-क्रीडनक—बच्चों के लिये गुड़िया गुड्डे बनाना।

६५ वैनयिकी-ज्ञान—विनीता-चरण।

६६. विजयिकी ज्ञान—द्विविध-युद्ध-कौशल—दैव तथा मनुष्य।

६७. व्यायामिकी-ज्ञान—मृगया आदि व्यायाम।

टि०—यशोधर के अनुसार ६४ कलायें मौलिक कलायें हैं जो अवान्तर भेदों सहित ५१८ हो जाती हैं।

नगर-निवेश के सिद्धान्तों की इस 'भूमिका में इन चौंसठ (या ६७) कलाओं की अवतारणा का क्या मर्म है—इस पर थोड़ा सा संकेत आवश्यक है। इनमें बहुत सी कलायें नागरिक कलायें हैं, जो साधारण ग्रामीण वातावरण में नहीं पनप सकतीं। पुनश्च कलाओं के विकास का आधार एक भव्य एवं समृद्ध मानव की सौन्दर्य-भावना है। इस सौन्दर्य भावना का सम्बन्ध बहुत कुछ उसके यौवन से है। यौवन तथा सौन्दर्य ने ही सनातन से विभिन्न कलाओं की उपासना एव सेवन के लिये उपयुक्त क्षेत्र प्रदान किया है। एक असंस्कृत ग्रामीण को सौन्दर्य की क्या पहिचान? कलात्मक जीवन-यापन के लिये उसके पास उपादेय संभार एवं सामग्री कहाँ? अतः कलाओं का विकास नागरिक-सभ्यता के विकास का आनुषङ्गिक क्रम है। वात्स्यायन के काम-सूत्र मे प्रतिपादित इन कलाओं के जन्म एवं विकास का सम्बन्ध पुरुषार्थ-चतुष्टय के अर्थ एवं काम की तृप्ति से है। काम भी उतना ही सनातन एवं सत्य है जितना धर्म एवं मोक्ष। अतः इन कलाओं ने नागरिक सभ्यता एवं नगरों के विकास मे अत्यधिक सहायता प्रदान की—यह हम समझ सकते हैं। समृद्ध नगर और ऐश्वर्य-सम्पन्न कलाविद् शिक्षित सभ्य नागरिक किसी भी सभ्य देश के जीते जागते ज्वलंत उदाहरण हैं। इन कलाओं के संबंध मे यह भी सत्य है कि इनमें से बहुत सी अब केवल नाम मात्र को शेष हैं। कलाओं के विकास के लिये सुख एवं शान्ति की परम आवश्यकता है। यह सुख-शाति राजनैतिक स्थिरता एवं दृढ़ता की निशानी है। भारत का राजनैतिक इतिहास इसका साक्षी है कि इस महादेश की दासता ने प्रायः इन सभी कलाओं को खा लिया है। साहित्य तथा वह कला, जिसकी उपयोगिता अथवा उपादेयता सर्वसाधारण के लिये नहीं है, जो विश्व जनीन नहीं, कभी चिरस्थायी नहीं हो सकती। इन परम्पराप्रसिद्ध कलाओं में से बहुत सी ऐसी ही कलाएँ थीं, जो कालान्तर में विस्मृति के गर्त मे विलीन हो गयी। इनमें से जो विशेष उपादेय थीं, जिनकी सर्वसाधारण के लिये भी विशेष उपयोगिता थी वे ही चिरस्था-यिनी बनीं और आज भी विद्यमान हैं। ऐतिहासिक अनुसन्धान में इन ६४ कलाओं में से बहुत सी ऐसी भी कलायें थीं, जो यद्यपि आज विद्यमान नहीं हैं, परन्तु इस देश में किसी समय उनका सेवन (Cultivation) नागरिकता एवं सभ्यता के भौतिक वैभव की निशानी समझी जाती थी। जैसा कि नियम है 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इन चौसठ कलाओं में से कुछ उपादेय एवं महत्वपूर्ण कलाओं का ही बोलबाला रहा। उनमे भी वास्तु कला ने इतनी उन्नति की—उसका इतना व्यापक विजृम्भण हुआ कि बहुत सी कलायें इसी के व्यापक कलेवर में जुड़ गयीं। ठीक भी है।

मनुष्य की सर्वप्रमुख आवश्यकता उदर पूर्ति तो है ही, किन्तु वास सम्भवतः उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। उदर-पूर्ति की आवश्यकता के समान अथवा उससे भी अधिक महत्व वास को देना ही तो मानव सभ्यता की सार्थकता है अन्यथा यत्रतत्र कान्तारों, पर्वतों एवं वृक्षों पर विचरने वाले वन्य जन्तुओं तथा खगों-मृगों से, मानवों का कैसे पार्थक्य एवं श्रेष्ठता होती?

प्राचीन शिल्प-शास्त्रियों ने वास्तु-कला—भवन-निर्माण-कला—वास-वसति-विज्ञान के सम्बन्ध मे जो 'वास्तु' शब्द का लक्षण धरा, हर्म्य, यान एवं पर्यंक दिया है,

उनमें से प्रथम दो-धरा तथा हर्म्य को लेकर नगर-निवेश--वसति-विन्यास—ग्राम निवेश-पुर-विनिवेश (Town-Planning) ऐसे नागरिक शास्त्र का जन्म हुआ। क्योंकि धरा और हर्म्य ही नगर-शरीर के सार्थक कलेवर हैं। धरा आधार है, तथा हर्म्य आधेय विना धरा के नगर का निवेश कहाँ ?-विना हर्म्य अर्थात् भवन (building) प्रासाद, राजप्रासाद, मण्डप, सभा, शाला आदिके विना नगर के कलेवर की पुष्टि कहाँ ?

वैसे तो आजकल वास्तु-शास्त्र का प्रचलित अर्थ भवन-निर्माण कला है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से एवं शास्त्रीय पद्धति से तो विना नगर निर्माण-नियमों के ज्ञान के भवन-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठना। भवनों के निर्माण-योग्य स्थान का दूसरा नाम नगर है। अतः साराश यह है कि वास्तु-शास्त्र का नगर-निवेश परमोपजीव्य तथा प्रमुख अंग है, और प्रधान विवेचनीय विषय है।

अब क्रम प्राप्त नगर-निवेश के क्षेत्र (Scope) अर्थात् उसके विभिन्न अंगों की विवेचना करनी है। पुन. आगे नगर-निवेश के व्यापक सिद्धान्तों एवं नियमों की समीक्षा करनी होगी, जिससे नगर-निवेश की सामग्री को हम समझ सकें।

नगर-निवेश के अंगों की निम्न तालिका में स्थूलदृष्टि से नगर-निवेश के प्रायः सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

१ देश-मापन (Land-Investigation)
२ भूमि-संग्रह—भूमि-चयन
३. दिक्-परीक्षा
४. पद-विन्यास —वास्तु-पद विभाजन अर्थात् निवेश्य स्थल का विभिन्न भागों में विभाजन तथा वर्गीकरण—विभिन्न पद्धतियाँ—प्राचीन तथा अर्वाचीन
५. नगराभ्युदयिक शान्तिक एवं बलिकर्म-विधान।
६ मार्ग-विन्यास।
७. प्राकार-परिखा-वप्रादि-विन्यास-योजना (Fortificaton)
८. अट्टालक, कपिशीर्षक, चरिकादि-विन्यास।
९ द्वार एवं गोपुर-विधान।
१० भवन-निवेश।
११ मण्डप-विधान (मन्दिर—देवतायतन)।
१२. राजवेश्म
१३ आरामोद्यान, पुष्प-वीथिकायें, पुरजन-विहार तथा सर्वसाधारण भवन आदि।
१४ गर्हितपुर (Inauspicious towns)

अस्तु, ये ही विषय आगे के अध्यायों का कलेवर निर्माण करेंगे।

एक नगर के विकास में अथवा उसके निवेश एवं निर्माण में, उस स्थान-विशेष की, जहाँ पर वह नगर विकसित, निविष्ट या निर्मित होता है, प्राकृतिक स्थिति—जलवायु, वातावरण—वृक्ष, लता, गुल्म, नदी, पर्वत, समुद्र, मरुस्थल, आदि-आदि की विशेषताओं का उस पर प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता ही है, साथ ही साथ उस जनपद विशेष की संस्कृति, सभ्यता, रहन-उहन, एवं तदनुरूप आवश्यकताओं, वहाँ के मानवों—नागरिकों की प्रवृत्तियों, एवं व्यवहार और व्यवसाय आदि का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसी आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार जब कभी किसी नगर की निवेश-योजना अर्वाचीन अथवा प्राचीन समय में बनाई जाती है अथवा बनायी जाती थी तो उस स्थान विशेष की भूमि, जलवायु, जनपद तथा पौरजान-पद एवं वहाँ की आर्थिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार की विशेषताओं को दृष्टि में रखकर ही तो नगर-निवेश्य स्थान-विशेष का निर्वाचन किया जाता था।

मनुष्य चिरन्तन से प्रकृति का प्रेमी रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य उसके मानस-पटल को सदैव सर्वाधिक आकृष्ट करता रहा है। उसी सौन्दर्य की तृप्ति के हेतु वह अपने सभी मानवीय व्यापारों में, गृहनिर्माण, पुर-निर्माण, ग्राम-विन्यास, भोजन-पाचन, आहार विहार—सभी क्रिया-कलापों में प्राकृतिक साधनों का उपयोग करता रहा तथा उस प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब को देखने की कामना करता रहा।

भारतीय पुर-निवेश-परम्परा में यहाँ के स्थपतियों ने सदैव यह चेष्टा की कि किस प्रकार वह अपनी कृतियों में सौन्दर्य के दर्शन की ज्योति को निखारे। स्थापत्यकौशल आखिर-कार एक प्रकार की कलात्मक साधना है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के अपूर्व संयोग एवं समन्वय का सहारा लेना पड़ता है तभी वह कौशल, वह कला, वह रचना, वह निर्मिति वास्तव में श्लाध्य एवं प्रभावोत्पादक होती है।

अतः नगर-निवेश के उपयुक्त स्थान के चुनाव में इन सभी घटकों(factors)को दृष्टि में रखना आवश्यक हो जाता है। एक दो बातें और रही जाती हैं, उन पर भी ध्यान देना है। जहाँ मनुष्य ने अपनी सौन्दर्य-पिपासा के लिये प्राकृतिक स्थानों को चुना वहाँ अपनी रक्षा के लिये भी इन्हीं स्थानों का आश्रय पाकर वह कृतकृत्य भी हुआ। किसी सरिता तट पर निर्मित नगर की सुरक्षा उस सरिता से सुतरा सम्पन्न हो ही जाती है। सरिता उस नगर की प्राकृतिक प्राकार-प्रक्रिया है। इसी प्रकार पर्वत की उत्यकायें अथवा सागर-वेला या मरु-स्थल भी प्राकृतिक सुरक्षा के साधन हैं।

प्रकृति, जनपद, जलवायु आदि की उपयोगिता पर संकेत हो चुका है। भारतीयों की सभ्यता में धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-विधान तथा दैनिक स्नान का बड़ा भारी महत्व सनातन से रहा है—यह सभी जानते हैं। अतः नगर-निवेश के मर्मज्ञ स्थपति ने सदैव यह ध्यान रक्खा कि नगर का निर्माण उसी स्थल-विशेष पर हो जहाँ जल का आधिक्य हो

सुविधा भी हो। यही कारण है कि भारत के सभी बड़े-बड़े नगर या तो किसी नदी के किनारे आबाद हैं, या फिर किसी झील अथवा तड़ाग के किनारे या चतुर्दिक निविष्ट हुए हैं। स्वास्थ्य और सफाई, पवित्रता तथा धार्मिकता के लिये जल से बढ़ कर दूसरा महत्वपूर्ण उपकरण नहीं। अतः जहाँ पर जलाधिक्य होगा वहीं पर वृक्ष, पौधे, लता, गुल्म—प्राकृतिक सौन्दर्य के दिव्य साधन भी प्राप्त होंगे। वही स्थान, वास्तव में मानव-वासोचित ही नहीं देवावासोचित भी सम्पन्न हो सकेगा। जहाँ देवता नहीं रमें वहाँ मानव कैसे पनपे—यही तो भारतीय समाज का चिन्तन रहस्य है तथा भारतीय सभ्यता की जीवन-गाथा है।

मत्स्य पुराण (अ० २१७—श्लो० ५-६) की ये पंक्तियाँ इन विशेषताओं के सम्बन्ध में कितनी सार्थक हैं ?—

अदेवमातृकं रम्यं सुरक्तजनान्वितम्
सरीसृपविहीनञ्च व्याघ्रतस्करवर्जितम्।

अर्थात् नगर-निवेश के लिये वह उपयुक्त स्थान है जहाँ कृषि तथा उर्वरता Fertilization के लिये वर्षाजल की अपेक्षा न हो अर्थात् वहाँ प्राकृतिक पुष्करिणी अथवा कृत्रिम जलधारा—Canal आदि के पूर्ण साधन हों। यह स्थान सभी प्रकार सुरम्य हो, स्वस्थ हो तथा सर्पों, व्याघ्रों तथा चोरों से शून्य हो।

कुछ भूले हुए, बहके हुए, भारतीय जीवन से अनभिज्ञ समालोचकों ने सदा से यह आक्षेप किया कि यहाँ के लोगों ने नगर-निवेश, पुर-निवेश अथवा ग्राम-विन्यास या फिर भवन-निवेश में भौतिक साधन-सम्पन्नता—सौदर्य तथा आनद, सुख तथा स्वास्थ्य की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। वह सर्वथा अनर्गल भ्रम है। प्राचीन शिल्प-शास्त्र के प्रवक्ता किसी ऋषि, मुनि अथवा आचार्य को लीजिये उनके प्रवचनों को ध्यान से समझिये। यह आक्षेप बिलकुल ही गलत मालूम पड़ेगा। राजधानी-नगर के निवेश के सम्बन्ध में आचार्य शुक्रजी कहते हैं (प्रथ० अ०)

"उस सुरम्य एवं समतल भू-प्रदेश पर राजधानी-नगर का निवेश करना चाहिये, जो विविध प्रकार के विटपों, लताओं और पौधों से आकीर्ण हो। जहाँ पर पशु-पक्षी तथा जीव-जन्तुओं की पूर्ण सम्पन्नता हो। जहाँ पर खाद्य एवं जल का पूर्ण सौकर्य हो। चारों ओर जहाँ पर हरियाली, बाग-बगीचे, जंगल के प्राकृतिक सौंदर्य दर्शनीय हों। जहाँ पर समुद्रतट पर गमनशील नौकाओं के यातायात से उनका सदैव संचार दृष्टिपथ में हो और वह स्थान पर्वत से बहुत दूर न होकर समीप हो।"

ऋषि मानसार तथा मुनि मय के भी इसी प्रकार के प्रवचनों को देखिये (मानसार ३ अध्याय तथा मयमत ३, ४ अ०) जिनके अवलोकन से भी पाठक इसी प्राचीन परम्परा की पुष्टि पायेंगे।

मयमुनि, ऋषि मानसार तथा शुक्राचार्य जी के इन औपोद्घातिक वचनों के निर्देश के उपरात भोज के उपसहारात्मक भूमि-चयन-विषयक इन प्रवचनों का उद्धरण देकर भूमि-चयन के अत्यन्त विशद एवं उपादेय विषय की सुन्दर समीक्षा हो सकेगी—देखिये परिशिष्ट

"जिस भू-प्रदेश की गोद में चारों ओर बड़ी-बड़ी शिलाओं वाली पर्वत-श्रेणियाँ बिखरी हों और जिन पर सुन्दर सुरम्य कुञ्जों, गुल्मों, लताओं तथा विटपों की शोभा दर्शनीय

हो और जिनमें सतत शीतोस्यंदन होता रहता हो। जहाँ पर सुन्दर नदियाँ बह रही हों, जिनके सैकत-कूलों पर चित्र-विचित्र सुन्दर विटप अपनी छाया जल-मुकुर में सदैव देखा करते हों, जिनका जल स्वादु हो, जो स्नानावगाहन, मज्जन और तैरण के लिये क्षम एवं सुखद हो। पर्वत-सामीप्य एवं नदी-सौविध्य की ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। अब आइये काननों की ओर। चित्र विचित्र विविध पुष्पों-फलों से लदेहुए वनों की जहाँ भरमार हो, और जहाँ पर सदैव बसन्त की बहार हो—कोकिलों की कलरव ध्वनि, मधु से मत्त भ्रमरों का गुञ्जन सदैव कर्ण-कुहरों में पीयूष की वर्षा करते हों। हो सकता है किसी स्थान-विशेष पर सरितायें न हों तो फिर पुष्करों, पुष्करिणियों (झीलों) तथा तड़ागों की दर्शनीय छटा तो हो ही; जिनमें खूब जलराशि हो (जिससे जल-सौविध्य की सम्पन्नता सिद्ध हो सके) और जिनमें कतारों की कतार से कमल खिले हों और भँवरे गुञ्जार कर रहे हों। अब खाद्यान्न की ओर ग्रन्थकार झुकता है—बिना खाद्य-व्यवस्था, बसती कहाँ पनपेगी। अतः जहाँ पर सस्य-निष्पादक सुन्दर क्षेत्रों की खूब भरमार हो– इनकी अपनी अपनी सीमायें विभक्त हों—सम हों, ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों में न हो, इनकी जमीन सुगन्धित हो, स्वादु हो, शीतल हो। साथ ही साथ इन्धन आदि तथा गृह-प्रयोज्य काष्ठ आदि के लिये बिना काटे वाले बड़े-बड़े वृक्षों की भी कमी न हो। इसी प्रकार की भूमियाँ प्रशस्त बताई गई हैं। यहाँ दुष्टों की दुष्टता का अवसर न मिले तथा सर्वप्रकार आश्रय-सम्पन्नता भी हो। भय त्रास अथवा शंका का वहाँ अवकाश न हो। सभी प्रकार की मनोरमता हो—ऐसी ही वसुन्धराओं पर जनपद, खेटक, ग्राम, नगर आदि की निवेश-व्यवस्था करनी चाहिये।

वास्तु-कला में भी भोज ने काव्यकला का पुट देकर, नगर-निवेश-क्रिया (कला) में भी कवित्व की कृति सी एक दिव्य-ज्योति प्रदान की जिससे नगर स्थाणुवत् नीरस न रहकर सरस पादप के समान अत्यन्त हृद्य एवं अनवद्य बन गया।

भू-परीक्षा

भूमिचयन में जहाँ उस स्थान के ऊर्वर, सुन्दर, स्वस्थ, एवं सुविधायुक्त वातावरण को ध्यान में रखना आवश्यक है, वहाँ यह भी देखना है कि भूमि भवन-निर्माण के उपयुक्त है कि नहीं? अत. सभी शिल्प-शास्त्रों में भू-परीक्षण पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। भू-परीक्षण-विधान को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—एक तो भूस्थल-परीक्षा तथा दूसरे मृत्तिका-परीक्षा।

मानसार, मयमत आदि प्रमुख शिल्पीय ग्रंथों एवं पुराणों में भी भू-परीक्षा-विधान पर जो प्रकाश डाला गया है उसका साराश यह है कि भूपरीक्षा अर्थात् उसके औचित्या-नौचित्य-परीक्षण में वर्ण, गंध, स्वाद, आकृति, दिङ्मुखता (Direction), ध्वनि, स्पर्श आदि सभी दृष्टियों से उसकी उपयुक्तता जाँचनी चाहिये। भू स्थल समतल हो। उसका स्रव पूर्वाभिमुख हो। शब्द उसका कठोर हो। बायें से दाहिनी ओर प्रवहवान् जलस्रोत हों। मृत्तिका का प्राचुर्य हो तथा मनुष्य की ऊँचाई की खुदाई से जल प्राप्त हो सकता हो तथा समशीतोष्ण जलवायु हो। ऐसी भूमि सर्वोत्तम, कुछ गुण कम मध्यम तथा बिलकुल

विपरीत अधम होती है। मानसार जहाँ भूमि के स्रव को पूर्वाभिमुख मानता है, वहाँ मय महाराज उसे 'ऐन्द्रोत्तर-स्रवा' विशेष प्रशस्ता मानते हैं। मयमुनि यह भी चाहते हैं कि भूमि की उर्वरता के साथ साथ उसमें एक ही वर्ण हो अथवा विभिन्न हों। भूमि घनी, शीतल, सुखद-स्पर्श, सुस्वादु तथा सिकतामय हो। इन सब विशेषताओं को दृष्टि में रखकर मय मुनि लिखते हैं:—

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा।
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहिता प्राक्प्रतीच्युन्नता या॥
पूर्वोदग्वारिसारा वरसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या।
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदरहिता सम्मतान्यैः फणीन्द्रैः॥

समराङ्गण की भू-परीक्षा बड़ी विशद है। जिस भूमि पर ग्राम, नगर, दुर्ग, पत्तन, प्रासाद या मन्दिर अथवा भवन आदि का निवेश करना हो उसकी प्रथम परीक्षा आवश्यक है। भूमि की परीक्षा—दिशा, वर्ण, गन्ध, रूप, स्वाद एव स्पर्श आदि विभिन्न प्रक्रियाओं से की जानी चाहिये—इस पर सकेत हो ही चुका है। साथ ही साथ भूमि का आरोहावरोह एवं उसकी अपनी निजी उत्पत्ति-विशेष आदि की भी परीक्षा सूक्ष्म रूप से अनिवार्य है।

समराङ्गण की भू-परीक्षा विशद तो है ही व्यापक भी बड़ी है। समराङ्गण का विवेचन प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में इसी व्यापक भावना से ओत-प्रोत रहता है। यहाँ पर सर्वप्रथम भूमि की विभिन्नता की दृष्टि से, देशों एवं देश-भूमियो का वर्गीकरण किया गया है। इस भूमि-दृष्टि से देश तीन प्रकार का होता है:—

१ जागल
२. अनूप तथा
३. साधारण

जहाँ पर पानी दूर हो—प्रायः मरुस्थलों की प्रचुरता हो वृक्ष जहाँ पर छोटे और कटीले हो, वायु जहाँ की रूक्ष, उष्ण तथा प्रचण्ड हो, मिट्टी जहाँ की काली हो वह 'जागल' देश कहलाता है।

इसके विपरीत जहाँ पर जल निकट हो, जलाधिक्य हो अथच वह प्रदेश सुरम्य एवं शीतल हो, जहाँ पर मछली और मास भी प्रचुरता से प्राप्त हों, सरितायें भी खूब हों, पेड़ ऊंचे, सुहावने तथा अधिक हों वह देश 'अनूप' के नाम से पुकारा जाता है।

'साधारण' देश उक्त दोनों देशों का सम्मिश्रण होता है। न वह बहुत गरम होता है और न बहुत ठण्डा।

इन त्रिविध देशों मे प्राप्त अपनी अपनी विशेषताओं से युक्त निम्न सोलह प्रकार की देश-भूमियाँ होती हैं:—

१ बालिशस्वामिनी
२ भोग्या
३ सीतागोचररक्षिणी

७. आत्मधारिणी	१२. शक्यसामन्ता
८ वारिक्प्रसाधिता	१३. देवमातृका
६. द्रव्यसम्पन्ना	१४. धान्या
१०. अमित्रघातिनी	१५. हस्तिवनोपेता
११. आश्रेणी-पुरुपा	१६. सुरक्षा

इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं है—यथार्थ नामा हैं ये भूमिया। इन सोलह प्रकार की विशिष्ट ममियों के अतिरिक्त और भी अनेक मिश्रलक्षणा जानपद-भूमियाँ हैं जिनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। केवल इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि सबका साराश यह है कि जहा पर सुन्दर सुन्दर प्राकृतिक दृश्य हों, सरितायें जहा बह रही हो, नानाविध मुन्दर पादपों, लताओं एवं पुष्पों का जहा मनोज्ञ साम्राज्य छाया हो, जहाँ की पृथ्वी पर कटीलापन, पथरीलापन और वल्मीकापन न हो और जो विभिन्न प्रकार के गुणों एवं सुविधाओं से सुशोभित हो, वही प्रदेश पुर-निवेश के लिये समुचित स्थान है।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि पुर-निवेशनोचित इन भूमियों के अतिरिक्त समराङ्गण मे दुर्ग-निवेशोचित भूमियों पर पृथक् प्रकाश डाला गया है--यह इसका वैशिष्ट्य है। मानसार आदि ग्रंथों में पुर, ग्राम, दुर्ग आदि की भूमिया प्रायः एक ही सी प्रतिपादित की गयी हैं। स. सू. में दुर्ग-निवेशनोचित चार प्रकार की भूमियाँ बताई गई हैं—

१. गिरिदुर्गावनि	३. जलदुर्गावनि तथा
२ मूलदुर्गावनि	४. आकारदुर्गावनि

इन पर समुचित प्रकाश 'दुर्गनिवेश' नामक पूर्व प्रकरण में डाला ही जा चुका है।

समराङ्गण मे भी मानसार के आनुषङ्गिक भूपरीक्षण-विधान मे गन्ध, वर्ण, स्वाद, स्पर्श एवं शब्द अर्थात् ध्वनि इस पंचमुखी मृत्तिका-परीक्षा-साधन-व्यवस्था का आश्रय लिया गया है

गन्ध—गन्ध की परीक्षा से वह पृथ्वी सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों) के लिये प्रशस्त है जिसमे कुंकुम, अगुरू, कपूर, इलायची, चंदन आदि की पृथक्-पृथक् अथवा मिश्रित गन्ध हो, अथवा कल्हार (पुष्पविशेष) पाटला, कमल, मालती, चम्पा आदि पुष्पों मे सुगन्धित हो, अथवा गोमूत्र, गोमय, दधि, दुग्ध, मधु, घृत—इनकी गन्ध से गन्धवती हो, अथवा मदिरा, माध्वीक, गजमद अथवा आसव आदि के सदृश समान-गन्धा हो।

अस्तु, यहाँ पर इतना संकेत करना आवश्यक है कि जहाँ मानसार आदि प्राचीन शिल्प-ग्रन्थों मे, तथा सूत्रधार-मण्डन आदि अर्वाचीन ग्रंथो मे शूद्रों के लिये हीन-गन्धा मही का निर्देश किया गया है वहाँ भोज ऐसे Aristocratic राजा ने सभी वर्णों के लिये (without any distinction) इस उपर्युक्त गन्ध-विशिष्टा सुन्दर वसुन्धरा का बखान किया है–भोज का यह परम वैशिष्ट्य है। सर्वसाधारण भवनों के लिये सर्वसाधारण भूमि होनी चाहिये।

(देखिये आगे भवन-निवेश—शाला-भवन)

वर्ण—भूमि के भी चार वर्ण हैं—सित, पीत, रक्त, कृष्ण। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिये क्रमशः ये प्रशस्त प्रतिपादित किये गये हैं। वर्ण-व्यवस्था का आधार वर्ण (रंग) ही तो है। वही रंग-भेद विभिन्न वर्णियों के लिये विभिन्न रूप में प्रशस्त माना गया है। ब्राह्मणों के लिये सिता मही—यह शुभ्रता उनके तेज, तप एवं पवित्रता की बोधक है। क्षत्रियों के लिये रक्ता मही—रुधिर का रंग उनके युद्ध-कौशल, युद्ध-भूमि एव सैनिक-प्रवृत्ति Martial spirit का बोधक है। वैश्यों के लिये पीता मही। पीतवर्ण—स्वर्ण का रंग है, जो उनकी सम्पत्ति, धन और ऐश्वर्य का बोधक है। अथच शूद्रों के लिये कृष्णा मही—अनार्य रंग—जो कि उनकी तुच्छता, दासता तथा अपवित्रता का बोधक है।

स्वाद—जहातक स्वाद-विभेद का प्रश्न है मधुरा मही सभी वर्णों के लिये ठीक ही है। परन्तु परम्परा से मधुरा, कषाया, तिक्ता और कटुका—ये चार प्रकार की स्वादवती भूमिया क्रमशः ब्राह्मणादि वर्णों के लिये प्रशस्त हैं।

स्पर्श—स्पर्श-प्रभेद से वह भूमि जो ग्रीष्म में शीत-स्पर्शा तथा शीत ऋतु में उष्ण-स्पर्शा और वर्षा मे उष्ण-शीत-स्पर्शा हो वह प्रशस्ता बतायी गयी है।

ध्वनि(शब्द)—अन्त में शब्द की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिये। जिस भूमि की मृदङ्ग, वेणु, वल्लकी, दुन्दभी आदि बाजों के समान ध्वनि हो अथवा हाथी, घोडे अथवा समुद्र के शब्दों के समान ध्वनि हो वह प्रशस्त प्रतिपादित की गयी है।

इस प्रकार भूमिचयन में विभिन्न घटकों को लेकर भू-परीक्षा से प्राप्त प्रशस्त भूमियों के उल्लेख के उपरात अब अप्रशस्त भूमियों का भी ज्ञान आवश्यक है। मानसार, मयमत आदि सभी शास्त्रों ने इस सम्बन्ध में चर्चा की है। मानसार के चौथे अध्याय में तथा मयमत मे भी चौथे अध्याय मे वर्ज्य भूमियाँ परिगणित हैं वे वहीं द्रष्टव्य हैं।

समराङ्गण-सूत्रधार में अप्रशस्त—अशुभ भूमियों का जो वर्णन किया गया है उनकी विना समीक्षा एवं भाषार्थ के ही निगद-व्याख्यान हो जाता है। (देखिये परिशिष्ट—अवतरण)

भूपरीक्षा के इस प्रकरण को हमने दो भागों मे बाँटा था—भूस्थल-परीक्षा तथा मृत्तिका-परीक्षा। भूस्थल-परीक्षा के सम्बन्ध मे प्रशस्त एवं अप्रशस्त भूमियों तथा उनके विविध प्रकारों आदि पर काफी विवेचन हो चुका है। अब आगे मृत्तिका-परीक्षा की अवतारणा करनी है। परन्तु भूमिचयन के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण छूटा जा रहा है। वह है भूमिप्लवन natural proclivities of tha ground i. e Declivity towards one direction or the other.

इस प्रश्न पर भोज ने अपने युक्ति-कल्पतरु तथा समराङ्गण दोनों मे प्रकाश डाला है:—

ईशानपूर्वप्लवनो मध्यस्थानसमुन्नत·
उत्तमः कीर्तितो देशो गृहाय नगराय च।

अर्थात् वही भूमि-प्रदेश गृहनिर्माण अथवा नगर-निर्माण के लिये उपयुक्त होगा जो मध्य मे समन्नत हो तथा पूर्व तथा पूर्वोत्तर की ओर झुका (Slanting) हो।

समराङ्गण में भोज लिखते हैः—

अनूपरा बहुतृणा शस्ता स्निग्धोत्तरप्लवा ॥ ६ ॥
प्रागीशानप्लवा सर्वप्लवा वा दर्पणोदरा ॥
आठवाँ अ० भूमि-परीक्षा

अर्थात् जो भूमि ऊर्वरा हो, बहुशाप संयुक्ता हो, स्निग्धा अथच उत्तरप्लवा पूर्वोत्तर-दिक्प्लवा declivity towards the north or north-east अथवा सर्वदिक्प्लवा हो और मध्योन्नता हो वह दर्पण-सदृश-मध्या भूमि प्रशस्त है।

साराश यह है कि भूमि की दक्षिणप्लावनता अशुभ ही नहीं अप्रशस्त भी है। सभी शिल्प-शास्त्र भूमि की पूर्वप्लावनता प्रशस्त मानते है। इससे प्रातः सूर्य का पूर्ण आनन्द एवं उपयोग प्राप्त होता है। इसके विपरीत दक्षिण-प्लावनता से गन्दगी, बीमारी आदि खराबियाँ निश्चित हैं। पश्चिमीय-भूप्लावनता भी निषिद्ध है। शिल्परत्न का प्रवचन हैः—

प्राच्यां हि निषिद्धो हि गिरिः तच्छाययाप्युदये रवे.।
अ० ३ श्लोक ३३ वा

अर्थात् पुर की पर्वत-समीपक—पश्चिम-दिङ्मुखता इसलिये अवांछित है कि सूर्योदय पर भी प्रातः सूर्यरश्मियों के स्वच्छन्द प्रसार मे बाधा होगी।

इसी लिये भोजने समराङ्गण के ४८ वें अध्याय में भूप्लवन के दोषों की विवेचना कर उनसे बचने का निर्देश किया है (दे० परिशिष्ट अवतरण)

मृत्तिका-परीक्षा

भूमि की 'भूमिस्थल-परीक्षण' के इस विवेचन के उपरान्त अब भूमि की मृत्तिका-परीक्षा के सम्बन्ध में भी कुछ उद्घाटन आवश्यक है। मृत्तिका-परीक्षा के विभिन्न उपायों पर जो प्रायः सभी शिल्पीय-ग्रन्थों मे प्रकाश डाला गया है उनके अन्तर्तम में एक ही आधार-भूत सिद्धान्त है—वह है भूमिकी कठोरता Solidity। जो भूमि कठोर Solid नहीं है वह भवन-निर्माण, मन्दिर-रचना, प्रासाद-विन्यास अथवा राजप्रासाद रचना के लिये कैसे उपयुक्त हो सकती है? इसी रहस्य के समुद्घाटन के लिये मयमत के चौथे अध्याय में मानसार के चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में, काश्यपीय-शिल्प के प्रथम भाग में, राजवल्लभ एवं मत्स्यपुराण के अपने अपने अध्यायों में विशेष प्रकाश डाला गया है जिसका प्रायः वास्तु-तत्व-समीक्षात्मक स्वरूप का सभी ग्रन्थों मे उल्लेख किया गया है और जिसकी एक प्रकार से सर्व साधारण प्राचीन परम्परा-सी स्थापित होगयी थी। हा आजकल के समय में जब भवन-न्यूनता तथा भूमि-न्यूनता, अत्यधिक आबादी के कारण एक जटिल समस्या बन गयी है, ऐसे समय में सम्पत्ति-सम्पन्न गृह-निर्माताओं को भी उस प्रकार की सुलभता कहा? अतएव इन सभी शिल्पशास्त्रों के अलग अलग मृत्तिका-परीक्षण-प्रकारों का उल्लेख न करके, सर्वसाधारण

प्रचलित-परम्परागत प्रसिद्ध परीक्षणों की ही चर्चा करना यहाँ पर ठीक होगा—क्योंकि समराङ्गण-सूत्रधार में भी इनका उल्लेख किया गया है।

यहाँ पर समराङ्गण की मृत्तिका-परीक्षा के सम्बन्ध में एक विभेद, विशिष्टता अथवा विषमता पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। समराङ्गण के अनुसार भू-चयन के उपरान्त अविलम्ब स्थपति को उस भूमि को जोतवा देना चाहिये। इस प्रकार भू-कर्षण से प्राप्त इष्टिका, पाषाण, सर्प आदि दर्शन से शकुन अथवा अपशकुन आदि शुभाशुभ निमित्तो की पर्यालोचना करनी चाहिए। यदि शुभ-निमित्तोद्घाटक चीजें प्राप्त होती हैं तो फिर किसी शुभ दिन व्रत रख कर व स्नानादि सम्पादन कर एवं शुभ्रवस्त्र तथा शुभ्र माला धारण कर ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन करवाकर तथा वास्तु-देवों की समुचित समभ्यर्चना सम्पादित कर, मृत्तिका-परीक्षा के लिये उद्यत होना चाहिये। इसके विपरीत मानसार एवं मयमत में भूमि के चयन अथवा भूमि-संग्रह के उपरान्त ही मृत्तिका-परीक्षा के लिये स्थपति को अग्रसर होना चाहिये—ऐसा निर्देश मिलता है। इन ग्रन्थों में हलकर्षण का बड़ा महत्व दिया गया है और उसकी प्रक्रिया की जटिलता तथा संभार-बहुलता भी कम नहीं है। महाराज भोज ने इस हल-कर्षण-विधान की ओर विशेष अभिनिवेश नहीं दिखाया। सम्भवतः भोज के समय में (जो इन ग्रंथों के समय की अपेक्षा कहीं अधिक अर्वाचीन है) भारतीयों की याज्ञिक-प्रवृत्ति Ritualistic tendency कम हो गयी थी। साथ ही साथ बहुसंभारापेक्ष्य बहुद्रव्यापेक्ष्य ये विधान साधारण जन-समाज के बूते की बात भी नहीं। भोज ने (स्वयं एक ऐश्वर्य-शाली राजा होते हुए भी) सर्वसाधारण की आवश्यकताओं तथा तदनुकुल साध्य एवं साधनों का सदैव ध्यान रक्खा है। यह आगे शाल-भवन-विवेचन में विशेष रूप से स्पष्ट हो सकेगा।

समराङ्गण के अनुसार मृत्तिका-परीक्षा के विभिन्न प्रकारों में निम्न प्रक्रियायें हैः—

प्रथम प्रक्रिया

१ निर्वाचित भूमि के मध्य में एक हाथ के प्रमाण से एक गड्ढा खोदना चाहिये। फिर गड्ढे से पूरी की पूरी मिट्टी निकालकर उसी मिट्टी से उसको भरना चाहिये। यदि वह मृत्तिका गड्ढे से अधिक निकलती है तो श्रेष्ठ, पूरी पूरी उतरती है तो मध्यम, कम पड़ जाती है तो अधम।

दूसरी प्रक्रिया

२. गड्ढा खोदकर उसकी मिट्टी निकालकर मिट्टी से ही पूरित करने के बजाय पानी भरना चाहिये। पानी भर कर सौ क़दम (पदशतं व्रजेत्) चलना चाहिये। पुन. लौट आने पर यदि पानी जितना का उतना ही रहे तो श्रेष्ठ, कुछ कम हो जाय ($\frac{1}{2}$) तो मध्यम और बहुत कम हो जाय ($\frac{1}{2}$ अथवा और अधिक) तो वर्ज्य-निकृष्ट समझना चाहिए।

समराङ्गण की इस प्रक्रिया में मत्स्यपुराण-प्रक्रिया की छाप है। परन्तु मयमुनि ने इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में और भी कठोरता दिखाई है। उनके अनुसार गड्ढे में सायंकाल पानी भरा जावे और दूसरे दिन प्रातः उसकी परीक्षा करनी चाहिये। यदि उसमें प्रात. भी

के दर्शन हो जायें तो उसे अत्युत्कृष्ट भूमि समझना चाहिये। इसके विपरीत गुण भूमि अनिष्ट-दायिनी तथा वर्ज्य है। सयमत के विचार में मृत्तिका-परीक्षा की इस क्रिया से सम्भवतः यह निर्देश मिलता है कि जहाँ भूमि के निर्वाचन में उसकी कठोरता (Solidity) एवं स्थिरता तो देखनी ही चाहिये साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वह भूमि उपजाऊ (fit for cultivation) उर्वरा अथच जल-निर्भरा है कि नहीं। जलाभाव वाली अथवा जलन्यूना पृथ्वी आवास-निवेश्य कैसे शुभ हो सकती है। मृत्तिका-परीक्षा के सम्बन्ध में समराङ्गण की:—

तीसरी प्रक्रिया

जमीन में गड्ढा खोदकर वर्णानुसार (ब्राह्मण की शुभ्रा, क्षत्रिय की रक्ता, वैश्य की पीता, शूद्र की कृष्णा) पुष्पमालायें रक्खी जायें। जिस वर्ण की माला न सूखे उस वर्ण वाले के लिये वह भूमि प्रशस्त कल्याण-युक्त होगी।

चौथी प्रक्रिया

खोदे हुए गढे में चारों दिशाओं में (चारों वर्णों के अनुरूप अर्थात् ब्राह्मणों के लिये प्राची, क्षत्रियों के लिये दक्षिण, वैश्यों के लिये उत्तर, तथा शूद्रों के लिये पश्चिम) दीपक जलाकर रखना चाहिये। जिस दिशा की ओर रखा हुआ दीपक देर तक जले उस दिशा के वर्णों के लिये वह भूमि प्रशस्त होगी।

समराङ्गण की इस प्रक्रिया पर भी मत्स्य-पुराण की छाप है। मत्स्य-पुराण (देखिये २२७वा अध्याय) में लिखा है कि कच्चे दीपक में घी भरकर पुनः उसमें चार वत्तियों जलाकर चारों दिशाओं की ओर संकेत करती हुई खोदे हुए गड्ढे में रख दी जावें—यदि पूर्व दिङ्मुखा वर्तिका प्रोज्ज्वल प्रकाशित हो रही हो तो ब्राह्मण के लिये, दक्षिण दिङ्मुखा क्षत्रिय के लिये, और यदि चतुर्दिङ्मुखी वर्तिकायें समान प्रोज्ज्वल प्रकाशित हैं तो फिर सभी वर्णों के लिये वह भूमि प्रशस्त है।

मृत्तिका-परीक्षा की इन चारों प्रक्रियाओं में प्रथम दो वैज्ञानिक तथा अन्तिम दो पौराणिक समझ पड़ती हैं। प्रथम दोनों प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक रहस्य यह है कि प्रथम प्रक्रिया झिरझिरी (porous) जमीन को मकान बनाने के लिये उपयुक्त नहीं बतलाती है तथा दूसरी भूमि के ढीलेपन (looseness) की ओर संकेत करती है। दोनों ही जमीनें भवन-निर्माण के लिये उचित नहीं। यह तो आधुनिक इंजीनियर भी मुक्तकण्ठ से बताते हैं।

भूमि-चयन हो चुका। भूमि की मृत्तिका-परीक्षा की प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़ चुका। अब नगर-निवेश-विधान-मर्मज्ञ स्थपति के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि वह उस निर्वाचित स्थल-विशेष की दिक्परीक्षा एवं तदनुसार उस स्थान का दिङ्निर्णय सम्पादन करे। प्राचीन काल में दिशाज्ञान के लिये आजकल के यंत्रों की कमी नहीं थी। तत्कालीन स्थापत्य-कोविद इस सम्बन्ध में जिस प्रक्रिया का अवलम्बन लेते थे वह भी कम वैज्ञानिक नहीं थी। शंकुस्थापन से यह कार्य सम्पादन किया जाता था। शंकुस्थापन-विधान पर समराङ्गण में कोई चर्चा नहीं है। सम्भवतः उस समय इस प्रक्रिया का सार्वजनीन एवं अतिसुकर तथा प्रचुर प्रयोग होने के कारण शास्त्र में उनकी चर्चा करना एक मात्र

पिष्टपेषण अथवा सर्वसाधारण प्रचलित परम्परा पर प्रविवेचन एक मात्र ग्रंथ-विस्तार समझ कर नहीं किया गया। अस्तु। मानसार में छठे अध्याय मेंइस शंकुस्थापन-विधान पर विस्तार में विचार है। अतः आचार्य के इस विधान का साराश-मात्र दे देना इस प्रकरण में लिये पर्याप्त होगा। शंकुस्थापन का प्रयोजन डायलिंग के सिद्धातों अथच दिशामापन की प्रक्रिया—दोनों से सम्बन्धित है। यह शंकु विशिष्ट वृत्तों वृत्तों की लकड़ी से निर्मित किया जाता है। इसकी लम्बाई २४, १८, अथवा १२ अगुल के प्रमाण से हो सकती है। इसकी चौड़ाई (आधार अथवा पीठ पर) ६, ५ अथवा ४ अंगुल हो।

इसकी रचना एक सलिस्थल से की जाती है। शंकु (bottom) को केन्द्र मानकर एक वृत्त खींचा जाता है जिसके व्यास का परिमाण शंकु की दुगनी लम्बाई के बराबर होता है। इस पर दो चिन्ह अंकित किये जाते हैं जहाँ पर शंकु छाया मध्याह्न के पूर्व तथा उपरात वृत्त की परिधि पर पड़ती है, जो रेखा इन दोनों बिदुओं को मिलाती है वह पूर्व-पश्चिम रेखा है। पुनः प्रत्येक पूर्वीय तथा पश्चिमीय बिंदुओं से एक वृत्त बनाया जाता है जिसका व्यास उन दोनों की दूरी का होता है और the two intersecting points उत्तर तथा दक्षिण की सूचना देते हैं। इसी प्रक्रिया से अन्य दैशिक कोणों की रचना होती है।

इस प्रकार इस विधान से दिशाज्ञान-सम्पादन किया जाता है। अब डायलिंग के सिद्धातों के विषय की विवेचना में इतना सकेत पर्याप्त है कि प्रत्येक बारहों महीने प्रत्येक १० दिन के तीन तीन हिस्सों में बाँटे जाते हैं और उनकी बढ़ती-घटती से इन महीनों के विभिन्न भागों की गणना की जाती है।

वास्तु-शास्त्रीय समीक्षा में शंकुस्थापन-विधान की उपयोगिता पर प्रविवेचन इसलिये किया गया है कि वास्तु कला में भवन, पुर, ग्राम अथवा विभिन्न आवास-स्थल इन सब का दिक्साम्मुख्य (orientation) परम्परागत शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन कर सकें। भवन का सामुख्य पूर्वदिङ्मुख हो अथवा पूर्वोत्तर दिशा की ओर हो यही तो इस देश की सनातन व्यवस्था है। दक्षिण-दिङ्साम्मुख्य अमंगल माना गया है।

अन्त में, इस अध्याय मे—भूमिसंग्रह, भूमिचयन, भूमि-शोधन, अथवा भू-परीक्षण कहिये उसकी इतनी समीक्षा के उपरात—इस अत्यन्त महत्वपूर्ण वास्तु-तत्व के आधार-भूत सिद्धातों की ओर एक दो शब्दों में ध्यान आकर्षित कर विराम लेना है। भूमिचयन अथवा भूमि-परीक्षण के हम दो आधारभूत सिद्धात मान सकते हैं। एक तो (Sociological) दृष्टिकोण तथा दूसरा (Geological) दृष्टिकोण। प्रथम दृष्टिकोण पर आगे के अध्याय में विशेष रूप से विचार करेंगे जिसमें नगर के रेखाचित्रके निर्माण के साथ साथ नगरके मध्य मे आवास-स्थलों सभा-भवनो, मंदिरों, राजभवनों, पुरजन-विहारो आदि के विन्यास की योजना तैयार करनी है, नगर-सुधार अथवा नगर-विस्तार योजनओ को भी बनाने के लिये सामग्री प्रस्तुत करना है, साधन जुटाना है। दूसरे दृष्टिकोण (Geological Survoy) पर इस अध्याय मे समुचित सामग्री का ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया ही गया है। इस के अनुसार नगर-निवेश के पूर्व यह पता लगाना आवश्यक होता था कि भूमि उर्वरा है किनहीं, उसमें भवन-स्थायित्व के तत्व हैं कि नहीं? उसके पास जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं—

भोजन, आच्छादन, कृषि तथा व्यवसाय आदि के साधन के साथ-साथ भवनोपयोगी सामग्री (materials for building construction) सुगमता से प्राप्य हैं कि नहीं ? यदि किसी नगर-विशेष का निवेश किसी सरितातट पर अथवा सागर-वेला पर करना है तो वहां पर नगर की (diluvion or erosion) अर्थात् गिराव फिसलाव की तो सम्भावना नहीं। नगर-निवेशक वास्तुकलाविद् को यह भी ध्यान देना होता था कि उस नगर के मार्ग-विन्यास (आभ्यन्तरिक तथा बाह्य दोनों) से संचार-सौकर्य, यातायात, आवागमन तथा दूसरे नगरों से सम्बन्ध-स्थापन आदि की सुविधा है कि नहीं। जल-व्यवस्था की सुविधा पर भी पूर्ण ध्यान रखने की अत्यन्त आवश्यकता होती ही थी।

जीवन की इन विविध आवश्यकताओं के साथ-साथ तत्कालीन एवं तद्देशीय राज्य-व्यवस्था तथा राजनीतिक परिस्थितियों का भी नव-निर्मित नगर पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह भी विचारने की बात होती थी। इसी हेतु नगर के आकार-प्रकार, उसकी परिखायें तथा वप्र आदि विन्यास-व्यवस्था करना आवश्यक माना जाता था। नगर की वासभवन-विनियोजना में परम्परागत वर्णानुकूल वसतियों का निर्माण अथच नव-निवेश्य नगर की आर्थिक ऐतिहासिक, तथा कलात्मक सम्पन्नता, पादपारोपण, उद्यान-व्यवस्था आदि का पूर्ण ध्यान रखना होता था।

इस प्रकार प्रायः इन सभी दृष्टिकोणों से नगर-निवेश की प्रक्रिया सम्पादित करनी चाहिये। प्राचीन भारत में भी शास्त्रीय पद्धति तथा कलात्मक ज्ञान विद्यमान था—इसका अनुमान पूर्वोक्त संक्षिप्त विवेचन से भली भाँति लगाया जा सकता है।

पद-विन्यास

पदविन्यास पुरनिवेश एवं भवन-निवेश दोनों की प्रथम प्रक्रिया है। वास्तु-कला एवं वास्तु-विद्या का जन्म वेदि-रचना से प्रादुर्भूत हुआ—यह हम जानते ही हैं। "वास्तु" का सम्बन्ध "पुरुष और पद" से पहले हुआ शास्त्र और कला से बाद में। किसी धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रारम्भ में भूमिचयन आवश्यक है। जिस भू-खण्ड पर वैदिक यज्ञ आदि सम्पन्न होते थे उसे वास्तु-पद कहा जाता था। वैदिक यज्ञों के लिये वेदि-रचना एक आवश्यक अंग है। वेदि-रचना वास्तु-पद पर होनी चाहिये। उसका एक अधिष्ठातृ देवता भी होना चाहिये जिसकी "वास्तोष्पति" संज्ञा वैदिक साहित्य मे दी गई है। वास्तु-प्रतिष्ठा का जो वैदिक मन्त्र प्राचीन काल में प्रचलित था वह आज भी वैसा ही प्रचलित है।

मानव ने सनातन से सहायक देवों की कल्पना की है। जल-देवता, वनदेवता, गृहदेवता आदि आदि से संरक्षक की यह भावना चिरंतन से प्रचलित है। अतएव किसी भी संस्कार अथवा धार्मिक कृत्य की संरक्षकता एवं सफलता के लिये उस संस्कार एवं कृत्य के अधिष्ठाता की आवश्यकता है।

वास्तु-कार्य इस देश में धार्मिक कार्य के रूप में प्रकल्पित हुआ, अतएव स्थपति के अतिरिक्त स्थापक-आचार्य, भवन-स्वामी-यजमान तथा ज्योतिषी पुरोहित—ये तीनों मिल-कर वास्तु-कार्य के प्रारम्भ मे वास्तु-पद के अधिष्ठातृ-देव वास्तु-पुरुष एवं विभिन्न वास्तु-पदों के अधिपति देवों का आवाहन करते हैं। अतएव किसी भी भवन-कार्य का वास्तु-पूजन एक अनिवार्य अंग हो गया है।

वास्तु-पद एवं वास्तु-पुरुष की इस प्राचीन परम्परा पर इस किंचित्कर उपोद्घात के उपरान्त वास्तु शास्त्र में इसका क्या महत्व है यह समझना आवश्यक है। सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों मे वास्तु-सिद्धातों के विवेचन मे वास्तु-पद-विन्यास को प्रथम स्थान दिया गया है। भवन-कार्य, निवेश-योजना एव निर्माण-प्रक्रिया—दोनो ही है। आजकल भवन की निवेश-योजना इंजीनियर लोग करते हैं। प्राचीन स्थपति राज और इंजीनियर दोनो ही था। अतः वास्तु-पद-विन्यास को हम एक मोटे ढंग से भवन का रेखाचित्र समझ सकते हैं।

इस पद-विन्यास का विशेष सम्बन्ध नगर-गत विभिन्न स्थानों एवं दिङ्मुखों मे निवेश्य देवालयों, राजालयों, विद्यालयों, सभालयों, वर्णानुसार भवनों, कर्मानुसार कार्यालयों एव कर्मचारियों की वसतियों की सन्निवेश व्यवस्था से ही नहीं है वरन् पुर-मार्गों का सन्निवेश भी इस पद-विन्यास का एक अंग है।

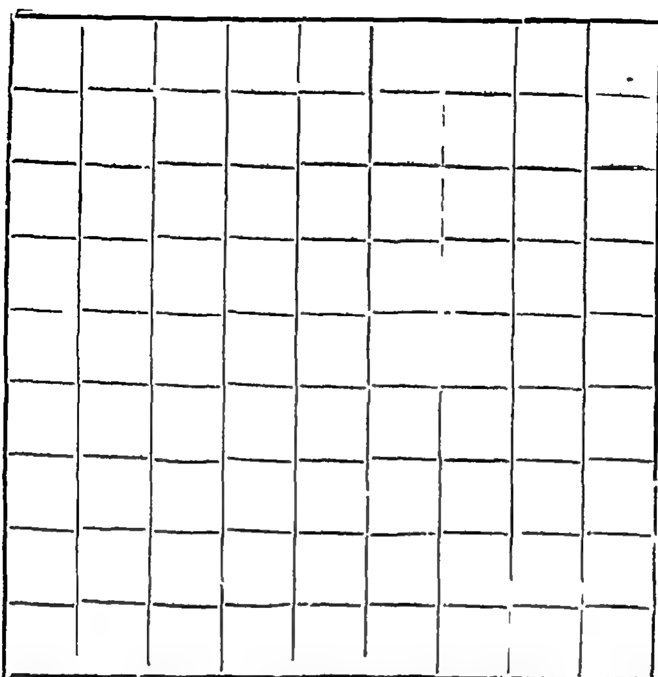
अतः शास्त्रों मे नगर-निवेश के प्रारम्भिक-पर्यवेक्षण के उपरान्त ही इस अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर विवेचन है और उसका सम्बन्ध धार्मिक तथा पौराणिक रीति मे किया

गया है (जैसा कि आगे एतत्सम्बन्धी समीक्षा से प्रकट ही होगा) तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध नगर-गत भवन-निवेश प्रक्रिया से सम्बन्ध होने के कारण भू-परीक्षा एवं भूचयन के उपरान्त वास्तु-पद-विन्यास का अवसर आता है। पुरनिवेश में वास्तु-पद विन्यास-प्रक्रिया से निवेश्यपुर के विभिन्न-कोटिक मार्गों, उपमार्गों आदि की योजना के साथ-साथ पुर की विभिन्न निवेश-योजनाओं राजवेश्म, देवनायतन—जनावास के स्थान-विभाग प्रकल्पित किये जाते हैं। इसी प्रकार भवन अथवा प्रासाद के वास्तु-पद-विन्यास में उसके पद (प्लाट) एवं उस पर प्रतिष्ठित विभिन्न भवनाङ्ग अथवा प्रासादाङ्ग अपने उपाङ्गों के साथ परिकल्पित किये जाते हैं। अतः पद-विन्यास यथार्थतः निवेश्य भूमि का विभाजन है। यह विभाजन कैसे किया जाय ? उसके कितने प्रकार हैं ? उसकी अन्य व्यवस्थायें क्या हैं—इन्हीं सबका उत्तर वास्तु-पद-विन्यास-प्रक्रिया है।

वास्तु-पदविन्यास एवं वास्तु-पुरुष प्रकल्पन समराङ्गण के अनुसार अष्टाङ्ग-स्थापत्य का प्रथम अङ्ग है। सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में भारतीय वास्तु-विद्या की इस अनिवार्य परम्परा पर प्रवचन किया गया है। स. सू. में इस विषय पर पाँच अध्याय हैं—(देखिये स. सू. की सुसम्बद्धा विषयानुक्रमणी)। इनमें से पाँचवें अध्याय (स. सू. ३८) में जिन ४० वास्तु-संस्थान-मातृकाओं का पीछे के अध्याय (३) में उल्लेख किया गया है वह इस ग्रंथ की अपनी विशेषता है। इन वास्तु-पदों का सम्बन्ध धार्मिक न होकर भौतिक है। वास्तु-पदों की यह भौतिक-प्रकल्पना वास्तुशास्त्र के भौतिक अंग secular or civil architecture के विकास में एक आगे की सीढ़ी है। इसकी विशेष समीक्षा भवन-पटल में होगी।

अब रहे ४ अध्याय उनमें परम्परागत वास्तु-पदविन्यास का वर्णन है। विभिन्न वास्तु-ग्रंथों में वास्तु-पदों की विभिन्न संज्ञायें दी गई हैं, परन्तु उनमें से तीन ही—एकाशीति पदवास्तु (८१ चौकोर पदों की निवेश्य भूमि) चतुष्षष्ठि-पदवास्तु (६४ पदों वाला प्लाट) तथा शतपद-वास्तु (१०० पदों वाली भूमि) प्रसिद्ध हैं।

निवेश्य-भूमि को प्रथम विभिन्न-संख्यक चौकोर पदों में विभाजित किया जाता है। मानसार के अनुसार (अ० ७) इस विभाजन की ३२ पद्धतियाँ हैं। इनके अनुसार निवेश्य-भूमि को विभिन्न-संख्यक वर्गों में विभाजित किया जाता है। इनकी संज्ञाओं का आधार उन वर्गों की संख्या है जिनमें वह निवेश्य स्थल विभाजित किया जाता है। अथच प्रत्येक वर्ग-पद्धति की इस प्रकार संयोजना की गई है कि विभाज्य टुकड़ों की संख्या विभाज्य वर्ग की क्रमिक संख्या का प्रतिनिधि होता है। जैसे ८१ पद वाले वास्तुपद में १० आयताकार समानान्तर रेखायें तथा १० (transverse) रेखायें, यदि हम निम्नरूप में खींचें तो इस पद में ८१ टुकड़े निकलेंगे, वे सभी वर्ग होंगे अतः उनकी अपनी सम्पूर्ण संख्या से इस वास्तुपद का नाम ८१ पदवाला वास्तु हुआ। ८१ पद-वास्तुपद का निम्न रेखाचित्र इस तथ्य को स्पष्ट करता है—



इसी प्रकार २ से लगाकर ३२ प्रकार के वास्तुपद अथवा पुरनक्शे, भवननक्शे, प्रासादनक्शे तैय्यार हो सकते हैं। इन्हीं रेखाचित्रों को आधार मानकर वास्तु-कार्य प्रारम्भ किया जाता था।

इन वास्तु-पद योजनाओं को आज-कल की भाषा में साइटप्लान्स के नाम से पुकारा जा सकता है। इन में से एक आदर्श प्लान लेकर हमें इसकी सविस्तर समीक्षा करनी है, जिससे भारतीय वास्तु-पद-विन्यास-प्रक्रिया समझने में सुबोध हो जाय।

एकाशीतिपद-वास्तु

इस वास्तुपद में जैसा ऊपर के रेखाचित्र में संकेत किया गया है ८१ वर्ग-टुकड़े हैं। इनमें से प्रत्येक की संज्ञा पद' मानी गई है और उसका एक अधिष्ठातृ देव प्रकल्पित किया गया है। यह पद-विन्यास आधुनिक भवन-रेखा चित्र (House Plan) अथवा पुर-रेखाचित्र (Town-Plan) के सदृश प्राचीन स्थपतियों के लिये निवेश-योजना में बड़ा ही सौकर्य एवं सौविध्य प्रदान करता था। उदाहरण के लिये इस पदविन्यास में अथवा किसी भी पद विन्यास-पद्धति में केन्द्रस्थान का स्वामी ब्रह्मा होता है। अतः उसे 'ब्रह्मपद की संज्ञा दी गई है। अत यदि शास्त्र में ऐसा निर्देश मिले कि ब्रह्मपद पर अमुक भवन इ' का निवेश करना चाहिये, तो सीधी भाषा में उसका अर्थ होगा कि ८१ पदवाले प्लाट में नवपदिक ब्रह्मपद पर निर्माण अभिप्रेत है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पदविन्यास के अपने अपने पदों के स्वामि-देवों के संकेत से यह सम्पूर्ण पद-व्यवस्था सहज बोधगम्य हो जाती है। निवेश्य-भूमि की चार प्रधान दिशाओं एवं चार उपदिशाओं तथा केन्द्र एवं मध्यभाग में कहा पर कैसा निवेश करना है—क्या छोड़ना है—यह सब बड़ा ही बोधगम्य बन जाता है।

पदविन्यास की प्रक्रिया व पददेवों के सम्बन्ध में एक दो शब्दों को और समझ लेना चाहिये। (पदिक) अथवा (पदभुज) से संकेत एक वर्ग के अधिपति देव से है। द्विपदिक अथवा द्विपदाधीश का अर्थ उस देव से है जो दो वर्गों का स्वामी है। इसी प्रकार षट्पद-भुज अथवा षट्पदाधीश से ६ वर्गों का स्वामी विहित है।

प्रधानतया वास्तुपद-देवों को हम दो कोटियों में बाँट सकते हैं—अन्तः संश्रयदेवा. (वर्ग के मध्य तथा मध्यकोण के पदों के स्वामि-देवता), बहिःस्थदेवाः (वर्ग के बाहर के देवता)। स० सू० के अनुसार प्रत्येक वास्तुपद-विन्यास में (विशेषकर ६४, ८१ तथा १०० पद वालों में) ४५ देव विहित हैं जिनकी एकाशीति-पदवास्तु में निम्न रूप से प्रतिष्ठा प्रतिपादित की गई है:—

भीतरी देवता

अ. केन्द्राधिपति	१.	ब्रह्मा	नवपदिक	९
ब. मध्यस्थदेव	२	अर्यमा (पूर्व)	षट्पदिक	
	३.	विवस्वान् (दक्षिण)	,,	
	४.	मित्र (पश्चिम)	,,	
	५.	पृथ्वीधर (उत्तर)	,,	२४

स. मध्यस्थ कोणों के देव

६—सविता	एकपदिक	
७—सावित्री	,,	
८—जय	,,	
९—इन्द्र	,,	
१०—यक्ष्मा	,,	
११—रुद्र	,,	
१२—आप	,,	
१३—आपवत्स	,,	८

बाहरी देवता

१४ अग्नि	१५ पर्जन्य	* १६ जयन्त	१७ इन्द्र	३२+८=४०
१८ रवि	१९ सत्य	* २० भृश	२१ नभ	योग=८१
२२ अनिल	२३ पूषा	* २४ वितथ	२५ गृहक्षत	
२६ यम	२७ गन्धर्व	* २८ भृङ्गराज	२९ मृग	
३० पितृगण	३१ दौवारिक	* ३२ सुग्रीव	३३ पुष्पदन्त	
३४ वरुण	३५ असुर	* ३६ शोष	३७ पापयक्ष्मा	
३८ रोग	३९ नाग	* ४० मुख्य	४१ भल्लाट	
४२ सोम	४३ चरक	* ४४ अदिति	४५ दिति	

टि० १—इनमें पुष्पाङ्कित देवता द्विपदाधीश हैं। अर्थात् जयन्त, भृश वितथ, भृङ्गराज, सुग्रीव, शोष मुख्य तथा अदिति—ये आठ देवता बहिःस्थ तो हैं ही भीतर पुनः एक एक पद का और भोग करते हैं—प्रभुता रखते हैं।

टि० २—भीतरी १३ तथा बाहरी ३२—इन ४५ देवों के अतिरिक्त चरकी, विदारी, पूतना तथा पापराक्षसी ये चार ऐशान्य, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोणों में क्रमशः स्थित बतायी गयी हैं। इन का स्थान-मात्र है पद्भोग नहीं। अस्तु, निम्न लिखित रेखा चित्रों से इन सभी की स्थिति स्पष्ट समझ में आ सकती है:—

परमशायिक

वायव्य — उत्तर — ईशान

पश्चिम (बायें) — पूर्व (दायें)

पापराक्षसी रोग	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	अदिति	दिति	(चरकी) अग्नि
पापयक्ष्मा	रुद्र			पृथ्वीधर			आपवत्स	पर्जन्य
शोष →		राजयक्ष्मा		षट्पदिक		आप	←	जयन्त
असुर								इन्द्र
वरुण	मित्र (षट्पदिक)			ब्रह्मा नवपदिक		अर्यमा (षट्पदिक)		रवि
पुष्पदन्त								सत्य
सुग्रीव →		जय		विवस्वान्		सविता	←	भृश
दौवारिक	इन्द्र			षट्पदिक			सावित्री	नभ
पितृगण (पूतना)	मृग	भृंगराज	गंधर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	पूषा	अनिल (विदारी)

नैर्ऋत्य — दक्षिण — आग्नेय

इसी प्रकार 'चतुष्षष्टिपद-वास्तु' तथा शतपद-वास्तु की प्रकल्पना की जा सकती है। संक्षेप में इन दोनों पर भी थोड़ा सा विवेचन होना चाहिये।

आसन अथवा शतपद

पृथ्वीधर
अष्टपद

मित्र
अष्टपद

ब्रह्मा
षोडशपद

अर्यमा
अष्टपद

विवस्वान
अष्टपद

शतपद-वास्तु का पद-देवता-विभाजन निम्नलिखित बोधव्य है:—

अ.	१ केन्द्राधिपति-ब्रह्मा	=	१६	पद	=	१६
ब.	४ मध्यस्थदेव-अर्यमादि	४=	८×४	,,	=	३२
स.	८ मध्यकोणस्थ-(यथा एकाशीति पद-वास्तु में)	=	१×८	,,	=	८
य.	८ बाह्य-कोणस्थ-अग्नि, नभ, वायु, मृग, पितृ, द्रव, रोग तथा दिति	=	१½×८	,,	=	१२
र.	८ पर्जन्यादि (यथा चतुष्पष्ठि-पद-वास्तु)	=	२×८		=	१६
ल.	१६ शेषबाह्य देव	=	१×१६		=	१६
	४५					१००

भेकपद अथवा (चण्डित)

पृथ्वीधर
द्विपदिक

मित्र
द्विपदिक

ब्रह्मा
चतुष्पद

अर्यमा
द्विपदिक

विवस्वान
द्विपदिक

वास्तु पद-प्रयोग

'भेकपद' अथवा 'चण्डित' नामक इस ६४ पदवाले प्लाट का देवपद-भोग निम्न रूप से समझना चाहिये :—

अ.	१ केन्द्राधिपति—ब्रह्मा	=	४	पद	=	४
ब	४ मध्यस्थ देव—अर्यमादि चारदेव	=	२×४	,,	=	८
स.	१६ मध्य कोणस्थ (८) तथा वाह्य पर्यन्तस्थ (८)	=	½×१६	,,	=	८
य.	८ वाह्यदेव—पर्जन्य, मृश, पूषा, भृङ्ग दौवारिक, शेष-नाग तथा अदिति	=	१½×८		=	१२
र	१६ जयन्तादि चरकात शेष वाह्यदेव	=	२×१६		=	३२
	४५					६४

वास्तुपद-प्रयोग

समराङ्गण के अनुसार—(अ० १३. ३-५,) एकाशीतिपदिक वास्तु-पद पर वर्णियों (ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य आदि) के भवनों के साथ-साथ राजा का राज-प्रासाद एवं भूपतियों के आधिपत्य-प्रतीक-देव स्वर्गपति इन्द्र के प्रासाद (इन्द्र-स्थान) का निर्माण करना चाहिये।

देव-प्रासादों (विभिन्न देवों एवं देवियों के मन्दिरों) तथा उनके संवृत (संयुक्त) अथवा विवृत (पृथक्) दोनों प्रकार के मण्डपों के निर्माण में 'शतपद-वास्तु, का प्रयोग करना चाहिये।

अथच ग्रामों, पुरों एवं उनके विभिन्न प्रभेदों के साथ-साथ राजाओं के शिविरों (नरेन्द्र-शिविर—देखिये पीछे शिविरपुर का प्रभेद पु० नि० पृ० पी० अ० ३।

वास्तुपुरुष

प्रमुख वास्तु-पदों एवं उनके अधिपति-देववर्गों के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब उन सबके अधिष्ठातृ-देव वास्तु-पुरुष की भी वास्तु-प्रतिष्ठा प्रतिपाद्य है। समराङ्गण के अष्टाग-लक्षण, नामक ४५ वें अध्याय के अनुसार वास्तु-पुरुष-विकल्पन स्थापत्य का प्रथम अंग है, अतः निवेश्य-पद पर वास्तु-पुरुष-प्रतिष्ठा स्थपति की प्रथम योग्यता है।

वास्तु-पुरुष समस्त पद का स्वामी है। वास्तु-पुरुष का यथानाम पुमाकृति में प्रकल्पन करना चाहिये। (स. सू. १४.१)। उसकी वास्तु-आकृति वक्र बतायी गयी है और पृष्ठ उठा हुआ (hump backed) अतः उसकी इस प्रकार से प्रतिष्ठा करनी चाहिये कि उसका समस्त निवेश्य-पद पर विन्यास हो सके। इस प्रकार विभिन्न पदों के अधिपति-देव वास्तु-पुरुष के विभिन्न अंगों के अधिपति बन जाते हैं अथवा वास्तु-पुरुष रूपी प्रकाण्ड तरु की वे "सब तना (ब्रह्मा) स्कन्ध अथवा बड़ी और मोटी शाखायें (अर्यमादि ४ देव) एवं क्षुद्र शाखायें अन्य देव-मात्र हैं। वास्तु-पुरुष एवं वास्तु-पद-देवों की इन भावना में औपनिषदिक—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—की महाभावना का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।

अस्तु। वास्तु पुरुष के विभिन्न अंगों पर भावित देवों की तालिका निम्न लिखित है:—

शिर—अग्नि
नेत्र-द्वय—दिति एवं अम्बुदाधिप
कर्ण-द्वय—जयन्त एव अदिति
मुख—वायु
दक्षिण भुज—अर्क , रवि)
वामभुज—सोम
वक्षःस्थल—महेन्द्र, चरक, आप एवं आपवत्स
दक्षिणस्तन—अर्यमा
वामस्तन—पृथिवीधर
दक्षिणबाहु—सत्य, भृश, नभ, वायु एवं पूषा
वामबाहु—यक्ष्मा, रोग, नाग, मुख्य एवं भल्लाट
करकोष्ठिस्थ—(दोनों हथेलियां) सावित्र, सविता, रुद्र तथा राजयक्ष्मा

हृदय—ब्रह्मा
बगल (दक्षिण) वितथ तथा गृह-क्षत
,, (वाम) शोष तथा असुर
उदर—मित्र एवं विवस्वान्
मेढ़-मध्य—इन्द्र एवं जय
ऊरू—यम एवं वरुण (दक्षिण तथा वाम)
जंघायें—गन्धर्व, भृंग तथा मृग
चरण—दौवारिक, सुग्रीव एवं पुष्पदन्त

यहा पर एक विशेष तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षणीय है। 'समराङ्गण-सूत्रधार' वास्तु-शास्त्र का ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें इन पददेवों का 'निघण्टु' भी दिया गया है। इसका क्या मर्म है—इस पर हम आगे विचार करेंगे। प्रथम इस 'निघण्टु' की निम्न अवतारणा कर देना आवश्यक है:—

ब्रह्मा	= अब्जसंभव, सहस्रानन, अचिंत्य-विभव
वह्नि	= सर्वभूतहर, हर
पर्जन्य	= वृष्टिमान्, अम्बुदाधिप
जयन्त	= काश्यप भगवान्
महेन्द्र	= सुराधिश, सुराधीश, दनुजों के विमर्दक
विवस्वान्	= अहस्कर
सत्य	= भूतहित, धर्म
भृश	= काम, मन्मथ
अन्तरिक्ष (नभ)	= नभस्
मारुतः (अनिल)	= वायु
पूषा	= मातृगण
वितथ	= अधर्म, कलि का अप्रतिम सुत
गृहक्षत	= चन्द्रतनय, बुध
यम	= प्रेताधिप, विवस्वान् के पुत्र
गन्धर्व	= नारद
भृङ्गराज	= निर्ऋति के पुत्र
मृग	= अनन्त, स्वयंभू-धर्म
पितृगण	= पितृलोक निवासी देवगण
दौवारिक	= नन्दी, प्रमथों के अधीश्वर
सुग्रीव	= आदि प्रजापति मनु
पुष्पदन्त	= महाजव, वैनतेय
वरुण	= जलनाथ, लोकपाल
असुर	= राहु-अर्केन्दुमर्दन-सिंहिकासुत
शोप	= सूर्यपुत्र-शनैश्चर

पापयक्ष्मा	= क्षय
रोग	= ज्वर
नाग	= वासुकि
मुख्य	= त्वष्टा, विश्वकर्मा
भल्लाट	= चन्द्र
सोम	= कुवेर
चरक	= व्यवसाय
अदिति	= श्री
दिति	= ?
रुद्र (शूलभृत्)	= वृषभध्वज
आप	= हिमवान्
आपवत्स	= उमा
अर्यमा	= आदित्य
सावित्र	= वेदमाता
सवितृ	= देवीगंगा
विवस्वान्	= मृत्यु, शरीरहर्ता
जय	= वज्री
इन्द्र	= वलवान् हरि
मित्र	= हलधर, माली
रुद्र	= महेश्वर
राजयक्ष्मा	= गुह
क्षितिध्र	= अनन्त
चरकी, विदारी पूतना तथा पापराक्षसी	= रक्षयोनिभवा देवानुचरियां

पीछे संकेत किया गया है कि इन विभिन्न-वर्गीय देवों की प्रतिष्ठा एवं वास्तु-पुरुष की इस प्रकल्पना में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मर्म निहित है। हिंदुओं के सभी कृत्य देव-भावना से अनुप्राणित हैं। देवभावना—'शिव-भावना' कल्याण—सुख—ऐश्वर्य की भावना का प्रतीक है। प्रकृति का यह विशाल साम्राज्य ही देव-राज्य है। प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत एवं प्रदत्त ऐश्वर्य को हम किस प्रकार से भोग कर सकते हैं—इसीलिये यह सब विधान एवं विधेय प्राचीनों ने प्रस्तुत किये हैं।

कोई भी निवेश्य (भवन, पुर अथवा, प्रासाद) जब तक दिक्-साम्मुख्य के आधार-भूत सिद्धांत का पूर्ण अनुगमन नहीं करता, तब तक वह सुख एवं कल्याण का विधायक नहीं बन सकता। अतएव हमारे पारदर्शी शास्त्रकारों ने (जिनमें वास्तु-शास्त्रकार भी सम्मिलित हैं) इस दिक्-साम्मुख्य के सम्पादनार्थ इस प्रक्रिया को धार्मिक रूप देकर अनिवार्य वास्तु-कृत्य बना दिया है। मानव-जीवन में विशेषकर भारतीय आर्य-जीवन में

सूर्य की उपासना अथवा सूर्य-रश्मियों के स्वछन्द समुपभोग के लिये सनातन से ध्यान रक्खा गया है। सूर्य-रश्मियों का स्वच्छंद उपयोग तभी मिल सकता है जब हम अपने प्रत्येक निवेश्य को पूर्वाभिमुखीन पूर्णरूप से कर सकें। दिक्साम्मुख्य अथवा पूर्वाभिमुखत्व की यह अनिवार्य परम्परा ने ही वास्तु-शास्त्र में वास्तु-पदों की सृष्टि की।

सूर्य की विभिन्न जीवनोपयोगी रश्मियों का वैज्ञानिकों ने पता लगाया है। हमारे पूर्वजों ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से इन जीवन-दायक रश्मियों का बहुत पहिले ही पता लगा लिया था अतएव उन्होंने सूर्य-रश्मियों के निर्बाध सेवनार्थ मनुष्यों की तीन प्रधान आवश्यकताओं में प्रमुख आवश्यकता—आवास को इस प्रकार से नियंत्रित कर दिया जिससे यह रश्मिभोग सहज एवं नैसर्गिक बन जावे। पद-विन्यास का स्थूल रूप में यही मर्म है। विशेष छान-बीन श्री पोपट भाई अम्बाशंकर मानकद ने 'अपराजित पृच्छा की भूमिका में की है—वह वहीं द्रष्टव्य है।

'पद-विन्यास' के सम्बन्ध में एक और तथ्य रह गया है जिसका समुद्घाटन भी अभिप्रेत है। वह इसी उपर्युक्त सिद्धात का एक प्रकार से सहायक सिद्धात है। दिक्-साम्मुख्य के साथ-साथ [illegible]त्येक पद का इस प्रकार से निवेश हो कि वह स्वच्छंद उपभोग का स[illegible] बन [illegible]मान्, अतः इस पद-विन्यास में प्रकल्पित वास्तु-पुरुष के जो मर्म बताये गये हैं उनका पीड़न कदापि नहीं होना चाहिये। अर्थात् मर्मस्थानों पर दरवाजे आदि दीवालें आदि नहीं बनानी चाहिये। स० सू० के तेरहवें अध्याय (मर्मवेध) का यही मर्म है।

वास्तु-पुरुष के ६ महामर्म हैं:—मुख, हृद्, नाभि, मूर्धा तथा दोनों स्तन। अथच जो उसकी नसें (सिरा, वंश, अनुवंश, सम्पात आदि) हैं उन्हें मर्म कहा गया है। इनका पीड़न बचाना चाहिये।

भवन के किस अंग अथवा किस द्रव्य-विशेष या रचना-विशेष के पीड़न से कौन-कौन अशुभ आपतित होते हैं—इनके सविस्तर विवरण इस अध्याय में दिये गये हैं—उनका विस्तारभय से उल्लेख न कर अन्त में इतना ही संकेत पर्याप्त है कि भवन का प्रत्येक निवेश एवं उसकी प्रत्येक रचना को रेखा-चित्र में पहले ही विचार कर लेना चाहिये।

४

मार्ग-विनिवेश

पुर-निवेश में स्थापत्य का परमकौशल मार्ग-विनिवेश है। मार्गों का निवेश न केवल पुर की विभिन्न-वर्गीय आवास-मालिकाओं के विभाजन के लिये ही आवश्यक है, वरन् नगर का जनपद के साथ सम्बन्ध-स्थापन के लिये भी वह कम उपादेय नहीं है। तीसरे मार्ग-विनिवेश का परम प्रयोजन दिक्-साम्मुख्य वास्तु-कला के आधारभूत सिद्धात के अनुरूप प्रत्येक वसती के लिये सूर्य-किरणों का उपभोग एवं प्रकाश तथा वायु का स्वच्छन्द सेवन भी कम अभिप्रेत नहीं है। चौथे मार्गों का विनिवेश इस प्रकार हो कि प्रधान मार्ग पुर के मध्य से दौड़ रहे हों। प्रधान-मार्गों—राजमार्गों पर ही नगर के केन्द्र-भवन राजहर्म्य, सभा, मण्डप, देवतायतन एवं प्रधान पण्यवीथी निविष्ट की जाती है। पाचवें मार्ग-विनिवेश में संचार-सौकर्य के लिये मार्गों की चौड़ाई आदि भी कम अपेक्षित नहीं है। अथच मार्गों की कितनी संख्या हो—यह तो पुर पर आश्रित है। एक राजधानी-नगर की मार्ग-संख्या साधारण नगर की मार्ग-संख्या से सहज ही अधिक होगी। शुक्राचार्य ने स्पष्ट लिखा है:—

"पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् सुबहून् कल्पयेन्नृपः"

अर्थात् राजमार्गों की संख्या पुर की आवश्यकतानुरूप होनी चाहिये। समराङ्गण में जैसा हम अभी देखेंगे एक आदर्श नगर के लिये कम से कम सत्तरह २ मार्ग पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर दौड़ने चाहिये। राजवल्लभ (अ० ४) में भी इसी संख्या का समर्थन है—प्रधाननगर १७, १७ सामान्य अर्थात् मध्यम नगर १३, १३ तथा कनिष्ठ अथवा निकृष्ट में ९, ९। मयमत (अ० १०) के अनुसार पुर की विभिन्न मर्यादाओं के अनुसार क्रमशः सम संख्या १२—१२, १०—१०, ८—८, ६—६, ४—४, अथवा २—२, विषम संख्या ११—११, ९—९ ७—७, ५—५, ३—३, अथवा १—संख्या ही विहित हैं।

समराङ्गण के अनुसार एक आदर्श नगर में ३४ मार्ग पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर विनिविष्ट करना चाहिये। मार्ग-विनिवेश का आधारभूत सिद्धान्त दिक्-साम्मुख्य (Orientation) था। मार्गों का इस प्रकार से विनिवेश करना चाहिये, जिससे नगर की भीतरी और बाहरी दोनों ही विभिन्नकोटिक निवेश-योजनायें सम्पन्न हो सकें। विभिन्न प्रकार की वसतियों, जनभवनों, राजभवनों, मन्दिरों, उद्यान, तडाग, पुरजन-विहार, क्रीडा-क्षेत्र आदि की निवेश योजना में स्वास्थ्यप्रद वातावरण, सूर्य का प्रकाश तथा वायु का स्वच्छन्द संचार सुलभ हो सके।

वास्तु-पद-योजना एवं मार्ग-विनिवेश का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है—इस तथ्य का संकेत किया ही जा चुका है। मार्गों में पहला स्थान राजमार्ग का है। इसका निवेश पद

के मध्यवंश पर बताया गया है। इसकी चौड़ाई का प्रमाण ज्येष्ठ, मध्य एवं कनिष्ठ त्रिविध पुर-प्रभेदों के अनुसार २४, २०, १६ हस्त (३६, ३०, २४ फीट) क्रमशः होना चाहिये। इसका विस्तार पूर्ण होना चाहिये जिससे पदातियों, विशेषकर चतुरङ्गिणी सेना, राजसी जलूस तथा नागरिकों के सौविध्यपूर्ण संचार में किसी प्रकार की रुकावट न हो। यह केन्द्रमार्ग, जिसकी संज्ञा राज-मार्ग है, पक्का बनाना चाहिये (काश्म शर्कर)।

राजमार्ग के उपरान्त महारथ्याओं का अवसर आता है। वैसे तो शाब्दिक अर्थ से ये मार्ग रथों आदि यानों के सुविधापूर्ण संचार के लिये बनाये जाते थे—परन्तु वास्तव मे महारथ्याओं से तात्पर्य उन महामार्गों से है जो नगर को जनपद से जोड़ते थे। समराङ्गण के अनुसार एक आदर्श पुर में कम से कम दो महारथ्यायें अवश्य होनी चाहिये जो पुर के बाहर जनपद-महामार्गों में अनुस्यूत हो जायें। इन दोनों महारथ्याओं की चौड़ाई का प्रमाण १२, १० तथा ८ हस्त (१८, १५, १२ फीट) ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ पुर-प्रभेद से क्रमशः बताया गया है। वास्तुपद-विन्यास की प्रक्रिया के अनुसार इनकी स्थापना उपान्तस्थ वंश पर प्रतिष्ठित की गई है।

राजमार्ग एवं दो महारथ्याओं की निवेश-योजना के उपरान्त चार यान -मार्गों की योजना आवश्यक है, पुर के अभ्यन्तर प्रदेश में भी यानों का संचार हो सके। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यद्यपि इनकी संज्ञा यान-मार्ग है परन्तु इनकी चौड़ाई का प्रमाण केवल ४ हस्त (६ फीट) ही सब प्रकार के उत्तम, मध्यम एवं अधम पुरों में सर्वसाधारण बतायी गई है। प्राचीन नगरियों के जो निदर्शन आज भी देखने को मिलते हैं उन सब में राजपथ के अतिरिक्त अन्य पथों की संकीर्णता देखकर इस लघुप्रमाण पर आश्चर्य नहीं हो सकता। प्राचीन नगर दुर्गों की भाँति विनिविष्ट होते थे। अतः रक्षा के इस परम प्रयोजन के कारण ही सम्भवतः स्थानाभाव से यह क्षुद्र प्रमाण परिकल्पित किया गया है। इस मार्ग की प्रतिष्ठा पद-मध्य-गत प्रतिपादित की गई है। संतोष इस बात से है कि समराङ्गण ने इन मार्गों में पदातियों का संचरण ही कठिन न हो जाय अत. यह निर्देश दिया हैं कि प्रत्येक यानमार्ग के दोनों तरफ जंघापथ बनाने चाहिये। इनको हम आज की भाषा में फुट-पाथ के नाम से पुकार सकते है और इनके क्रमिक्र चौड़ाई के प्रमाण ३, २½, २ हस्त (४½, ३¾ तथा ३ फीट) है।

इस प्रकार एक राजमार्ग, दो महारथ्याओं, चार यान-मार्ग, तथा आठ जंघापथ, कुल १५ मार्गों की निवेश-योजना के उपरान्त, अब पुर के केवल दो अत्यन्त महत्व पूर्ण मार्गों का निर्देश शेष रह जाता है। इनको 'घंटामार्ग' के नाम पुकारा गया है। घंटामार्ग की यह संज्ञा सम्भवतः हाथियों के घंटों से दी गई है। इनकी योजना के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि ये प्राकार-भित्ति (परकोटा) से मिले हुए हों। इस प्रकार ये नगर की वमती के चारों ओर फैले होते हैं। घंटामार्ग राजमार्ग के समान ही सर्वगुणसम्पन्न प्रतिपादित किये गये हैं।

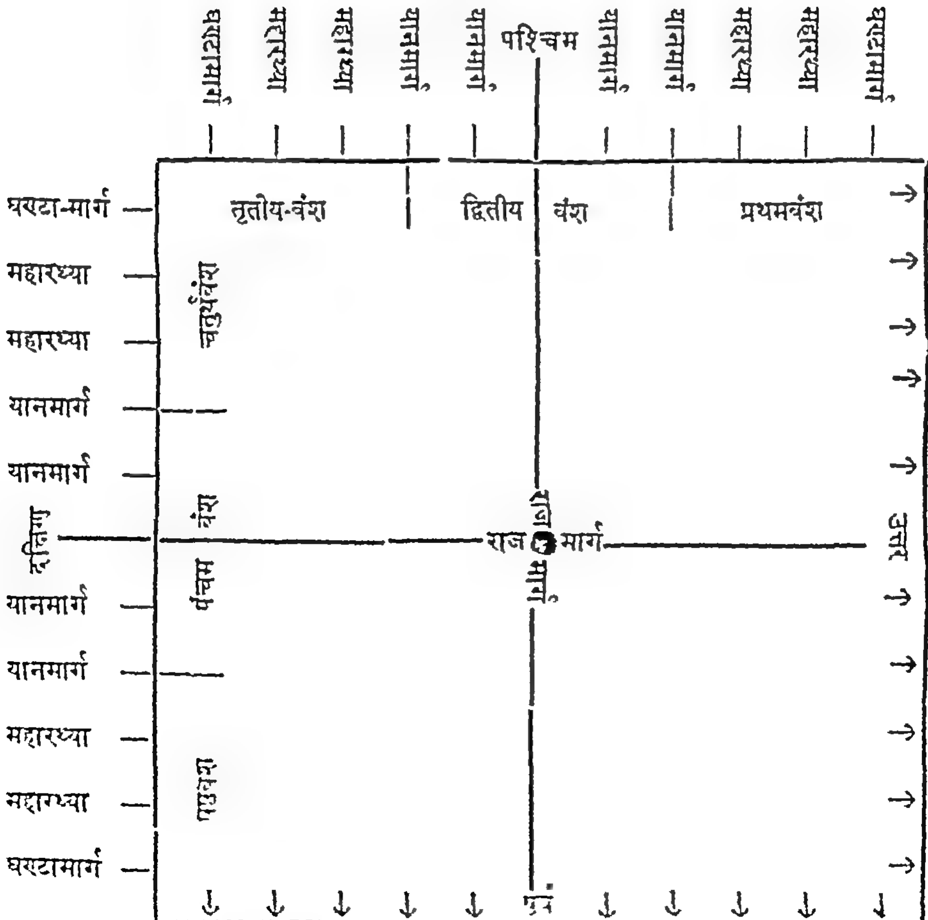
इस प्रकार १७ मार्ग हुये। जैसा कि पूर्व संकेत किया जा चुका है कि ये मार्ग पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर दौड़ते हैं। ऊपर की मार्ग-विनिवेश-योजना पूर्व से पश्चिम समझनी चाहिये। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर भी सभी कोटि के ये मार्ग विनिविष्ट करना चाहिये। इसी प्रकार पुर के पूरे मार्गों की संख्या चौंतीस हुई।

ये चौंतीस मार्ग प्रमुख मार्ग हैं। इनके अतिरिक्त नगर के अभ्यन्तर प्रदेशों में बस्ती में दूसरे को पृथक् करने के लिये, सूर्य-रश्मियों के स्फुट-प्रकाश, समीर के स्वच्छन्द उपभोग, एवं यातायात की सुविधा तथा सरलता की दृष्टि से समराङ्गण के अनुसार इतस्ततः सर्वत्र रथ्याओं एवं उपरथ्याओं (Street, lanes and bye-lanes) का भी निवेश अनिवार्य है। इनमें से जो बड़ी हैं, उनकी चौड़ाई। महामार्ग अर्थात् राजमार्ग की चौड़ाई से आधी होनी चाहिये और जो छोटी हैं उनकी चौथाई। इस प्रकार जहाँ राजमार्ग, महारथ्यायें एवं यानमार्ग तथा घंटापथ पुर की वाह्य निवेश-योजना के आधार हैं वहा ये रथ्यायें एवं उपरथ्यायें पुर के आन्तरिक निवेश में सहायक बनते हैं। ये ही उपमार्ग पुर को मुहल्लों मे बाँटते हैं।

निम्न रेखा चित्र देखिये :—

पुर के प्रधान मार्ग

('चण्डित' पर)



टि०:—पूर्व से पश्चिम दौड़ने वाले ये प्रधान ११ मार्ग हैं.—१ राज-मार्ग, ४ महा-

रथ्यायें, ४ यान-मार्ग तथा २ घंटा-मार्ग। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर इतने ही मार्ग दौड़ते हैं। इस चित्र मे यान-मार्ग के पर्यन्तस्थ जंघापथों एवं अन्य रथ्याओं तथा उप-रथ्याओं को नही दिखाया गया है। वैसे तो स० सू० के अनुसार (अ० ५) पुर के मार्गों की संख्या १७-१७ है।

पुरनिवेश के प्रमुख सिद्धान्त (Canons) मार्ग-विनिवेश की इस स्थूल रूपरेखा के उपरान्त इस विषय की थोड़ी सी समीक्षा आवश्यक है। पर्यन्तस्थ रेखाचित्र पृ० १६१ में प्रधान मार्गों की रेखाओं से प्रकट है कि वे सभी पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर दौड़ती हुई एक आयताकार चेस बोर्ड बनाती हैं। अर्थात् ये सभी मार्ग-रेखायें समानान्तर होने के कारण एक दूसरे को समकोण पर काटती है। मार्ग-विनिवेश की यह पद्धति आजकल भी एक प्रतिष्ठित पद्धति है। इस पद्धति का एक सुन्दर एवं ज्वलन्त उदाहरण राजस्थान की प्रसिद्ध राजधानी जयपुर है। महाराज जयसिंह जिनके नाम से इस नगर का जयपुर नाम पड़ा स्वयं एक ज्योतिषी थे। ज्योतिर्विदों एवं वास्तु-विद्या-विशारदों के घनिष्ठ सम्बन्ध पर संकेत किया जा चुका है। अत. महाराज ने प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में प्रतिपादित पुरनिवेश के सिद्धान्तों के अनुरूप ही इस महापुरी की स्थापना की। भारतीय वास्तु-शास्त्र के दिक्साम्मुख्य सिद्धान्त से हम परिचित ही हैं। अतः भारत के पुर निवेशक (Town planners.) स्थपति दिक्साम्मुख्य का बड़ा ही ध्यान रखते थे। कोई भी वास्तु-निर्मिति दिङ्मण्डल के diagonal points of heavens की ओर नहीं होनी चाहिये। इसी सिद्धान्त के अनुसार इस राजधानी नगर मे axially दिङ्मण्डल की चारो दिशाओ से साम्मुख्य-स्थापन के लिये सभी प्रधान मार्ग सीधे पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर विनिविष्ट किये गये हैं। प्राचीन वास्तु-शास्त्र की पारिभाषिक भाषा में इस पद्धति को प्रस्तर के नाम से पुकारा जाता है। यह आधुनिक मार्ग-विनिवेश की चेस-बोर्ड-पद्धति के सदृश है।

मार्ग-विनिवेश की विभिन्न पद्धतियों का शास्त्र मे वर्णन पाया जाता है। मानसार, मयमत, अर्थ-शास्त्र, शुक्र-नीतिसार एवं पुराण—देवी तथा ब्रह्माण्ड आदि ग्रंथो में इस सम्बन्ध की विस्तृत सामग्री भरी पड़ी है। श्री विनोदविहारी दत्त महाशय ने अपने Town Planning in Ancient India में इस सामग्री का विशेष उपयोग किया है। समराङ्गण के इस अध्ययन मे इस सामग्री की थोड़ी सी सूचना अप्रासङ्गिक न होगी।

समराङ्गण की मार्ग-नामावली का ऊपर संकीर्तन किया जा चुका है। अब अन्य ग्रंथो की मार्ग-नामावली देखना है। रामराज अपने Essay on Architecture मे लिखते हैं—वह मार्ग जो ग्राम अथवा नगर के चतुर्दिक दौड़ता है उसको 'मंगलवीथी' के नाम से पुकारा गया है। इसी प्रकार 'राजपथ' की संज्ञा उस मार्ग को दी गयी है जो पूर्व से पश्चिम जाता है। जिस मार्ग की दोनो सीमाओं पर द्वार हो उसे 'राजवीथी', जिसके बीच में सन्धियाँ अर्थात् जंक्शन्स हों उसे 'सन्धिवीथी' तथा दक्षिणस्थ पथ की संज्ञा 'महाकाल' मानी गयी है।

मयमुनि की नामावली भी विलक्षण है। पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाले दण्डाकार मार्ग महापथ हैं, उनमें से जो ब्रह्मपद (केन्द्र) के पास होता है उसे ब्रह्मवीथी के नाम

से पुकारना चाहिये। ब्रह्मवीथी ही मयमुनि के अनुसार मार्ग-विन्यास-योजना का नाभि-केन्द्र है। ब्रह्मवीथी के दायें-बायें दौड़ने वाले मार्ग राजवीथी की संज्ञा से चरितार्थ किये गये हैं जिनकी सीमाओं पर द्वार-विधान आवश्यक है। यान-संचार के लिये विन्यस्त मार्गों की संज्ञा 'रथमार्ग' से दी गयी है। 'मंगलवीथी' और रथमार्गों को नारा-चपथ के नाम से भी पुकारा जाता था और उनका पक्का होना (कुट्टिम) अनिवार्य था। मंगलवीथी की आनुषङ्गिक वीथी को 'जनवीथी' के नाम से पुकारा जाता था। नगर के अभ्यन्तर प्रदेश में छोटे-छोटे अन्य कई मार्ग दौड़ते थे उनको 'वामन-पथ' के नाम से पुकारा गया है।

सर्वप्रथम ध्यान देने की बात यह है मयमत एवं मानसार आदि प्राचीन-शिल्प ग्रन्थों में जो विभिन्न-कोटिक, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त स्वस्तिक, पद्मक, वर्धमानक, प्रस्तर, चतुर्मुख—आदि ग्रामों एव पुरों के निवेश-विवरण हैं उनका आधार मार्ग-विन्यास है। मार्गों की संख्या और उनका दिक्साम्मुख्य एव उन पर निविष्ट भवनों की रूप-रेखा से ही पुर-विशेष अथवा ग्राम-विशेष की संज्ञायें प्रकल्पित की जाती थीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि पुर-निवेश योजना का प्राण मार्ग-विन्यास था। मयमत के अनुसार (९ वाँ तथा १० वाँ अध्याय) दण्डक नामक नगर की संज्ञा उस के एकमात्र पूर्वाभिमुखीन दण्डाकार मार्ग पर विन्यस्त भवन-मालिका के कारण दी गयी है। यदि उसी नगर में एक दूसरा मार्ग दण्डाकार उत्तराभिमुखीन भी है और पूर्वाभिमुखीन को काटता है तो उसे (कर्तरी-दण्डक) के नाम से पुकारना चाहिये। इसी कर्तरी दण्डक में यदि एक भवन-मालिका के अतिरिक्त दो भवन-मालिकायें (पूर्व से पश्चिम की ओर) विन्यस्त हैं, तो उसकी संज्ञा बाहु-दण्डक है जिसमें चार प्रधान दिशाओं पर चार द्वार होते हैं। उत्तराभिमुखीन मार्ग के ऊपर दो से अधिक भवन-वीथियों मार्ग-वीथियों के साथ विन्यस्त की जावें तो फिर उस दण्डक नगर को (कुटिकामुख दण्डक) के नाम से पुकारना चाहिये। इसी दण्डक नगर का निवेश यदि पूर्व पश्चिम तीन मार्गों तथा उत्तर दक्षिण तीन मार्गों पर किया जावे तो उसे कलशाबन्ध दण्डक नाम देना चाहिए। नगर-प्रभेद राजधानी वह नगर है जिसमें मार्ग-विन्यास के साथ राज-प्रसाद की प्रमुखता रक्खी गयी है।

इसी प्रकार से स्वस्तिक, भद्रक आदि अन्यवर्गीय नगरों एव ग्रामों की मार्ग-विन्यास योजना है। स्वस्तिक में ६ मार्ग उत्तर से तथा ६ पूर्व से दौड़ते हैं। भद्रक में केवल ४ मार्ग इन्हीं दिशाओं से दौड़ते हैं। भद्रमुख, भद्रकल्याण, महाभद्र, सुभद्र आदि भद्रप्रभेदों की भी यही गाथा है।

जयाग, विजय तथा सर्वतोभद्र नगर प्रभेद राजधानी-नगर हैं, जिनमें मार्ग-विन्यास के साथ राज-प्रासाद की प्रमुखता रक्खी गयी है।

जयाग में नौ-नौ मार्ग पूर्व-पश्चिम एवं उत्तर-दक्षिण दौड़ते हैं। विजय में बारह-बारह और सर्वतोभद्र में ग्यारह-ग्यारह।

मानसार एवं कामिकागम के दण्डक, नन्द्यावर्त, सर्वतोभद्र, प्रस्तर, चतुर्मुख, कार्मुक पद्मक, स्वस्तिक आदि पुर प्रभेदों एवं ग्राम-प्रभेदों में कार्मुक एवं पद्मक को छोड़कर प्रायः

सभी पुरों की मार्ग-विन्यास-प्रक्रिया का आधार आयाताकृति-निवेश (Rectangular Enclosure) है जो परिशिष्टस्थ चित्रों से स्पष्ट है। पद्मक यथार्थनाम है—कमल के समान उसकी आकृति है और कार्मुक भी यथार्थनाम धनुषाकृति है।

इन प्राचीन पुरों के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य विशेष है कि प्रायः केन्द्रीय मार्गों में दो ही प्रमुख बडे मार्ग होते थे जिनको ब्रह्मवीथी तथा महाकालवीथी के नाम से पुकारा जाता था। ये दोनों नगर-मार्ग जनपदीय मार्गों से मिले होते थे। ये ही मार्ग नगर एवं ग्रामों की लड़ी को जोड़ते थे। इन्हीं मार्गों पर वाणिज्य एवं सैन्य का सचार होता था तथा इन्हीं की सहायता से शासन-व्यवस्था एवं रक्षा भी सम्पादित की जाती थी। दूसरे इन पथों में (diagonal streets) का जो आधुनिक मार्ग-विन्यास में सर्वसाधारण रूप से प्रचलित हैं, प्रायः उल्लेख नहीं है। प्रत्येक नगर के दो प्रधान पथ ही नगर एवं जनपद दोनों का काम देते थे। यद्यपि इस नियम का अपवाद भी था। पार्वत्य-प्रदेशों पर निविष्ट नगरों, राजधानियों अथवा दुर्गों में संचार-सौविध्य एवं सौकर्य के लिये (Diogonal streets) अनिवार्य हो जाती है। राजस्थान की महानगरियों एवं दुर्ग-नगरों में मार्ग-विन्यास की यह विशेषता आज भी विद्यमान है। विजयनगर आदि दाक्षिणात्य (Deccan) नगरियों में भी मार्ग-विन्यास का यह क्रम देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त नगर-विशेष अथवा ग्राम-विशेष की आकृति-विशेष भी इस नियम का अपवाद उपस्थित करती थी। उदाहरण के लिये उपर्युक्त विभिन्न कोटिक मार्गों में वर्तुलाकृति (circular) नन्द्यावर्त में मार्गों का उद्गम केंद्र स्थान से उदय होता है।

मार्ग-विस्तार

समराङ्गण में प्रतिपादित विभिन कोटिक एवं विभिन्न-संज्ञक मार्गों के विस्तार का संकेत हो चुका है। उनमें राजमार्ग की ही चौड़ाई सर्वाधिक है। राजमार्ग से राजा का मार्ग नहीं बोद्धव्य है, वह मार्गों का राजा है (पाणिनि ने उसे 'पथाम् राजा' कहा है) देवीपुराण में राजमार्ग की चौड़ाई दस धनुप (६० फीट) बताई गयी है जिससे पदातियों, गजों, अश्वों एवं यानों के संचार में किसी प्रकार का व्याघात न पहुँचे। शुक्राचार्य जी महानगरियों एव राजधानियों में छोटी-छोटी सड़कों—पद्याओं एवं वीथियों का निर्माण निषेध करते हैं। क्योंकि उनमें उस नगर की स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं सफाई में व्याघात पहुँच सकता है। मार्गों का विनिवेश इस प्रकार हो कि उनकी सदैव प्राकृतिक स्वच्छता सम्पन्न होती रहे। विष्णु-संहिता (२३ अध्याय) में प्रवचन है कि सोम एव सूर्य की किरणों तथा पवन का संचार सुकर होना चाहिये जिससे मार्ग शुद्ध रहे—'पन्थानश्च विशुद्ध्यंति सोमसूर्यांशुमारुतैः'। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मार्ग-विन्यास पर प्रचुर सकेत हैं परन्तु शुक्राचार्य के राजमार्ग कौटिल्य के राजमार्गों की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हैं। उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ प्रभेद से राजमार्गों की चौडाई ४५, ३०, २२½ फीट होनी चाहिये। ब्रह्माण्ड पुराण में देवीपुराण के ही सदृश मार्ग-विन्यास प्रवचन है। परन्तु ब्रह्माण्ड के मार्ग बहुत ही चौड़े हैं। देवीपुराण के अनुसार दिग्मार्ग (National Highways) १३५ फीट चौड़े होने चाहिये और ग्राम-मार्ग—जनपद मध्यमार्ग १२० फीट। सीमा-मार्ग

की चौड़ाई ६० फीट और राजमार्ग भी इतने ही चौड़े होने चाहिये। इसी प्रकार शाखा रथ्यायें ३२ फीट, उपरथ्यायें ४½ ही फीट और छोटी गलियाँ (bye-lanes) केवल ३ फीट जंघापथ ४ फीट तथा दो गृहों का अन्तर ३ फीट बताया गया है।

पद्यायें (फूट-पाथ)—

समराङ्गण के मार्ग-विन्यास में हमने देखा कि यान-मार्गों के दोनों ओर जंघापथों का निवेश अनिवार्य है। यान-मार्गों पर पदातियों के सु संचार के लिये पद्याओं का होना परमावश्यक है। आधुनिक मार्ग-विन्यास में ये फुट-पाथ प्रायः सभी बड़ी सड़कों के दोनों ओर निविष्ट होते हैं। प्राचीन भारत की मार्ग-विन्यास योजना में पद्याओं का अभाव नहीं था (श्री बी० वी० दत्त को संदेह है कि सम्भवतः पद्यायें नहीं थीं—(cf. Town Planning in Ancient India p 133)।

मार्ग-चतुष्पथ—

प्राचीन मार्ग-विन्यास में भी मार्ग-संगमों पर विशेष अन्तर (space) प्रदान करके वहाँ पर कोई न कोई सुन्दर वास्तु-कृति से उसकी शोभा बढ़ाई जाती थी। तिराहों और चौराहों—दोनों पर भी किसी न किसी वास्तुकृति के योग से ये संगम सुन्दर बनाये जाते थे। नन्द्यावर्त आदि वर्तुलाकार नगरों के मार्ग-संगम अष्टराहों का निर्माण करते थे। हरिवंश (विष्णु पर्व अ० ८८ तथा ८९) में द्वारावती के मार्ग-संगम का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। नगर की ८ बड़ी सड़कों का जहाँ पर संगम पड़ता था वहाँ १६ Cross Sections बनते थे जिनके अन्तरावकाशों पर सुन्दर-सन्निवेशों से पुर-शोभा प्रकल्पित की जाती थी। अग्नि-पुराण (अ० ६५) में निर्देश है कि ऐसे मार्गान्तरावकाशों पर सभावृक्षों अथवा सभा-मण्डपों का निर्माण करना चाहिये। इन चौराहों पर पण्यशालाओं, चत्वरों, जलस्रोतों (फौव्वारों ?) का निवेश किया जाता था जिन्हें आजकल हम सभी महानगरियों (Metropolis) के चतुष्पथों की भव्य विशेषता के रूप में पाते हैं। चतुष्पथों पर दीप-स्तम्भों का न्यास भी प्रचलित था। यदि ये चौराहे पुर-सेन्टर न होते थे तो किसी देवालय से इनकी सुषमा बढ़ाई जाती थी। यह सब तभी होता है जब चौराहों की निवेश-व्यवस्था में भवन-मालिका का और चतुष्पथ में प्रचुर अवकाश (Scope) का ध्यान रक्खा जाये।

इन चतुष्पथों के सम्बन्ध में एक मार्मिक तथ्य का और निर्देश मिलता है जिससे आधुनिक मार्ग-संचार की यान-व्यवस्था प्राचीनों के समय में भी प्रचलित थी—ऐसा स्पष्ट हो जाता है। विष्णु-पुराण (भाग ३ अ० १२) में लिखा है—"अपसव्यं न गच्छेत् देवागारचतुष्पथान्"—अर्थात् देवालय या चौराहे से अपसव्य (अपने वाम भाग से) नहीं चलना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब पदाति वृन्द सड़क के बायें चलें (Keep always to the left)।

चतुष्पथों की यह वास्तु-भूषा (beautiful architectural design) जहाँ धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक (भी क्यों कि इन्हीं सभावृक्षों के नीचे

बैठकर पुरवासी अपने नगर की राजनीति एवं अन्य विषयों पर विचार-विमर्श करते थे) दृष्टिकोणों से बड़ी उपदेय थी, वहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी इनकी उपादेयता कम नहीं थी। पदातियों को चलते-चलते यत्र-तत्र सुषुमा के दर्शन से आखों को बड़ा आराम मिलता है। सम्मुखीन शोभा विशेष उपकारक होती है। इसके अतिरिक्त बडे मार्गों के दोनों ओर शोभा एवं छाया हेतु सुन्दर पादपों का आरोपण किया जाता था। आम्र-वीथिया तथा माधवी लतायें विशेष रूप से लगायी जाती थीं।

सम्भवतः इसी तथ्य के अनुरूप नगर के मध्य-अवकाश में राज-वेश्म का निवेश अभिप्रेत है जैसा कि सभी वास्तु-शास्त्रियों का आदेश है। राज-प्रसादों की वास्तु-शोभा दर्शनीय होती थी। राज-प्रसादों मे निविष्ट उद्यान, पुष्पवीथियाँ, तोरण, लतामण्डप, कमल-पुष्कर आदि के दर्शन से पथिकों के नेत्रों को बड़ा सुन्दर पाथेय मिलता था।

मार्ग की नालियाँ—

समराङ्गण ने साफ लिखा है (अ० १०. ५२) कि पुर में जलभ्रमों का निर्माण आवश्यक है। उनका प्रमाण दो हस्त (३ फीट) अथवा एक हस्त (१½ फीट) होना चाहिये। शिलाओं अथवा उनके अभाव में काष्ठ-पट्टिकाओं से ही सही सदैव उनको ढका रखना चाहिये। शुक्रनीति में भी नालियों की व्यवस्था के प्रवचन हैं (शु० नी० सा० अ० १) जिनमें यह भी निर्देश है कि मार्गों का मध्य कूर्म-पृष्ठ के समान प्रोन्नत होना चाहिये। श्रीयुत अय्यर महोदय अपने (Town Planning in Ancient Deccan pp.61-2) मे लिखते हैं कि पुराने समय मे जल-निर्गम की व्यवस्था का सम्बन्ध पाइप-लाइनों से प्रारम्भ होकर पुर की परिखाओं से मिलता था। अय्यर महोदय के मत में मार्गों पर कूड़ाघरों (dustbins) का भी प्रबन्ध था।

अस्तु। इन सब विवरणों से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि प्राचीन पुर-निवेश में आजकल की प्रोन्नत मार्ग-विन्यास-प्रक्रिया के प्रचुर प्रदर्शन प्राप्त होते हैं।

५

पुर-वसतियाँ (जाति-वर्णाधिवास)

पुर-निवेश चतुष्षष्ठि-पद-वास्तु पर प्रकल्पित होना चाहिये—यह पद-विन्यास की समीक्षा में सकेत किया जा चुका है। पद-विन्यास का साक्षात्सम्बंध नगर की वसती से है—इस तथ्य का भी समुद्घाटन किया जा चुका है। अत. स० सू० के अनुसार नगर के निवेश में ६४ पद-वास्तु का प्रयोग होना चाहिये, अत. पदविन्यास की प्रधान रेखायें ही प्रायः मार्ग-विन्यास की पृष्ठ-भूमि बनाती हैं। रेखायें, मार्ग तथा रेखाओं से विभाजित ६४ पद (plots) नगर की निवेश्य भूमियाँ—उन्हें मुहल्ले कहिये या ब्लाकस् कहिये—विनिर्मित होती हैं। इस आधार-भूत सिद्धात के अनुरूप इस पुर-निवेश की उत्तर पीठिका में तीनों अध्याय पद-विन्यास (३) मार्ग-विनिवेश (४) तथा पुरवसतियाँ (५) एक प्रकार से पद-विन्यास के ही क्रमिक विकास हैं।

वास्तुशास्त्रीय वसति सन्निवेश-सम्बंधी निर्देश प्राचीन भारत एवं मध्याकालीन भारत के नगरों की वसतियों का क्या स्वरूप था—इस अतिमहत्वपूर्ण विषय का दर्पणवत् प्रतिबिम्ब प्रदान करते हैं। प्राचीन भारत का आर्य जीवन वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत मानवीय सिद्धांतों से अनुप्राणित था, अतः नगर की वसती के स्वरूपनिर्धारण में वर्णाश्रम-व्यवस्था का आधार माना जाता था। ब्राह्मणों की वसति के लिये नगर का एक प्रमुख एवं विशिष्ट स्थान नियत था। इसी प्रकार इतरवर्गों के पद सुरक्षित थे। पुर के मध्य में राज-भवनों के साथ साथ जन-भवनों—सभा, पुरजनविहार, पुरदेवता-भवन आदि का संरक्षण प्राप्त था। अत· नगर की वसती की रूपरेखा में जाति एव वर्ण का ही प्राधान्य था। अतएव समराङ्गण ने पुर की वसती के लिये 'जातिवर्णाधिवास'—इस पद का प्रयोग किया है—जातियों एवं वर्णों के अनुसार पुर की वसतियाँ—आवासभवनमालिका या मुहल्ले विन्यस्त होते थे।

इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीयता तथा अतर्देशीय व्यवस्था एवं वाणिज्य का यद्यपि सर्वथा अभाव नहीं था तथापि आजकल के समान उनका प्राधान्य नहीं था। अत. निर्विवाद है कि आजकल के समान औद्योगिक क्षेत्र (Industrial areas) तथा वाणिज्य-केंद्र-(Commercial centres) मुद्रा-शालायें (Banks), कर्मशालायें, (Factories) वाष्प-यंत्रागार (mills) आदि व्यावसायिक-भवनों के निवेश का प्रश्न नहीं उठता था। अपच रेलगाड़ी आदि आधुनिक यातायात के साधनों के अभाव में रेलवे-स्टेशनों आदि की निवेश-योजना की समस्या भी न थी। विभिन्न-देशीय दूतावासों (Embassies) का वृहद्-विस्तार का भी प्रश्न नहीं उठता था। राजधानी नगर में देश विदेश के राज-दूत राज-भवनों में ही सुरक्षित शालाओं में रहते थे।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि जाति-वर्णानुरूप नगर की वसति योजना उस काल के लिये सर्वथा उपयुक्त थी और उसके द्वारा सामाजिक संगठन एवं सुन्दर-जीवन भी सम्पन्न था। 'जातिवर्णाधिवास' एक प्रकार से आजकल की ज़ोनिंग-व्यवस्था के सदृश ही

था—अन्तर केवल प्रकार का था, आकार का नहीं। सहयोगिता, सहकारिता, सह-व्यवसाय साहचर्य, पारस्परिक आदान-प्रदान एवं विचार-विमर्श के लिये एक ही वर्ण-जाति एवं व्यवसाय (पेशा) के लोग यदि एकत्र रहें तो अधिक संगत है और जीवन भी अधिक सुखद तथा शांतिमय बन सकता है। खिचड़ी की वसती कभी भी उपादेय नहीं बन सकती और न सामाजिक जीवन को सुसंयत एवं सुगंठित बना सकती है। भारत के प्राचीन स्थपति इस मर्म को समझते थे, अतएव जाति-वर्णानुरूप वसति-व्यवस्था का पुरातन समय से ही इस देश में प्रचार रहा। प्राचीन भारत के इतिहासज्ञों से भारत का सहयोगी जीवन (Corporate life)छिपा नहीं। यहाँ पर यह भी संकेत आवश्यक है कि महानगरियों में इस प्रकार का जातिवर्णाधिवास संभव नहीं था, अतएव नगर के प्रमुख पद (sites) छोटे-छोटे नगरों (Cities in miniature) के रूप में परिणित हो जाते थे जिससे पारस्परिक आदान-प्रदान, व्यवहार, व्यवसाय एवं सहयोगिता में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े।

अस्तु, इस किञ्चित्कर उपोद्घात के उपरांत स० सू० की पुर-वसती का क्या स्वरूप है—देखना चाहिये। उपर संकेत किया जा चुका है नगर-निवेश के पद-विन्यास में दिक्-साम्मुख्य एक अनिवार्य अंग था, अतः चार प्रधान दिशाओं को लेकर ही नगर की आबादी का रूप स्थिर किया गया है जिससे दिग्वेध न आपतित हो सके। दिशाओं एवं उपदिशाओं के अनुरूप स० सू० के अनुसार नगर की आबादी निम्नतालिका से निभालनीय है। प्रत्येक दिशा एवं उपदिशा का एक अधिपति देव है। उसी के नाम से ग्रंथ में विभिन्न पदों का संकीर्तन है जो पद-विन्यास के अनुरूप होना ही चाहियेः—

समरांगण-सूत्रधार

दिक्कोण	पुर-वसति
दक्षिणपूर्व(आग्नेय)	सुवर्णकार तथा अन्य वह्निजीवी—लोहार, भड़भूंजे आदि, कर्मकार (कारीगर) एवं चतुरंगिणी सेना।
दक्षिण (याम्य)	वैश्य, अक्षधूर्त (जुवारी) कुम्हार अथवा गाड़ी ढोनेवाले (चक्रिक) नट, नर्तक एवं श्रेणिगण तथा देश-महत्तर।
दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य)	सुअरपालने वाले (सौकरिक) पासी लोग, मेड़पालनेवाले गड-रिये (मेषीकार), बहेलिये (मृगच्छिद) तथा चिकवे, कैवर्तक (केवट) मछुवे, मल्लाह, कहार आदि एवं दमनाधिकारी-चाण्डाल आदि
पश्चिम(वारुण)	रथवाहक एवं रथकार, आयुध-कुशल योद्धागण, कोशपाल, महामात्य, आदेशिक एव कारुक (शिल्पकार) तथा नियामक आदि।
उत्तर पश्चिम (वायव्य)	कर्मचारी (Public Works dept) तथा मजदूर लोग, शौण्डिक सुराकार तथा सुराबेचनेवाले कलवार एवं पुलिस के अफसर (दण्डनाथ) और नायक-गण—ऐसे अफसर।

उत्तर (कौबेर)	यतियों के आश्रम, ब्रह्मवर्त्ती के आश्रम, ब्राह्मण, सभा-भवन, प्रपा (प्याऊ) एवं पुण्यशालाओं के साथ साथ पुरोहित, ज्योतिषी लोग भी।
उत्तर-पूर्व (ऐशान्य)	घी बेचनेवाले और फल बेचने वाले टि० इन लोगों की संख्या सम्भवतः सर्वाधिक थी क्योंकि केवल इन्हीं के लिये यह दिक्कोण सुरक्षित है।
पूर्व (ऐन्द्र)	प्रधान राजकर्मचारी—सेनापति (बलाध्यक्ष) राज-पुरोहित, महामात्य, राजा भी अपने विभिन्न-कोटिक निवेशों के साथ (देखिये स० सू० १५ 'राजनिवेश')

इस प्रकार इस तालिका में नगर की आबादी के पेशेवार विन्यास का उल्लेख किया गया, परन्तु जहाँ तक वर्णानुरूप बसतियों की विन्यास-योजना का प्रश्न है उनके सम्बन्ध में समराङ्गण की प्रक्रिया निम्न लम्बी तालिका से स्पष्ट है:—

वर्ण	दिङ्मुख
ब्राह्मण	उत्तर
क्षत्रिय	पूर्व
वैश्य	दक्षिण
शूद्र	पश्चिम

टि. वैश्य-वृन्द (सामान्य दैनिक आवश्यकताओं के विक्रेता) भिषग्गण (सभी लोगों के काम आने वाले) तथा पुलिस एवं फौज (सभी की रक्षा करने वालों) का सभी दिशाओं एवं उपदिशाओं में निवेश अभीष्ट है.—

निवेश्या वणिजो वैद्या गुणग्रामश्च पि चतुर्दिशम्
चतुर्दिशं विशेषेण स्थापयीत बलानि च ॥

स० १०. १०१

अस्तु। समराङ्गणीय नगर निवेश की इस आबादी की रूप-रेखा से तत्कालीन राज-व्यवस्था, समाज एवं कर्मचारी तथा कलाकार एवं राज्याधिकारी—इन सभी

पर एक ऐतिहासिक एवं सास्कृतिक सामग्री प्राप्त होती है जिसकी छानबीन यहा प्रासगिक नहीं।

एक विशेष ध्यान देने की बात इस आबादी में यह है कि यहाँ पर विभिन्न कोटिक वसतिया न तो धर्माश्रया हैं और न राजाश्रया। आगे अन्य ग्रन्थो की एतद्विषयक-सामग्री की तुलनात्मक समीक्षा में हम देखेंगे कि नगर की वसती का प्रधान केन्द्र-विन्दु राज-निवेश है अथवा कोई केन्द्रीय देवतायतन, सभा या मण्डप। समराङ्गण की इस नगर-वसति-विन्यास-योजना को हम पूर्णरूप से जातिवर्णाधिवास (Folk planning) के रूप में ले सकते हैं। शुक्राचार्य का भी तो यही मत था—"सजातीयगृहाणा समुदायेन पङ्क्तिः"। इस योजना में राजनिवेश का अभाव सर्वप्रथम समझ में नहीं आता, परन्तु इसी ग्रन्थ के राज-निवेश नामक १५वें अध्याय मे प्रतिपादित राज-निवेश की पद्धति से यह सुतरा बोधगम्य हो जाता है कि राज-निवेश की योजना एक प्रकार से एक अलग योजना है जो राजधानी नगर अथवा ज्येष्ठ पुर की विशेषता है। राजनिवेश के लिये राजधानी-नगर का मध्य-भाग सुरक्षित रक्खा जाता था जहा पर नगर के मध्य में उस नगर की योजना के ही समान एक नवीन योजना के द्वारा राजनिवेश की योजना सम्पन्न की जाती थी। समराङ्गण-सूत्रधार महाराज भोज ऐसे अधीश्वर की कृति है। अपच पूर्वमध्यकालीन राजवैभव भी अपनी पूर्ण श्रीसम्पन्नता के लिये प्रसिद्ध था। अतः राज-भवन वास्तु-निवेश (Palace architecture) का अधिकृत ग्रन्थ समराङ्गण को राज-निवेश का अन्य वसति-सन्निवेशों के समान प्रतिपादन करना अभिप्रेत नहीं है। राजनिवेश एक पूर्ण निवेश-योजना है जिस पर सविस्तर विवेचन भवन-पटल में द्रष्टव्य है। यह सत्य है कि राज निवेश पुर निवेश का पूरक अंग है। मध्यकाल माण्डलिक राजाओं में भरा हुआ था। अतः प्रायः सभी प्रमुख नगरिया किसी न किसी मण्डलेश्वर की राजधानी थीं। अतएव तत्कालीन पुर-निवेश-व्यवस्था में राजनिवेश एक अनिवार्य अंग हो गया था। अपच जैसा हमने नगर-विकास के अध्याय मे देखा, जिस प्रकार बहुत से मन्दिर नगरों में परिणत हो गये उसी प्रकार बहुत से राज-भवन महानगरों के उदय में सहायक हुए।

इस दृष्टिकोण से पुर की वसती की पूर्ण रूपरेखा के लिये राजनिवेश पर थोड़ा सा संकेत यहाँ पर भी वाछनीय है। निम्नलिखित रेखा-चित्र से राज-वेश्म की स्थिति स्पष्ट है:—

उत्तर पश्चिम	उत्तर	उत्तर पूर्व
पश्चिम	राजवेश्म	पूर्व
दक्षिण पश्चिम	दक्षिण	दक्षिणपूर्व

पुर-वसति

नगराभ्यन्तर

दिशा पंक्ति	पूर्व-दक्षिण (आग्नेय)	दक्षिण (याम्य)	दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य)	पश्चिम (वारुण)	उत्तर-पश्चिम (वायव्य)	उत्तर (कौबेर)	उत्तर पूर्व (ऐशान्य)	पूर्व (ऐन्द्र)
प्रथम	सुवर्णकार	नृत्य-वृत्तीक नर्तक, गायक एवं गणिकायें	नट (Stage manager—Datta) चक्रिक (गाड़ीवान) तथा कैवर्त (मछुये) आदि	रथकार, आयुधकार तथा कृपाणकार	शौंडिक (कलवार) कर्माधिकारी (P. W. D.) तथा मज़दूर	ब्राह्मण, यती, सिद्ध एवं पुण्यवान्	फल के बेचने वाले एवं वणिक् जन (पंसारी)	बाजार
द्वितीय	विविध बल—चतुरङ्गिणी सेना—पदाति अश्व, रथ, गज (छावनी)	वेश्याओं के निरीक्षक	कायस्थ—धनुर्धर (तीरन्दाज)	महामात्य, कोषपाल तथा कारुक (कारीगर-शिल्पी)		दण्डनाथ (जज लोग) तथा भद्र नागरिक तथा द्विजमुख्य		बलाध्यक्ष
तृतीय	पूर्व क्षत्रिय		पश्चिम शूद्र		उत्तर ब्राह्मण		दक्षिण वैश्य	

टि०—वैश्य, वणिक् तथा बल अर्थात् सेना चारों दिशाओं में।

पृ० १७२ का दूसरा पेज

पद-विन्यास की समीक्षा में निर्देश किया जा चुका है कि राजवेश्म का निवेश ८१ पद-वास्तु पर आधिष्ठ है। अतः ८१ पद-वास्तु का 'नवपदिक' 'ब्राह्मपद' मध्य-भाग (केन्द्र) बनता है। उसी पर राज निवेश की योजना बनानी चाहिये। राज-निवेश के कौन कौन से अंग हैं? कौन सी भवनवीथिया एवं शालाये तथा कक्षायें कहाँ कहाँ निविष्ट करना चाहिये? गजदरबार (आम तथा खास) कहाँ होने चाहिये? वाजिशालायें, गजशालायें तथा राज्याधिकारियों एवं राजपरिवार के लोगों के भवन कैसे और कहा बनाने चाहिये? अथच कौन सी वास्तु-भूषाये एव रक्षा-व्यवस्थायें करनी चाहिये? इन सब पर विवेचन 'भवन' पटल (राजवेश्म) में किया गया है।)

समराङ्गण की पुर-वसति का जो स्वरूप ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह अग्नि-पुराण की पुर-वसति से मिलती जुलती है। अग्निपुराण में भी राजवेश्म का पुर-वसति-विन्यास में निर्देश नहीं है। जाति एवं वर्ण के अनुरूप—पेशेवार पुर वसति ही अग्नि-पुराण को भी अभीष्ट है। तुलनात्मक अध्ययन के लिये अग्नि-पुराण की पुर-वसति वाम-पर्यन्तस्थ रेखा-चित्र (पृ० १७१) मे अवलोकनीय है।

अग्नि-पुराण के अनुसार नगर के 'वाह्य-भाग' में पूर्व की ओर चर-लिंगी (प्रछन्न राजकीय दूत) दक्षिण की ओर श्मशान, पश्चिम में पशुवाडे—गौशालायें (डेरी-फार्मस्) एवं उत्तर में कृषिकर्ता—किसानों की बस्तियों (वे किसान जो नगर के वाह्य भूमि-प्रदेश पर शाक एवं फल आदि पैदा करते थे, जैसा कि आजकल भी सभी नगरों एवं महानगरों के ऐसे प्रदेशों पर (Outskirts) पर देखा जाता है।)

नगर की वस्ती का जाति-वर्णानुरूप-विन्यास नगर निवेश का सर्वप्रसिद्ध सिद्धान्त होते हुए भी इसकी अन्य कई विभिन्न परिपाटियाँ प्रचलित थीं जिनका थोड़ा सा निर्देश आवश्यक है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे नगर की वस्ती का आधार मार्ग-विनिवेश था। नगर-मापन एवं पारिखेयी भूमि की प्रकल्पना के उपरान्त पश्चिम से पूर्व तथा दक्षिण से उत्तर तीन-तीन राजमार्गों (बड़ी सड़कों) का निवेश करना चाहिये। पुनः मध्य मे उत्तराभिमुखीन अथवा पूर्वाभिमुखीन नवपदिक-राज-निवेश (देखो पीछे समराङ्गण की पुरवसति में प्रदत्त राज-निवेश का रेखा-चित्र) करना चाहिये। पुनश्च राज-भवन को निवेश-विन्दु (Unit) मानकर उत्तर से अन्य वसतियों का निवेश प्रारम्भ करना चाहिये।

कौटिल्य की दुर्ग अथवा नगर के सम्बन्ध मे जिस आबादी का संक्षिप्त स्वरूप हमें 'अर्थ-शास्त्र' मे देखने को मिलता है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस सुदूर अतीत मे भी भारत का नगर-निवेश अति समृद्ध एवं वैज्ञानिक था। कौटलीय नगर-निवेश मे धार्मिक कर्मकाण्ड अथवा तत्प्रतीक पद-विन्यास का बिलकुल संकेतित नहीं अत. नगर-निवेश की यह Secular Planning एक मात्र आधुनिक ही नहीं कही जा सकती। निम्न तालिका से कौटलीय अर्थ-शास्त्र की पुर-वसति के हम दर्शन कर सकते हैं:—

दुर्ग अथवा पुर-वसति	
पूर्व	गन्ध, माल्य, धान्य एवं रस के व्यापारी, प्रधान कारुक (कारीगर-शिल्पी) एवं क्षत्रिय।
पूर्वोत्तर उत्तर पूर्व	आचार्य, पुरोहित, यज्ञस्थान, जलस्थान एवं अमात्यवृन्द। राजकीय खजाना तथा गौशालायें एवं अश्वशालायें।
उत्तर	नगर-राज-देवता (Tutelry deity) का मन्दिर। लोहार, जौहरी तथा ब्राह्मण लोग।
पश्चिमोत्तर उत्तर-पश्चिम	यानशालायें एवं रथशालायें। दूकानें तथा अस्पताल।
पश्चिम	सूत-तागे, ऊन, घास की चटाइयाँ चमड़े एवं शस्त्रों एवं मोजों के बनानेवाले शिल्पी—कारीगर लोग तथा शूद्र लोग।
दक्षिण-पश्चिम पश्चिम दक्षिण	वनौषधि-भाण्डागार, आयुधागार। गर्दभशालायें, उष्ट्रशालायें एवं गुप्तियाँ एवं कर्मशालायें (फैक्टरियाँ)।
दक्षिण	नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यावहारिकाध्यक्ष (Suprintendent of Commerce) एवं बलाध्यक्ष तथा पक्वान्न, सुरा, मांस आदि भोज्यों एवं पेयों के व्यापारी तथा रूप से जीनेवाली (कमानेवाली) वैश्यायें गायकगण एवं वैश्य-वृन्द भी।
पूर्व-दक्षिण दक्षिण-पूर्व	राजकीय भोजनशाला एवं महानस, गजशाला, कोष्ठागार भाण्डागार-खजाना, एकाउन्टेन्ट का दफ्तर, कार्मशालायें, रूप से जीविकोपार्जन करनेवाली वैश्यायें, गायकगण एवं वैश्य वृन्द।

टि० १—श्रेणियाँ (Guilds) तथा प्रवहणियाँ (Corporations) एवं निकाय (मजदूर) प्राय. सर्वत्र बनाये जावें।

टि० २—प्रत्येक दस घर के लिये एक कूप होना चाहिये।

टि० ३—पुर के दक्षिण में उच्च जातियों के लिये श्मशान तथा पुर के पूर्व अथवा उत्तर में सर्वसाधारण श्मशान। चाण्डाल एवं पाषण्डियों के निवास श्मशानान्त बताया गया है।

कौटिल्य की नगर-वसति के इस स्वरूप में मार्ग-विनिवेश एवं गृह-निवेश का प्रधान स्थान है। पद-विन्यास का इस निवेश पद्धति में कोई निर्देश तक नहीं। इसका क्या रहस्य है—इस पर आगे समीक्षा होगी। पहले अभी अन्य आचार्यों की वसती भी देख लें।

प्रजातंत्रवादी शुक्राचार्य भी नगर-वसति का प्रारम्भ 'सभा' से सम्पादन करते हैं।

राजधानी नगर के मध्य मे सभा-भवन का सर्व प्रथम न्यास शुक्र की मंत्र-प्रतिष्ठा का परिचायक है। अथच राज-भवन की प्रतिष्ठा सभा-भवन के मध्य में बताई गयी है— "राजगृहं सभामध्यम्" ।

शुक्राचार्य की नगर-वसति की तालिका न देकर इतना ही इंगित पर्याप्त होगा कि शुक्र के अनुसार आबादी की निवेश-योजना में पद एवं प्रतिष्ठा सर्वाधिक महत्व रखती है। जितना ही अधिक प्रतिष्ठित वर्ग होगा उतना ही अधिक सान्निध्य उसका राजमहल से होगा। पुनश्च आबादी काफी खुली होनी चाहिये। राज-प्रासाद से कम से कम १५० फीट का फैसला छोड़कर ही इन प्रतिष्ठितों की आबादी प्रारम्भ करना चाहिये। सैन्य-विन्यास में भी प्रतिष्ठा का माध्यम अनुकरणीय है।

नगर की इन विभिन्न-कोटिक वसतियों मे जो सर्वसाधारण विशेषता है वह यह कि इनमें पद-विन्यास का क्रम नहीं पाया जाता है। अतः पद-विन्यास पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नगर-वसति का एक उदाहरण देकर इस स्तम्भ से अग्रसर होना चाहिये। मानसार एवं मयमत इस दृष्टि कोण से आदर्श ग्रंथ हैं। मयमत के अनुसार पदविन्यास पर प्रतिष्ठित पुर-वसति को हम निम्न रूप से समझ सकते हैं:—

मयमत-पुर-वसति

यह प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि मयमत एवं मानसार की पुर-वसति पद-विन्यास पर आधारित है। अतः मयमत की इस पुर वसति को पूर्ण रूप से समझने के लिये पाठक को पूर्व-प्रतिपादित एकाशीति-पद-वास्तु अथवा चतुष्षष्ठि-पद-वास्तु के रेखचित्रों को दृष्टि में रखना चाहिये तभी मयमतीय वसति विन्यास विशेष बोधगम्य हो सकेगा।

विभिन्न आचार्यों की पुर-वसति के केन्द्र-विन्दुओं पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। शुक्र की सभा एवं कौटिल्य का राजवेश्म पुर वसति के केन्द्र-विन्दु थे—मयमुनि का केंद्र विंदु है आपणक अर्थात् पण्यवीथियाँ:—

"तत्र कुड्यावलिकं वप्येऽह चान्तरापणकम्"

अतएव पुर-वसति-विन्यास में रथपथ पर वणिग्जनों की श्रेणी—सभी प्रकार के वस्तु-जात वेचनेवाले वैश्यों के घरों का प्रथम सङ्कीर्तन किया गया है। सौदागरो के बाद जुलाहो का नंवर आता है। इन तन्तुवायो की गृहश्रेणी वैश्यवृन्द के घरो के दायी ओर होनी चाहिये। बायीं ओर अर्थात् उत्तर दिशा में चक्रिक—गाड़ीवानों की वसती विहित है। रथपथो के ही दायें-बायें विभिन्न-कोटिक कर्मोपजीवियों, शिल्पयों, कारीगरों, लोहारों आदि की वसतियाँ विहित हैं।

ब्राह्मपद - (पुर के मध्यभाग) के चतुर्दिक् दौड़ती हुई सड़कों पर अन्तरापणक वाम वीथियों की प्रकल्पना करनी चाहिये। परन्तु इन अन्तरापणकों की विशेपता यह है कि इनमे फलों एवं ताम्बूल की दूकानो की ही वहुतायत होगी।

इसी प्रकार ईशान से लेकर महेन्द्र तक के पुर-पदों (town blocks) पर मत्स्य, मास, शुष्क शाक आदि की दूकानों का निवेश विहित है। पुनः महेन्द्र पदसे वढ़िये और आग्नेय-पद तक उन दूकानों का विन्यास होना चाहिये जहाँ पर भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों की विक्री होती हो। आग्नेय-पद से आगे गृहक्षत के पद तक वर्तनो एवं भाण्डो के भाण्डागर

विन्यस्त होने चाहिये। गृहक्षत से निर्ऋति तक पीतल और काँसे की दूकानें होनी चाहिये। पितृगण से पुष्पदन्त तक वस्त्रों के व्यवसाय के लिये पण्यवीथियाँ सजी हों। पुष्पदन्त से वायु तक के पदावकाश पर धान्य एवं तण्डुलों का आपणक फैला हो। वायु से भल्लाट तक दर्जियों की दूकानों के साथ-साथ लवण एवं तैल के व्यापारियों के पण्य प्रसरित हों। पुनः आगे बढ़िये और ईश तक गन्धियों—अत्तारों की दूकानें तो हों ही साथ ही साथ पुष्पों की विपणियों की भी वहाँ भरमार हो।

इस प्रकार मयमतीय नगर की वसति-विन्यास के मध्यमावकाश के चतुर्दिक बाहर की ओर दौड़ने वाले मार्गों पर प्रतिष्ठित नव संख्यक अन्तरापणक-वीथियों के बखान के उपरान्त आभ्यन्तरिक पथों पर उन पण्यशालाओं का निवेश अभिप्रेत है जहाँ पर बहुमूल्य रत्न, स्वर्ण, रेशमी वस्त्र आदि एवं रस, आसव तथा मञ्जिष्ठा, मिर्च, पीपल, हल्दी, मधु, घृत, तैल आदि नानाविध वस्तुजात का क्रय-विक्रय अभिप्रेत है।

मयमतीय पुर-वसति में देव वसति का भी पूर्ण संकीर्तन है, जिसका संकेत 'देवतायन' नामक दूसरे अध्याय में होगा। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मयमत सभी जातियों एवं वर्गों की भवनमालिका के लिये सभी दिशाओं पर स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार का निर्बाध जातिवर्णाधिवास अन्यत्र अप्राप्य है। हाँ जहाँ तक चण्डालों और धोबियों की वसतियों (कुटीरों) का प्रश्न है वह पुर के पूर्व में प्रधान वसति से लगभग दो सौ दण्ड की दूरी पर बतायी गयी हैं जो एक प्रकार पुर-समीपक शाखानगर (branch town) अथवा पुर-पार्श्वक ग्राम के रूप में परिकल्पित हो सकता है।

जातिवर्णाधिवास का यह निर्बाध क्रम मयमत के ग्राम-वसति-विन्यास में भी पाया जाता है। यद्यपि मयमत की पुर-वसति की अपेक्षा ग्राम-वसति में जातिवर्णाधिवास के क्रम (Zoning) के लिये भी पूर्ण संकेत हैं तथापि मयमुनि का वसति-स्वातंत्र्य के प्रति विशेष अभिनिवेश दिखाई पड़ता है। वास्तु-शास्त्रीय इसी उदारदृष्टि ने प्रसिद्ध महानगरों (Cosmopolitan Cities) का उदय हुआ।

मयमत के ग्राम-विन्यास का भी आधार पद-विन्यास है। ८१, ६४ अथवा ४९ पद वाले वास्तु-पद-प्रकल्पन के उपरांत ग्राम को पुनः ब्राह्म, दैविक, मानुष एवं पैशाच इन चार बड़े-बड़े पदों (zones) में विभक्त करना चाहिये। ब्राह्मपद पर ब्रह्मा का मन्दिर निर्मित करना चाहिये तथा दैविक एवं मानुष पदों पर ब्राह्मणों की वसतिमालिका (rows of houses) प्रतिष्ठित होनी चाहिये। शिल्पियों तथा कर्मकारों की वसति के लिये पैशाच पद अभिप्रेत है।

इसी प्रकार नगर-जीवन के सुसंस्कृत एवं सुसम्पन्न नानाविध उपकरणों—सभामण्डप आश्रम, राजवेश्म, वापी, तड़ाग, पुष्पोद्यान आदि आदि सभी उदात्त भवनों का ग्राम-विन्यास में भी आदेश है। इसके अतिरिक्त पण्यशालाओं के पद सुनिश्चित हैं। वैश्यों, शूद्रों तेलियों, नाविकों, तक्षों, (masons-architects) रंगरेजों, मछुओं, गाड़ीवानों, नटों आदि की ग्रामीण वसति-विन्यास पुर-वसति के ही अनुरूप है। धोबियों और चाण्डालों की वसति यथापूर्व ग्राम के बाहर विहित है।

ग्राम की इस प्रस्तुत स्थूल वसति-विन्यास (म० म० ६ या ७०) पदक्रम का

कहना सर्वथा संगत ही है कि यह तो पुर-वसति से भी बढ़ गयी है। इसका क्या रहस्य है? प्राचीन भारत में ग्राम ही वसति-केन्द्र थे। स्वच्छन्द-जीवन के लिये ग्राम ही सर्व-विध सुविधा प्रदान करते थे। नगरों का निर्माण या तो राजनैतिक परिस्थितियों से अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं के कारण ही हुआ। अत आजकल की तरह नगरों की भरमार नहीं थी। प्राचीन काल के ग्राम आधुनिक नगरों से कम न थे। अन्यथा ग्रामीय-वसति का इतना सुन्दर एव सुसमृद्ध स्वरूप देखने को न मिलता।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मार्कण्डेय-पुराण के अनुसार तो ग्रामों में केवल शूद्र अथवा कृषक ही रहते थे—यह मत सत्य नहीं। प्राचीन-काल में तथा पूर्व मध्य-काल में भी ऐसे बहुसंख्यक निर्देश मिलते है एवं प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनसे यह धारणा गलत साबित होती है। महाकवि बाणभट्ट के ब्राह्मणाधिवास ग्राम का संकेत किया ही जा चुका है। मयमत में ग्राम के प्रकार-प्रभेद पर वसति-प्रकार एव वसति-संख्या (Population) का माप दण्ड स्वीकार किया गया है। मयमत (देखो ६वाँ अ०) के अनुसार एक उत्तम ग्राम के तीन प्रभेद हैं—उत्तमोत्तम जहाँ पर १२००० ब्राह्मण रहते हैं, उत्तम-मध्यम जहाँ पर १०००० ब्राह्मण रहते हैं, उत्तमाधम—में ८००० ब्राह्मण। ग्रामों की यह ब्राह्मण-वसति एवं उनकी संख्या पूर्वप्रतिपादित मत का पूर्ण समर्थन करती है। अथच मानसार एवं मयमत में विभाजित विभिन्न-वर्गीय ग्रामों की विशेषता में वसति के प्रकार-भेद का ही मूलाधार है।

इस प्रकार विभिन्न-कोटिक पुर-वसतियों की इस साधारण समीक्षा के उपरान्त अब अन्त में जिस तथ्य की ओर (जिसपर हम संकेत कर आये हैं) ध्यान देना है वह यह है कि प्रायः सभी प्राचीन शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में (मयमत, मानसार आदि) पुर-वसति पद-विन्यास पर आधारित है। परन्तु कौटलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, अग्नि पुराण एवं समराङ्गण में भी पद-विन्यास का कोई संकेत नहीं है। हम पहले ही कह आये हैं कि पद-विन्यास एक प्रकार की विभाजन-प्रणाली है। अतः नगर की आबादी के लिये जिस किसी भी प्रणाली का अनुगमन होगा वह एक प्रकार का पद-विन्यास ही है—उसे देवनामों से संकीर्तन करें अथवा दिङ्मुखो से—सब एक ही बात है। दत्त महाशय ने (T P, in Ancient India p. 149 F N.) में यह आकूत किया है कि सम्भवतः इस द्विविध वसति-पद्धति से वास्तु-विद्या की दो परम्पराओं (Schools) पर प्रकाश पड़ता है—वह लेखक की समझ मे विशेष नहीं जँचता। मयमत का पद-विन्यास, कौटिल्य का मार्ग-विन्यास, समराङ्गण एवं अग्नि-पुराण का दिङ्विन्यास—सभी एक ही तथ्य की ओर संकेत करते है कि पुरवसति-विन्यास से प्रथम पुर को विभिन्नकोटिक पदो–भागों (divisions plots, sites) अथवा मुहल्लो में बाँट देना चाहिये। तदुपरात किस मुहल्ले में किस की वसति अथवा प्रतिष्ठा अभिप्रेत है उसका सम्पादान करना चाहिये। आज भी सभी नगर मुहल्लों में बंटे हैं। यही आधुनिक नगर-निवेश पद्धति में जोनिंग-प्रक्रिया के नाम से पुकारा जाता है। अत. एक शब्द में यह कहना ठीक ही होगा कि प्राचीनों के इसी पद-विन्यास की आधार शिला पर आज कल का अत्यन्त उदीयमान नगर-निवेश खड़ा है।

६

देवतायतन—मण्डप एवं आरामोद्यानादि—पुरजन-विहार

(अ) देवतायतन

भारत की मानवता देवों की आराधना से विकसी। चिरन्तन से इस देश में अपरोक्ष शक्ति की उपासना में ही जीवन की सार्थकता समझी गयी। देव-भावना कहिये—अध्यात्म कहिये, सनातन से इस देश की संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता रही। देव-पूजा का कब उद्गम हुआ, कैसा उसका विकास पनपा—पूजा-पद्धति, पूज्य देवों की परम्परा आदि पर प्रतिमा-पटल की पूर्व-पीठिका में विशेष विवेचन मिलेगा।

पुर-निवेश की बहुमुखी-योजना में पुर में देवतायतन-विधान प्राचीन पुर-निवेश का अति महत्त्वपूर्ण अंग है। वास्तुशास्त्र के सभी ग्रंथों में इस विषय की अवतारणा की गयी है। समराङ्गण में भी इस विषय की पूरी सामग्री है। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व लिखे गये कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नगर में निवेश्य देवतायतनों एवं देवों पर प्रवचन मिलते हैं। अतः यह परम्परा काफी प्राचीन है—इस में सन्देह नहीं। तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि देवतायतन-परम्परा पौराणिक परम्परा है। वैदिकयुग यागोपासना-काल था। व्यक्तिगत-पूजा (Individual worship) उस काल की प्रधान विशेषता थी। उत्तरवैदिक काल में उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान की ज्योति ने इतना सर्वातिशय प्रकाश किया कि यज्ञकर्म भी तुच्छ समझा गया। तत्त्वज्ञान—ब्रह्मज्ञान—आत्मज्ञान ही उपासना एवं चिन्तना का परम विषय बना।

ज्ञानवादियों के अनुसार आगे चलकर प्रतिमा-पूजा तो मन्द मतियों के लिये ही उचित समझी गयी। परन्तु जब बौद्धों के वैदिक धर्म के बहिष्कार ने [illegible]

आँखें भी खुलीं तो उन्हे धर्म में एक नवीन परिवर्तन (A new orientation) करना अनिवार्य हो गया। पुराणों की रचना इस मर्म का परिणाम है। ब्रह्मज्ञान साधारण जनों की न तो समझ में ही आ सकता है, न प्राप्य ही और न अभ्यसनीय ही है। अतः कोई मध्यम मार्ग चहिये। अतः 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' की वेदवणी ने ही इस संक्राति के समय में भी नवीन ज्योति प्रदान की। मन्दिर-निर्माण एवं देव-पूजा के अभ्रंलिह प्रासाद की यही आधार-शिला थी। सामूहिक-पूजा-परम्परा (Congregational worship) के श्रीगणेश में तीर्थ-स्थानों एवं प्रसिद्ध मन्दिरों ने बड़ा योग दिया।

देवतायतन-निर्माण एवं देव-पूजा की परम्परा, यद्यपि जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, काफी प्राचीन है तथापि देवों का विकास एककालिक नहीं। जो देव दो हजार वर्ष पूर्व विशेष उपास्य थे वे ही कालातर में दूसरे देवों से दब गये और दूसरों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। पूर्व मध्यकाल में ब्रह्मा का बोलबाला। विष्णु और शिव भी कम प्रसिद्ध न थे। त्रिदेवोपासना ही सर्वाधिक प्रचलित थी।

ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिव के अतिरिक्त और भी बहुत से देव एवं देवियाँ थीं जिनके मन्दिरों की प्रतिष्ठा प्रचलित थी। परन्तु विभिन्नकालीन वास्तुग्रंथों में जो एतद्विषयक सामग्री मिलती है उस से देवों एवं देवियों के उत्थान-पतन की एक रोचक कहानी बनती है। सच तो यह है कि देवों का यह उत्थान-पतन तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (Comparative Mythology) का एक रोचक विषय है।

अस्तु। इस उपोद्घात के अनन्तर समराङ्गण के अनुरूप नगर के देव एवं देवतायतन की प्रतिष्ठा-मीमांसा करनी है। देवतायतन न केवल नगर के मध्य अथवा अभ्यंतर ही निविष्ट किये जाते थे उनकी एक बड़ी संख्या पुर के बाह्य प्रदेश पर निवेशनीय प्रतिपादित की गयी। आज भी यत्र-तत्र सर्वत्र विशेषकर ग्रामों में जो मन्दिर देखने को मिलते हैं वे ग्राम के बाहर ही प्रतिष्ठित हैं। यह ठीक भी है। समराङ्गण में नगर-मध्य देवतायतनों में ब्राह्म मंदिर ही विशेष उल्लेखनीय हैं अन्यथा अन्य देवों के मंदिर पुर के बाह्य भाग पर ही निविष्ट होने चाहिये—ऐसा आदेश है। निम्नतालिका पर एक दृष्टिपात नगर के सभी देवों का दर्शन करा सकती है:—

टि:—वसति-सन्निवेश के समान ही देवतायतन-निवेश का आधार दिक्साम्मुख्य एव पुर-साम्मुख्य था। दिशाओं एवं उपदिशाओं में ही मन्दिर भी निविष्ट होते थे। विदिशायें वर्जित थीं।

पुर-देवतायतन

(स०सू०)

पुर-भाग	दिशायें	देववर्ग
बाह्य	पूर्व	विष्णु, सूर्य, इन्द्र, धर्मराज के निकेतन
	दक्षिणपूर्व	सनत्कुमार, सावित्री, मरुद्-गण, मारुति (हनुमान्) के निकेतन
	दक्षिण	गणेश, मातायें, भूत एवं प्रेतपति यमराज के गृह
	दक्षिण पश्चिम	भद्रकाली का मन्दिर एवं पितृ-गणों के चैत्य।
	पश्चिम	सागर, नदियां (गंगा आदि) जलदेव—वरुण, विश्वकर्मा के निलय।
	पश्चिमउत्तर	फणियों के भवन, शनैश्चर और कात्यायनी के मन्दिर
	उत्तर	विशाख, स्कन्द, सोम, कुबेर के प्रासाद
	उत्तरपूर्व	जगद्गुरु महेश, लक्ष्मी और अग्नि के मनोरम मन्दिर
अभ्यन्तर		ब्रह्मा का मन्दिर पुरमध्य में। पुर के मध्य में ब्रह्म मंदिर के अतिरिक्त इन्द्र, बलराम एवं कृष्ण के भी मन्दिर बनाना चाहिये। वैसे तो स० सू० का निर्देश है जिस प्रकार नगर के बाहर वैसे ही पुराभ्यन्तर भी अपनी अपनी दिशाओं में देवों की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

पुर-निवेश में समराङ्गण की देवतायतन-व्यवस्था में एक दो मन्तव्य और शेष हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। पुर के सभी गृहस्वामियों के लिये समराङ्गण का पहला आदेश यह है कि लक्ष्मी और वैश्रवण (कुबेर) की प्रतिमायें प्रत्येक भवन के प्रमुख द्वार पर अवश्य निविष्ट करना चाहिये। अग्नि पुराण का भी ऐसा ही निर्देश है। नगर एवं नागरिकों के अभ्युदय के लिये यह अनिवार्य व्यवस्था है।

दूसरा मन्तव्य यह है कि शिवलिङ्गों की स्थापना नगराभ्यन्तर वर्जित है। इनको नगर के बाहर एकान्त स्थान पर प्रतिष्ठापित करना चाहिये। ये लिङ्गस्थान नगर की

पश्चिम दिशा में हों। श्मशान एवं श्मशानस्थ लिंगों की प्रतिष्ठा के लिये नगर की दक्षिण दिशा बताई गयी है। तीसरे माताओं, यक्षगण, शिविकगण एवं भूतसंघ के मंदिर नहीं बनाने चाहिये। उनकी प्रतिष्ठा चबूतरों पर उचित है। यह परम्परा देश के प्रत्येक नगर, ग्राम एवं कस्बे में आज भी हूबहू वैसी ही पाई जाती है।

देवतायतन-निवेश के संबंध में समराङ्गण का एक महत्वपूर्ण प्रवचन यह है कि एक ही देव के बहुत से मन्दिर नहीं बनाने चाहिये। इस नियम का उल्लंघन अनर्थकारक है (अ० १०.१३५-४०)। रुद्र, सोम अथवा ब्रह्मा के एक एक प्रासाद होने पर यदि दूसरे और विनिर्मित होते हैं तो अग्रजन्मा ब्राह्मणों को पीडा प्राप्त होती है। वह्नि एवं बृहस्पति के अधिक मदिरों से पुरोहितो एवं ज्योतिर्विदों को ध्रुव भय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कुवेर, इन्द्र, वरुण तथा यम के अधिक प्रासादो की विरचना से राजा को भय-प्राप्ति निश्चित है। देव-सेनानी स्कन्द (कार्तिकेय) के अधिक मन्दिर से सेनापति एवं सैन्य की पीड़ा निश्चित है। प्रजापति एवं विष्णु के एकाधिक प्रासाद से प्रासाद-कारक (यजमान) एवं प्रासाद-कर्ता स्थपति —दोनो ही बन्धन एवं नाश को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अन्य देवों की गाथा है।

देवतायतन-प्रतिष्ठा नगराभिमुख अनिवार्य है। पुर से दूर दिशाओं में भी यदि कोई मन्दिर प्रतिष्ठित है तो उसे भी नगराभिमुख ही होना चाहिये। पराङ्मुख देव प्रतिषिद्ध हैं। यदि गलती से देव पराङ्मुखता आपतित हो गयी है तो फिर शान्तिक-विधि अनिवार्य है। मन्दिर की उस दीवाल पर जो नगराभिमुख है, पराङ्मुखीन देव की चित्र प्रतिमा बनाकर नगराभिमुख करनी चाहिये। परन्तु यह विधान केवल अर्चाश्रित देवों के सम्बन्ध में है। जो आलेख्यवर्ती हैं अथच जिनका एक मात्र चित्रण ही प्रयोजन है उनकी सम्मुखता अथवा पराङ्मुखता पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

इस सम्बन्ध में समराङ्गण का दूसरा आदेश यह है कि जिन देवालयों की प्रतिष्ठा प्राची में हो उनके मुख प्रतीची की ओर हो, जो प्रतीची में हो उनके मुख प्राची की ओर करने चाहिये। परन्तु दक्षिण दिशा में स्थापित देवालय उत्तर की ओर नहीं होने चाहिये (अ० १०.११२-१३)

पुर के भीतर और बाहर इसी प्रकार की देव-वसति प्रायः सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में निर्दिष्ट है। अन्तर केवल इतना है कि इन विभिन्न ग्रथों में विभिन्न देववर्ग देखने को मिलते हैं अथवा किन्हीं में कुछ देवों के प्रति विशेष अभिनिवेश दिखाई पड़ता है और किन्हीं में कम। देवों के इस उत्थान-पतन की रोचक कहानी पर प्रतिमा-पटल में विशेष चर्चा होगी। यहाँ पर एक दो उदाहरण देकर इस स्तम्भ से आगे बढ़ना ठीक होगा।

जिस प्रकार से समराङ्गण और अग्निपुराण की नगर-वसति का साम्य देखने को मिलता है, वैसे ही देव-वसति भी दोनो की प्रायः समान है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विन एवं विष्णु — 'श्रीमंदिर-गृह'—विष्णु गृह, न कि 'श्रीमदिरागृह' जैसा कि डा० शामशास्त्री ने अनुवाद किया है — देखो Datta's पृष्ठ १५.१) । ये नाम समराङ्गण अथवा अग्निपुराण के नाम से सर्वथा विलक्षण हैं। लगभग डेढ़ हजार वर्ष में ऐसा देव-विक्रम अथवा देव-ह्रास संगत ही है।

अन्य ग्रंथों में भी इसी प्रकार की विभिन्नता है। मत्स्य में दुर्गा एवं गजपुर-लक्ष्मी की प्रतिष्ठा पर विशेष अभिनिवेश है। मानसार में त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिष्ठा पर विशेष जोर है।

देवतायन-प्रतिष्ठा के सांस्कृतिक महत्व पर संकेत किया जा चुका है। इनका व्यावहारिक महत्व भी कम न था। मंदिर प्राचीनकाल एवं मध्यकाल में महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों का तो काम देते ही थे; साथ ही साथ नगर की जनता की धार्मिक जिज्ञासा के पूर्ण साधन थे। मंदिर के पुजारी शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ एवं ज्योतिर्विद हुआ करते थे। पुराणों का पारायण, कथा-वार्ता, भजन-संकीर्तन, प्रवचन एवं पाठ दैनिक-व्यवस्था थी। जिज्ञासु धार्मिक जनता मंदिरों में जाकर कथा सुनती भजन-संकीर्तन में भाग लेकर उपास्य देव की भक्ति तन्मयता में विभोर होकर अपने को कृतकृत्य करती। नगर के मंदिर, नगर की शिक्षा-दीक्षा, धर्म एवं भक्ति, अध्यात्म एवं चिंतन, योग एवं वैराग्य के जीते जागते सांस्कृतिक केंद्र थे। नगर के बहुसंख्यक जिज्ञासु छात्र विद्वान् पुजारियों के अन्तेवासी बनकर वेद, शास्त्र, पुराण एवं काव्य का अध्ययन करते। उत्सव विशेष पर न केवल नगर वरन् उस जनपद-विशेष के समीप के ग्रामों की जनता भी आती, महोत्सव में भाग लेती और आनन्द मनाती। एक शब्द में देवतायतन-हिन्दू-जीवन के अभिन्न अंग थे।

पुर-निवेश में देवतायन-प्रतिष्ठा की इसी परम्परा को कतिपय वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में मण्डप-विधान के नाम से पुकारा गया है। मण्डप-विधान अथवा देवतायतन-प्रतिष्ठा वास्तु शास्त्रीय दृष्टि से एक ही चीज है। 'मण्डप'—यह शब्द उस सुदूर अतीत की ओर इंगित करता है जब पूजा-वास्तु वेदि-रचना एवं यज्ञशाला तक ही विकसित था। कालान्तर में वैदिक 'सदस्' ने मण्डपों की आकृति लिकरी—इस पर हम आगे—प्रासाद-वास्तु की चर्चा में विशेष निवेदन करेंगे।

(घ) आरामोद्यानादि

प्राचीन नगरों की सर्व-प्रमुख विशिष्टता—देवतायतन-विन्यास पर इस अध्याय के पूर्वार्ध में विवेचन किया गया अब आधुनिक नगरों की सर्वप्रमुख विशिष्टता—उद्यान पुष्पवन विहार आदि विहारभूमियों के विन्यास के सम्बन्ध में विवेचन इस अध्याय के उत्तरार्ध का विषय है। उद्यान-नगर (garden cities) अर्वाचीन नगर-निवेश का परमोपजीव्य विषय है। आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। आधुनिक नगरों का विकास आधुनिक औद्योगिक विकास जन्य नागरिक-संकीर्णता (Conjgestion) के कारण ही प्रादुर्भूत हुआ है। जीवन के लिये स्वच्छ वायु, हरे-भरे पादप एवं लतागुल्मों की अनिवार्य आवश्यकता को समझने वाले आधुनिक नगर-निवेशक (Town Planners) किसी भी नगर-निवेश में खुले मैदानों—क्रीडाङ्गणों, पुष्पवन विहारों (Parks) आदि की ही अनिवार्य योजना नहीं बनाते हैं, वरन् गृह-निवेश में भी गृहपद (House plot) का कम से कम एक तिहाई भाग खुला छोड़कर उसमें पुष्पवाटिकों, लताकुञ्जों एवं हरितक्षेत्र (Lawns) की विन्यास-विनियोजना के लिये प्रत्येक नागरिक को प्रबुद्ध-निमित्त आदेश भी देते हैं (विभिन्न महानगरों की नगर-पालिकाओं के भवन-निर्माण नियम सादृश्य

उपनियमों का यही मर्म है)। अतः इस स्तम्भ में हमें यह देखना है, कि प्राचीनों ने इस दिशा में कैसा पथ-प्रदर्शन किया ?

नगर-निवेश के इस अत्यन्त उपयोगी सिद्धात (Canon) का अनुगमन प्राचीन नगर निवेश पद्धति में हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—एक अकृत्रिम (प्राकृतिक) तथा दूसरी कृत्रिम।

जहाँ तक अकृत्रिम दृष्टिकोण का सम्बन्ध है उस पर पिछले अध्याय मे (दे० भूमि-चयन एव भू-परीक्षा) कतिपय सकेत किये ही जा चुके हैं। एक आध और संकेत आवश्यक हैं। स० सू० के 'भूमि-परीक्षा' नामक ८वें अध्याय में (४०-४५, दे० परिशिष्ट—अवतरण) पुर-निवेश के लिये जिस हरे-भरे वातावरण की अवतारणा की गयी है उसका साराश यह है कि उन्हीं हरी-मरी जगहो पर नगर-प्रतिष्ठा करनी चाहिये जिनकी प्राकृतिक सुषमा जलचर, नभचर एवं स्थलचर—सभी प्राणिजात के लिये आकर्षक हो। जलाशय(वापी, तटाक आदि) तो हों ही, घने वृक्षों की छाया भी कम न हो साथ ही साथ दूर्वा-घास, विविध वनौषधियाँ—मुञ्ज (मूंज) कुरून्द एवं कुश आदि की भी वहाँ भरमार हो। वाहनों (अश्व आदि) के लिये सुखद एवं मिथुनों (हंस हंसिनी, चकवा-चकवी आदि) के लिये रतिप्रद हो वह स्थान।

इसी प्रकार के बहुसंख्यक निर्देश प्रायः सभी वास्तु-शास्त्रीय एवं अ-वास्तुशास्त्रीय ग्रंथो मे भरे पडे हैं जिससे नगर के बाह्य एवं आभ्यंतरिक—दोनों प्रदेशों पर अकृत्रिम एवं कृत्रिम दोनों प्रकार के उद्यानों की बहुमुखी विनियोजना निकाली जा सकती है। तथापि इस दिशा में वैज्ञानिक समीक्षा के लिये इन सर्वसाधारण संकेतों के अतिरिक्त विशिष्ट संकेतों का अनुसंधान करना है।

नगर की उद्यानारोपण-व्यवस्था का आश्रय नगर के मंदिर थे। नगर के उद्यान और नगर के मंदिरों का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध था। देवतायतन-प्रतिष्ठा के अनिवार्य अंग देव-पूजा में पुष्पों की अनिवार्यता से सभी परिचित हैं। समराङ्गण की देवतायतन-प्रतिष्ठा मे आरामोद्यानों की अनिवार्यता पर निम्न प्रवचन को पढकर हम इस परम्परा को विशेष महत्व दे सकते हैं: —

> निवेशनानि कुर्वीत त्रिदशानां यथाक्रमम्।
> नगराभिमुखं चित्रवनभाञ्जि शुभानि च॥ १०-११०

अतः पुष्पोद्यान देवतायतन के अनिवार्य अंग थे। इस दृष्टि से जहाँ अर्वाचीन नगरोद्यानों का विन्यास एक मात्र नगर की शोभा एवं स्वच्छंद वायु-सेवन के लिये होता है वहाँ प्राचीन नगरोद्यानों का साक्षात् एवं पारस्परिक सम्बन्ध मंदिरों से था। उद्देश्य में भेद है न कि निवेश में। यही नहीं, उद्यानों के बंधु—तडाग, पुष्कर, वापी, कासार प्राचीन नगरों के अभिन्न अंग थे जिनका आजकल के नवीन नगरों में सर्वथा अभाव है। सुरम्यकानन, कमलाकर कासार, सुनिर्मित एवं सुफुल्लित तडाग किसी भी नगर की शोभा-वृद्धि के लिये पर्याप्त साधन हैं। प्राचीन नगर-निवेश में इनकी अनिवार्यता पर काफी संकेत किया जा

अथच विविध आरामोद्यान-विन्यास के लिये प्राचीन पुर-निवेश की प्राकारादि-प्रक्रिया भी प्रचुर साधन समुपस्थित करती थी। पुर के प्राकारादिन्यास पर आगे के अध्याय में विशेष समीक्षा होगी। प्राकारादि विन्यास (Fortification) में परिखायें अभिन्न अंग थीं। परिखायें जल प्रपूरित रहती थीं। उस जलराशि के द्वारा पारिरोनी भूमि पर उद्यानारोपण के लिये अविरल साधन थे।

म-सू० (१० २१-२४, दे० परिशिष्ट-अवतरण) का निम्न प्रवचन इस उपर्युक्त तथ्य का परं प्रामाण्य प्रस्तुत करता है. इस प्रकार नगर के परकोटे की तीन विस्तृत एवं गम्भीर परिखाओं की खुदाई के बाद उनको पूर्ण रूप से साफकर उनके तल को चारों ओर से शिलाओं के द्वारा बाँधकर (अर्थात् पक्की चुनाई से परिखाओं को मजबूत बनाकर) उनमें जल-राशि भर दे और इधर उधर फौवारों (ग्राहों के मुखों से निकलती हुई जलराशि) एवं आरोपित कमल-कुञ्जों से उनकी सुषुमा का पोषण करे। यही नहीं, नगराभिमुखीन परिखाओं के कूलों पर पुष्पों की सौरभ से मत्त मधुपाङ्गनाओं वाले सुमनो विटपारामों (फूलों के पेड़ों के बगीचों) के विन्यास से उन प्रदेशों को इतना मोहक बनावे जिससे लोग आ आकर वहाँ पर बैठने और विहार करने के लिये समुत्सुक हों। अथच परिखाओं के चतुर्दिक बाह्य भागों पर ऐसी झाड़ियों का आरोपण करना चाहिये जो कटीली हों और जिनमें लतायें एवं गुल्म भी यत्र तत्र सर्वत्र सटे हों।

इस प्रवचन से प्राचीन नगरों में उद्यानों के विन्यास में दो रायें नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त प्राचीन पुर निवेश में राज-वेश्म का स्थान सदैव पुर-मध्य प्रकल्पित होता था। पुर-केन्द्र में ब्राह्म-मन्दिर की प्रतिष्ठा पर बार बार सकेत किया जा चुका है। अतः दोनों ही निवेशों में (राजवेश्म एवं ब्राह्म-मन्दिर) आरामोद्यान अनिवार्य अंग है। भारतीय भौतिक सभ्यता एवं संस्कृति के ज्वलन्त प्रतीक राज-वेश्म रहे हैं। राजवेश्मों की छटा—उत्तुङ्ग शिखर, स्फीत-प्राङ्गण, विशाल शालायें चित्र-विचित्र नाना मण्डप, वितान, वापी, पुष्पवीथी अशोक-वनिका, धारागृह (प्रणाल, प्रवर्षण आदि आदि दे० आगे 'यंत्र'-पटल) के बहुविध निवेश की पर्यालोचना आगे 'भवन' पटल—'राजवेश्म' में की जावेगी। अतः पुर-मध्य कृत्रिम उद्यानों, आरामों, पुष्पवाटिकाओं एवं कोशों का निवेश प्रत्येक प्रमुख नगर का अभिन्न अंग था।

इस प्रकार कृत्रिम एवं अकृत्रिम-दोनों प्रकार से काननों एवं उद्यानों की विनियोजना पर जो समीक्षा हुई उससे यह निष्कर्ष निकला कि प्राचीन पुरों में आरामोद्यान-निवेश पुर-निवेश की अनिवार्य साधना थी। सत्य तो यह है कि सनातन से इस देश में मानव प्रकृति के सान्निध्य में सन्तत रहा। जल एवं पादप, पर्वत एवं सरिता—इस चतुर्मुखी प्राकृतिक दृष्टि से ही प्राचीन भारतीयों ने अपनी सभी रचनाओं की परिकल्पना की। वृक्ष-पूजा सनातन से इस देश की एक अति प्राचीन एवं पुनीत परम्परा है। अश्वत्थ, पिप्पल, आम्र, कदम्ब, निम्ब, बेल, कदली—ये इन सब के लिए सनातन से शोभित नहीं होते, ऐसा गृहस्थ है जो शायद ही किसी वर्ष में किसी न किसी दिन इन पुनीत पादपों की पूजा के लिये संभव नहीं जुटाती हो। अतः प्राचीन पुर पथ, ग्राम, मन्दिर, निवास, घाटों एवं वाटिकाओं में भी पादप-पुष्पों का पद पद पर दर्शन होता था। हिन्दुओं के दैनिक जीवन में पादपों

का अनिवार्य धार्मिक साहचर्य है। विना पादपों के हिंदूजीवन अपूर्ण है। प्रातः उठते ही निम्ब की दतून चाहिये। स्नानोत्तर पूजा के लिये विविध पुष्प चाहिये। नैवेद्य के लिये फल चाहिये। आतप-त्राण के लिये विशाल वृक्षों की छाया चाहिये। गोवृन्द एवं अन्य पशु-समूहों की अकृत्रिम शालायें वृक्षों के अधोभाग थे।

अथच प्राचीन जनावासों के निर्माण में उस पद पर जिसपर गृह निर्मित होता था पादपारोपण अनिवार्य था। विश्वकर्म-प्रकाश का निम्न प्रवचन इस तथ्य कीपुष्टि करता है:– 'आदौ वृक्षाणि विन्यस्य पश्चाद् गृहानि विन्यसेत्'। शाल-भवनों के निवेश में भवनोद्यान-विन्यास का पूर्ण सौविध्य था—यह हम 'भवन' पटल में विशेष रूप से प्रतिपादित करेंगे।

इसके अतिरिक्त प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में आजकल की सी जल-कल-व्यवस्था तो थी नहीं, अतः वापी, कूप, तडाग आदि जलाशयों का निर्माण किसी भी वसति के लिये अनिवार्य था। राज्य की ओर से सर्वसाधारण जलाशयों का निर्माण तो होता ही था, वैयक्तिक रूप से भी इस प्रकार के निर्माण के लिये धार्मिक प्रोत्साहन था। इष्टापूर्त की धार्मिक परम्परा मे मानव की जलीय आवश्यकता के आविष्कार का मर्म छिपा है। इष्टि से यज्ञ एवं अपूर्त से वापी, कूप, तड़ाग, देवतायतन-निर्माण अभिप्रेत है। अतः बडे बडे तालावों के निर्माण से एवं उनके कूलों पर प्रकाण्ड पादपों के आरोपण से तथा उसी की परिधि में देवालय की स्थापना से वह पूरा का पूरा क्षेत्र आजकल के पुर-जन-विहारों के ही समकक्ष था। जहाँ पर लोग न केवल देवदर्शन, जलमज्जन एव पादपच्छाया-सेवन का ही आनंद लेते, वरन् अपने अपने अवकाश के समय आकर बैठते उठते, बातें करते, शास्त्र-चर्चा, धर्म-चर्चा, कथा-वार्ता भी करते।

अन्यच्च आरामोद्यानादि-विन्यास प्राचीन भारतीयों के 'पादपारोपण' की धार्मिक-कल्पना के ही प्रतीक हैं। आजकल हम पादपारोपण पर विशेष जोर देने लगे है प्राचीनों की तो आस्था थी कि एक पादप के आरोपण से एवं उसके सिञ्चन एवं संवर्धन से दश पुत्रों का उत्सव सम्पन्न होता है—

दशपुत्र-समो तरुः

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है उद्यान-नगर (garden cities) आज कल की ही विभूति नहीं है। प्राचीन समय में प्रत्येक ग्राम उद्यान-नगर था। श्री वेंकट-रमण अइयर महोदय ने अपने Town Planning in Ancient Deccan में पूर्णरूप से प्रतिपादित किया है कि प्राचीन समय मे पुर अथवा ग्राम के निवेश-विन्दु मे मन्दिर की प्रतिष्ठा से उद्यान-नगरों का विकास नैसर्गिक हो जाता था। अथच जैसा ऊपर संकेत किया ही जा चुका है बडे बडे नगरों के मध्य में राज-वेश्म की प्रतिष्ठा ने भी नाना-विध उद्यान, आराम पुष्पवाटिकायें, दर्शनीयागार (museums) पुर-जन-विहार (parks) आदि का विनियोग अनिवार्य हो जाता था। आज भी भारत की पुरातन राजधानियों की ऐसी ही छटा देखने को मिलती है।

७

रक्षा-संविधान

(प्राकारादि-विनिवेश—Fortification)

प्राचीन भारत की पुर-निवेश योजना का सर्वाधिक भेदक-घटक (Distinguishing factor) प्राकारादि-विनिवेश था। वास्तु-शास्त्रीय पुर-निवेश-प्रक्रिया में पुर की रक्षा-व्यवस्था एक महत्वपूर्ण अंग है। यह द्रव्य-साध्य इस योजना के अन्तर्तम में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति एवं राज्य-संचालन संगठन का स्वरूप—ये ही दो कारण हो सकते हैं। आर्यों ने सनातन से प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में अपने तीन चौथाई जीवन का उपक्रम बाँधा। विद्याध्ययन के लिये प्रकृति के उदात्त एवं विस्तृत वातावरण—सरितातट, समीप वन का एकांत भाग, ग्राम अथवा नगर से दूर किसी देवतायतन, मठ, विहार, मण्डप, उटज, अथवा आश्रम—का चयन एवं गार्हस्थ्य-जीवन के उपरान्त वानप्रस्थ एवं सन्यास के लिये भी इसी प्रकार के एकान्त एवं प्राकृतिक स्थानों के प्रति अनुराग—आर्यों की प्रकृति-प्रियता एवं स्वच्छंद जीवन के परिचायक हैं। पुनः नगर एवं ग्राम ऐसे विपुल आवास स्थानों को चहार-दीवारी से घेर कर उसकी विभिन्न-कोटिक उपादानों से दृढ़ता एवं अभेद्यता का सम्पादन कर नागरिक-जीवन का रहस्य क्या हो सकता है?

प्राकारादि-विनिवेश राजधानी नगर अथवा एक महानगर की ही व्यवस्था होती तो भी सहज बोधगम्य थी, परन्तु मानसार आदि शिल्पशास्त्रों में ग्रामों के लिये भी प्राकारादि-विनिवेश अपेक्षित था। अतः यह कहना असंगत न होगा कि प्राकारादि-योजना का श्रीगणेश सर्वप्रथम राजधानी-नगरों में प्रारम्भ हुआ होगा। कालान्तर में जब राज्य सत्ता का सार्वभौमिक स्वरूप विच्छिन्न हो गया तो फिर सम्भवतः ही ऐसा कोई नगर रहा हो जहाँ पर राज-घराने का सम्बन्ध न रहा हो अथवा किसी मण्डलाधिपति का वह हेड क्वार्टर न रहा हो। अतएव यह परम्परा एक सामान्य परम्परा के रूप में हो गयी।

नगर की रक्षा-संविधान की यह समीक्षा मध्य-युग की दृष्टि से स्वरूप की गयी है। सुदूर प्राचीन में जब आर्य जाति ने अपनी प्रभुता की स्थापना के लिये इतस्ततः सर्वत्र अभियानों का ठान ठाना तथा अपने प्रसार के लिये अपने पशुधन-पोषण के लिये उपयुक्त प्रदेशों की खोज में निकले, तो जहाँ जहाँ वे गये अपनी एवं अपने पशुओं—विशेषकर गौओं की रक्षा के लिये गोष्ठों की स्थापना की। ये ही गोष्ठ—गोठों के नाम अपने अधिपति स्वामियों के नाम से कालान्तर में आर्य-कुल अथवा विभिन्न-कोटिक आर्य-परिवारों के नाम से विख्यात हुए। और छोटी-छोटी बस्तियाँ जिनका मुखिया अपने नाम से उनको संज्ञा देता था। इन्हें प्राचीन ग्रामों का लघु स्वरूप (Miniature in Villages) कहा जा सकता है। अतः बहुत सम्भव है उक्त प्राचीन की यह गोष्ठ-व्यवस्था कालान्तर में प्राकारादि-विनिवेश योजना के जन्म एवं विकास में कारण बनी।

सच तो यह है प्राचीन नगरों की निवेश-योजना एक प्रकार की सैनिक-योजना की ओर इंगित करती है। सैन्य-प्रधान-निवेश से तत्कालीन नागरिक जीवन को आक्रांत नहीं समझना चाहिये। तथ्य तो यह है कि भारत एवं भारतेतर पश्चिम के भी प्राचीन नगरों (उदा० फ्लारैंस, स्पार्टा आदि) की भी तो यही व्यवस्था थी—जिनमें वप्रों, परिखाओं एवं प्राकार-भित्तियों ने सनातन से प्रमुखता पाई। बी० बी० दत्त के शब्दों में 'They formed the sine qua non of Aryan habitation' (T. P. in Ancient India)।

अथच यहाँ पर दुर्गाकृति-नगरों के इस सन्निवेश-प्रयोजन की भूमिका में एक संकेत और आवश्यक है। यद्यपि प्राचीन एवं मध्यकालीन दोनों कालों के वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में नगर-निवेश का यह दुर्गाकार एक सामान्य स्वरूप था और रामायण तथा महाभरत आदि प्राचीन साहित्यों में नगरों के जो वर्णन है उनमें भी यही सर्वसाधारण रूपरेखा देखने को मिलती है, तथापि उत्तर-मध्यकालीन बहुत से नगरों में इसका पूर्ण समन्वय नहीं प्राप्त होता है। शनैः शनैः जब सघर्षमय राजनैतिक जीवन समाप्त हुआ तथा शान्ति के साथ रहने का अवसर मिला तो फिर इस व्यवस्था में संस्करण (Modification) भी अनायास देखने को मिलता है। नगर-निवेश के विकास का यह द्वितीय सोपान था—जब दत्त महाशय के शब्दों में 'दुर्गनगर' नाम-मात्रावशेष रह गये और उनकी जगह उन नगरों ने ले ली जो बाहर से नगर, परन्तु भीतर से (मध्य में) दुर्ग थे।" यद्यपि सभी नगर सुरक्षा से सम्पन्न थे। परन्तु नगर एवं दुर्ग—दोनों एक स्वरूप—एकाकार अथवा तदात्मक एवं तद्रूप नहीं था। उदाहरण के लिये जयपुर और झाँसी को देखिये। झाँसी में किला उसके मध्य भाग में है। जयपुर का किला नगर के एक बाह्य-कोण पर स्थित है।

शनैः शनै. विकास का क्रम आगे बढता गया। नगर की रक्षा का संविधान नगर के समीप शिविर-स्थलों छावनियों (Contonements) ने ले लिया जो आज भी प्राय. सभी महानगरों की समान्य रक्षा व्यवस्था है।

नगरो के इस प्राकारादि-विनिवेश पर इस ऐतिहासिक उपोद्धति के उपरात अब हमें इसके वास्तु-शास्त्रीय विभिन्न अंगो की विवेचना करना है। समराङ्गण के अनुसार (अ० १० १-२) नगर की रक्षार्थ प्राकारादि-निवेश के निम्नलिखित प्रधान अग हैः—

१ वप्र एवं परिखा
२. प्राकार
३ द्वार एव गोपुर
४ अट्टालक तथा
५. रथ्या

प्राकारादि-विन्यास मे इन प्रधान अंगो के अतिरिक्त वास्तुशास्त्रीय परम्परा मे कपिशीर्षक—कगूरे (Battlements) काण्डवारिणी (छालदीवारी) चरिका प्राकार-भित्ति का आरोहण मार्ग अथवा प्राकारों पर विन्यस्त मार्ग वीथी (जिसको पाणिनि ने

देवपथ कहा है) आदि आदि भी उपाग हैं जिनकी विस्तृत समीक्षा आगे की जावेगी।

वप्र एवं परिखा

नगर के रक्षा-विधान—प्राकारादि-विनिवेश (Fortification) का प्रारम्भ वप्र से होता है वप्र-भू की परिकल्पना के लिये पुर के चारों ओर परिखायें (१, २ या ३) खोदी जाती हैं। समराङ्गण में तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी तीन-तीन चारों ओर परिखाओं का खनन निर्दिष्ट है। पारिखेयी-भूमि की व्यवस्था नगर मापन का प्रथम अंग है। परिखाओं का खनन एवं वप्र-भू का निर्माण संयुक्त कार्य (Joint-formation) है। परिखाओं के खनन से निकली हुई मिट्टी के द्वारा ही वप्र-भू की रचना की जाती है। विभिन्न ग्रंथों में परिखाओं के विभिन्न परिमाण दिये गये हैं। समराङ्गण के अनुसार घण्टा-मार्ग, जो पुर के चारों ओर दौड़ता है—दे० पिछला अ० 'मार्ग विनिवेश'—के समानान्तर पारिखेयी भूमि का विन्यास अभिप्रेत है। जो प्रमाण घण्टा-मार्ग का होता है उसी प्रमाण से वप्र भू का प्रमाण परिकल्पित है। अत घण्टा-मार्गानुरूप वप्र-भू का परिमाण नगर के ज्येष्ठ, मध्य एवं कनिष्ठ प्रभेद से २४, २० तथा १६ हाथ (३६, ३०, २४ फीट) की चौड़ाई में विहित है।

इस प्रकार वप्र भू के विन्यास के उपरान्त पुर की महारथ्या के आनुपातिक विस्तार-परिमाण से तीन-तीन परिखाओं की खुदाई करना चाहिये। इस प्रकार उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रभेद में परिखाओं की चौड़ाई १२, १०, ८ हाथ (१८, १५, १२ फीट) निकलती है। परिखाओं की गहराई भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में भिन्न भिन्न बताई गयी है। शुक्राचार्य के अनुसार परिखा की गहराई चौड़ाई से आधी हो। कौटिल्य के अनुसार परिखाओं की चौड़ाई १४, १२ तथा १० दण्ड है और गहराई पौनी अथवा आधी होनी चाहिये।

इस प्रकार एवं प्रमाण से परिखाओं के खनन के उपरान्त जो मिट्टी निकले उस को गौवों अथवा गो-वृषभों के पैरों से ताडित करकर (गोवृषभपदताडित) पूरी मिट्टी या तीन चौथाई भाग अथवा आधा भाग को लेकर वप्र का निर्माण करना चाहिये। वप्र की ऊँचाई गज पृष्ठ (हाथी की पीठ) के बराबर बनानी चाहिये। पुन. पारिखेयी अवशेष मृत्तिका से पुर के उन प्रदेशों को, जो निम्न हैं, उनका समतल—बराबर कर देना चाहिये।

इस प्रकार परिखा-खात की सफाई के बाद उनको सतल पूर्णरूप से पक्की ईंटों अथवा पाषाण-शिलाओं से पक्का बना देना चाहिये। पुनः इनको जल से भरना चाहिये। जल-पूरण-व्यवस्था पुर के गम्भीर जलाशयों से पाइप लाइन के द्वारा सम्पन्न सम्पादित की जाती था अथवा नगर के समीप बहने वाली सरिता से। इस प्रकार सारवत्सलता जल-प्रपूरित परिखा के दोनों ओर दो प्रकार के पादपों का आरोपण करना चाहिये जिनका उल्लेख पिछले अध्याय—'देवायतन एवं आरामोद्यानादि' में किया जा चुका है।

इस सप्रकार के मत से इन जल-प्रपूरित परिखाओं में खनन किये जाते थे जिनसे नगर की रक्षा त्रिगुणा परिमित हो प्राप्त होती थी। इनमें नक्रो—मगरों को भी छोड़ा जाता था जिससे शत्रुओं को इन परिखाओं को पार करने में बाधा पड़ सके। (देखिये महा० शा० प० अ० ६९; "ग्राहपूर्णाश्च परिखाः स्थाप्यनक्राकुलाः" ।)

प्राचीन पुरों की ये परिखायें न केवल पुर की रक्षा-व्यवस्था के लिये ही महत्वपूर्ण थीं वरन् नगर की ड्रेनेज व्यवस्था के लिये भी उपयोगी थीं (दे० देवीपुराण अ० ७२, "खातिकारचितं कार्यं प्रणालीभिः समन्वितम्")। दूसरे जैसा ऊपर निर्देश किया गया है इनके खात से प्राप्त मृत्तिका के द्वारा नगर को समतल बनाने में इन से बड़ा साहाय्य मिलता था। तीसरे संकट के समय (Emergency) में इन के द्वारा पुर को प्लावित किया जा सकता था जिससे शत्रु को उस पुर-विजय का कोई लाभ न प्राप्त हो सके तथा वह स्वयं संकटापन्न हो जावे।

प्राकार

परिखाओं एवं वप्रों (Moats and Ramparts) के उपरांत नगर के रक्षा-संविधान का तीसरा अंग प्राकार-विनिवेश है। प्राकारों का विन्यास वप्रों की पृष्ठ भूमि पर परिकल्पित किया जाता है। प्राकार का साधारण अर्थ उत्तुङ्ग मोटी दीवाल है जो पुर के चारो ओर विन्यस्त की जाती है। प्राकारों (Parapets) की रचना पृथु पाषाण-शिलाओं से की जाती थी। अतएव ये दीवालें (परकोटे) अभेद्य बन जाते थे। आज भी प्रायः सभी पुरातन राजधानी-नगरो के भग्नावशेषों मे हमें इन परकोटों के दर्शन होते हैं। राज-स्थान की महानगरियों में आज भी ये प्राकार अपनी प्राचीन स्मृति को स्थिरता प्रदान कर रहे हैं।

प्राकारों की ऊँचाई और चौड़ाई के प्रमाण मे समराङ्गण का निर्देश यह है कि प्राकार-भित्तिया १७ हस्त (२५½ फीट) से अधिक ऊँची और १३ हस्त (१९½ फीट) से कम ऊँची नहीं बनाना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ पुर-प्रभेद से इन परिमाणों में विकल्प भी किया जा सकता है—क्रमशः १७, १५, १३ हाथ की ऊँचाई और १२, १०, ८ हाथ की चौडाई। अथच यह चौडाई पूरे प्राकार मे समान नहीं करनी चाहिये। मूल में जो चौडाई हो वही शिखर में नहीं। समराङ्गण के अनुसार प्राकार के मूल का विस्तार १२ हाथ (१८ फीट) मे सम्पन्न करना चाहिये तथा उसका शीर्ष एक हाथ पर दो दो अंगुल घटाने से केवल १० हाथ (१५ फीट) विस्तृत बनाना चाहिये। यह शीर्ष भाग ४ हाथ (६ फीट) ऊंचा अवश्य रहे।

प्राकारों की रचना मे उसके दो उपाग और उल्लख्य हैं—कपिशीर्षक (कंगूरे) तथा काण्डवारिणी (छालदीवारी)। कपिशीर्षको (Battlements) के विन्यास से प्राकारो की भूषा ही नही सम्पन्न होती है वरन् प्राकारो पर विरचित चरिका (सचारपथ जिसे पाणिनि ने देव-पथ की सज्ञा दी है) पर संचरण के लिये अन्तरावकाशो पर सहारा भी मिलता है। ये कपिशीर्षक स० सू० के अनुसार एक एक हाथ (१½ फीट) ऊँचे निर्मित करने चाहिये। काण्डवारिणी (छाल दीवारी) का परिमाण दो हाथ का बताया गया है।

प्राकारो की विन्यास-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे एक विशेष इंगित यह है कि वैसे सर्व-साधारण रूप से प्राकारो की सख्या एक पुर के लिये एक ही अभिप्रेत थी परन्तु पाटलि-पुत्र महानगरी मे तीन तीन प्रकार-भित्तिया बनायी गयी थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे प्राकारों की संख्या एक से अधिक—सम अथवा विषम—निर्दिष्ट है। अतः महामात्य

चाणक्य के महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त मौर्य की इन महानगरी में चाणक्य के अर्थशास्त्रानुरूप तीन प्राकार-भित्तियां सहज बोधगम्य हो जाती हैं।

प्रथम प्राकारों की ऊँचाई में भी विभिन्न ग्रन्थों के विभिन्न मत हैं। देवी-पुराण (अ० ७२) तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड अ० १०३.) में प्राकार-भित्तियों की ऊँचाई का परिमाण अत्यधिक होने के कारण ग्राह्य नहीं है। प्राकारों की अत्यधिक ऊँचाई पुर में स्वच्छन्द समीरण के प्रवाह को ही नहीं रोकती है, वरन् पुर के स्वरूप सौन्दर्य में भी एक कृत्रिम विषमता उपस्थित करती है। अतएव समराङ्गण का साफ आदेश है कि १० हाथ से अधिक ऊंचे प्राकार न बनाये जावें। शुक्राचार्य भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। शुक्र के अनुसार प्राकार-भित्तियों की उतनी ही ऊँचाई करनी चाहिये जिससे शत्रु एवं दस्यु उनका लंघन न कर सकें—

वप्रिश्चधतस्तु तथा कार्यो दस्युभिर्नविलङ्घ्यते

शु. नी. सा. अ० १

अट्टालक

प्राकारादि-विन्यास (Fortification) का चौथा अंग अट्टालक (Towers and turrets) है। प्राकार-भित्तियों पर सौ सौ हाथ (१५० फीट) के अन्तरावकाशों पर चारों दिशाओं में अट्टालकों का निवेश करना चाहिये। इन अट्टालकों को गोपुर-द्वारों के समान ही भव्याकृति प्रदान की जाती थी। प्राचीन भारतीय वास्तु-कला के अप्रतिम निदर्शन गोपुरों की भव्याकृति पर आवश्य विशेष समीक्षा होगी। यहाँ पर इतना ही संकेत पर्याप्त था कि प्राचीन स्थपति जहाँ पुर के रक्षा-संविधान के लिये इन विभिन्न निर्मितियों के निवेश में दक्ष थे वहां वे कला में सौन्दर्य के सन्निवेश के लिये सदैव दत्तावधान रहते थे। इनकी रचना के सम्बन्ध में समराङ्गण का निर्देश है कि प्राकारों की ऊँचाई के परिमाण में इनका विस्तार अपेक्षित है तथा इनको द्विभौमिक बनाना चाहिये। इनका स्थान चरिका (प्राकार पर प्रतिष्ठित सञ्चरण-मार्ग) के ऊपर होना चाहिये। इनके निर्गमों का प्रमाण इनके विस्तार का आधा वाञ्छित है।

इस प्रकार प्राकारों के स्थान एवं उनकी वास्तु-भूषाओं ([illegible]) के विन्यास के उपरान्त अट्टालकों के सन्निवेश से जो प्राकार के ऊपर स्वतः अनायास ही एक दिव्य एवं अलौकिक वास्तु कृति निष्पन्न होती है उसी को चरिका के नाम से पुकारा गया है। इन ऊपरी सड़क पर बीच बीच में द्वार होने चाहिये। ऊपर चढ़ने एवं नीचे उतरने के लिये सुन्दर सोपान होने चाहियें। इसकी सुरक्षा के लिये इस पर वेदिकायें, निर्यूह आदि वास्तु भूषाओं के साथ-साथ [illegible] छोटे छोटे [illegible] का भी विनियोग करना चाहिये।

इसी चरिका को पाणिनि और कौटिल्य—दोनों ने ही 'चर्यापथ' के नाम से पुकारा है, जिसका कि दो बार ऊपर संकेत किया गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (India as known to Panini, P. 133-9) की चरिका [illegible], [illegible] [illegible]

उल्लेख्य है.—'अष्टाध्यायी में 'देवपथादि' गण (५–३–१००) में 'देवपथ' का प्रथम संकीर्तन है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याकरणाचार्य पाणिनि पुर की परिखाओं एवं प्राकारों की वैज्ञानिक निर्मिति का ज्ञान रखते थे। पाणिनि का यह शब्द 'देवपथ' कौटिल्य के एतद्विषयक निर्वचन से ही समझा जा सकता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्रीय निर्वचन ही एक मात्र उपादेय साधन है जिससे पाणिनि के इस शब्द की व्याख्या हो सकती है। अन्यथा अन्य किसी भी ग्रन्थ में इस पर प्रकाश नहीं ढूढे मिलेगा। पाणिनि के मत मे वह मार्ग जो दिव्य देवपथ के सदृश है वह 'देवपथ' (५–३–१००) के नाम से पुकारा गया है। प्रश्न यह है कि वह कोन सा ऐसा मार्ग है जिसकी समता दिव्यपथ से दी गयी है? कौटिल्य के मत में (अर्थशा० द्वितीय. ३ पृ. ५२) प्राकार पर प्रतिष्ठित सुविस्तीर्ण इन्द्रकोषसमन्वित पथ 'देवपथ' के नाम से पुकारा गया है। कौटिल्य ने वप्र पर विन्यस्त इस प्राकार की ऊंचाई ३६ फीट बताई है और उस पर इन्द्रकोषों (स. सू. के कपिशीर्षकों) का न्यास भी अभिप्रेत है। इस प्रकार यह देवपथ जो चतुर्दिक विन्यस्त नगर-भित्ति पर प्रतिष्ठित है वह आकाशीय दिव्यपथ—देवपथ—की तुलना में सदृश यदि परिकल्पित किया गया है तो वह अपनी ऊँचाई के अनुरूप सहज बोध-गम्य है।'

गोपुर-द्वार

प्राकारादि-विनिवेश (Fortification) का पाँचवाँ अंग गोपुर-द्वार अथवा द्वारा-ट्टालक है। परिखाओं, वप्रों, प्राकारों, अट्टालकों के निर्माणानुरूप नगर के महाद्वारों का भी निर्माण अभिप्रेत है। आज भी प्राचीन अथवा मध्यकालीन महानगरियों (राजधानियों) मे महाद्वारों के हम दर्शन करते हैं। पाटलि-पुत्र के वर्णन-वृत्तान्त में मेगस्थनीज ने उस प्राचीन महानगरी के ६४ महाद्वारों एवं प्राकार-भित्ति पर प्रतिष्ठित ५७० अट्टालकों का उल्लेख किया है। आज भी राजस्थान की शोभा जयपुर महानगरी मे हम ऐसे ही महाद्वारों की सुषुमा देख सकते हैं। इस महादेश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए प्राचीन ऐतिहासिक नगरों के भग्नावशेषों में इन उत्तुंग एव विस्तीर्ण महाद्वारों के सर्वत्र समान रूप से दर्शन होते हैं।

मानसार एवं मयमत आदि दाक्षिणात्य वास्तु शास्त्रीय परम्परा के प्रतिनिधि-ग्रंथों मे महाद्वारों का गोपुरों के नाम से संकीर्तन किया गया है। गोपुरों की वास्तु-आकृति बडे-बडे भवनों एवं प्रासादों से भी भव्य एव दर्शनीय है। दक्षिण के मन्दिरों की प्रमुख विशेषता गोपुर-निवेश है। इन गोपुरों में बहुसख्यक भूमियों (१ से १७ तक) एवं अट्टालकों के सन्निवेश से इनका वास्तु-सौन्दर्य भारतीय स्थापत्य की प्रोज्ज्वल कीर्ति का अप्रतिम निदर्शन है। गोपुर शब्द की कैसे निष्पत्ति हुई—यह कहना नितान्त निर्भ्रान्त नहीं है। शब्द कल्प-द्रुम के अनुसार यह 'गुपू' (रक्षणे) धातु से निष्पन्न हुआ है। अतएव गोपुर-विधान भी मन्दिर अथवा नगर की रक्षा-विधान का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसी परम्परा से हमने भी इसे प्राकारादि-विनिवेश (Fortification) का पाँचवाँ अंग माना है।

यहाँ पर यह निर्देश आवश्यक है कि समराङ्गण सूत्रधार मे नगर के प्राकारादि-विनिवेश मे विभिन्न-कोटिक द्वारों एवं महाद्वारों का तो उल्लेख है, परन्तु उनको गोपुरों के नाम से नहीं पुकारा गया है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी द्वारों के लिये 'गोपुर' शब्द का

प्रयोग नहीं है। कौटिल्य ने इन महाद्वारों का द्वाराट्टालक के नाम से संकीर्तन किया है। अतः लेखक की धारणा है कि गोपुर-द्वारों अथवा 'गोपुर' बहुभूमिक-भवनों ('Gopura' storeyed buildings) का विशेष सम्बन्ध पूजा-वास्तु (Religious architecture like temples etc) से है। इन वास्तु के प्रतिष्ठापक एवं प्रतिनिधि ग्रंथ समराङ्गण ने सम्भवतः इसी हेतु नगर के द्वारों को गोपुर-द्वारों के नाम से नहीं पुकारा। हाँ, हम आगे देखेंगे (भवन पटल—राजवेश्म) कि राजवेश्म (जो प्रासाद—मन्दिर के समान ही परिकल्पित है, में प्रमुख द्वारों को गोपुर-द्वारों के नाम से संकीर्तन किया गया है। अस्तु। यह निर्विवाद है प्राकार का 'गोपुर' द्वाराट्टालक है जिसको स० सू० में केवल द्वारों अथवा महाद्वारों के नाम से उल्लेख किया गया है। स० सू० में भी इन महाद्वारों की विशिष्ट रचना विहित है जो हम आगे 'प्रतोली' के वर्णन में करेंगे।

समराङ्गण में पुर-द्वारों के तीन वर्ग हैं—महाद्वार, वप्रद्वार एवं पक्षद्वार। नगर के महाद्वारों की संख्या स० सू० में १८ है। प्रत्येक दिशा में तीन तीन बड़े बड़े पुर-फाटकों का निर्माण करना चाहिये। 'मार्ग-विनिवेश' के पिछले अध्याय में हमने देखा पुर के बहुविध मार्गों में पूर्व से पश्चिम एक राजमार्ग तथा दो महारथ्यायें विन्यस्त की जाती हैं। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर भी। अतः राजमार्ग एवं महारथ्याओं दोनों पर ही महाद्वारों का विन्यास अभिप्रेत है—प्रत्येक दिशा में तीन महाद्वार (एक राजमार्ग पर तथा दो-दो महारथ्याओं पर) होने से चारों ओर बारह हुए। इनकी चौड़ाई ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ पुर-प्रभेद से राजमार्ग पर ६, ८, ७ हाथ (१३½, १२, १०½ फीट) तथा ६, ५, ४ हाथ (६, ७½, ६ फीट) महारथ्या पर प्रतिपादित की गयी है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक राजधानी-नगर में इस प्रकार के महाद्वारों की संख्या केवल चार है जिनको दिशानुरूप—ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य एवं सैनापत्य (क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम) की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी द्वार-निवेश के विभिन्न मत प्रचलित हैं जिनका उल्लेख प्रासंगिक नहीं।

इन महाद्वारों के अतिरिक्त समराङ्गण में दूसरी कोटि के द्वारों को वप्रद्वार (Principal doors) के नाम से वर्णन किया गया है। वप्रद्वार महाद्वारों के ही समीप निविष्ट होते हैं तथा इनका भी विनिवेश राजमार्ग एवं महारथ्याओं पर ही अभिप्रेत है। विशेषता यह है कि महाद्वारों में प्रतोली (भौमिक-भवन) एक अनिवार्य वास्तु-कृति है। अतः प्रतोली के प्राकारादि-विन्यास व्यवधान से महाद्वार सर्वदा ढके रहते हैं—केवल उनकी शोभा ही विशेष महत्त्व है। अतः यातायात एवं अन्य मार्ग-व्यापारों के लिये महाद्वारों की ही परिधि में वप्रद्वारों—कुमारों की परिकल्पना वांछित है।

तीसरी कोटि के द्वारों को पक्षद्वार कहते हैं। रात्रि में अथवा भय से दोनों द्वार—महाद्वार एवं कुमारद्वार बन्द हो जाते हैं तो ऐसे समय पुर-प्रवेश अथवा पुर-निर्गम के लिये पक्षद्वार (Side doors) ही काम देते हैं।

प्रतोली—हमने पहले ही संकेत किया है कि स० सू० में महाद्वारों पर प्रतोली भवनों का विन्यास वांछित है। प्रतोली शब्द का क्या अभिप्राय है—इसकी व्युत्पत्ति, निर्देश, [illegible] स्वरूप है। [illegible] प्रतोली का [illegible] [illegible]

ने भी अपने महाकोष (Encyclopaedia of Hindu Architecture) में प्रतोली शब्द के निर्वचन में—द्वार-मार्ग (Gateway) अथवा क्षुद्र अट्टालक या नगर का प्रमुख मार्ग—आदि अर्थ दिये हैं। परन्तु हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में भी 'पौरि' शब्द बड़े फाटक के लिये प्रयुक्त पाया गया है। यह 'पौरि' 'प्रतोली' का ही तद्भव शब्द प्रतीत होता है—

प्रतोली पओोली पउलि पौरि

समराङ्गण-सूत्रधार में प्रतोली न तो एकमात्र महाद्वार है और न रथ्या। यह एक त्रिभौमिक (त्रितल—three-storeyed) भवन-विन्यास है जिसका निवेश महाद्वारों पर ही अभिप्रेत है। अतः लेखक के मत में प्रतोली उस विशिष्ट महाद्वार को कहेंगे जिस पर भवन-विन्यास अनिवार्य है। स० सू० का प्रतोली-विषयक निर्वचन (१०. ३८-४८) परिशिष्ट—अवतरण मे द्रष्टव्य है जिससे इस मत का समर्थन प्राप्त हो सकेगा। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में प्रतोली शब्द का प्रयोग किया है तथा उसके विन्यास की दिशा मे केवल इतनी ही सूचना मिलती है कि वह दो अट्टालकों के बीच में निविष्ट की जाती थी। अत. कौटिल्य के अनुसार उसे द्वार कहा जावे अथवा प्राकार-भित्ति पर अट्टालक-सदृश दूसरी भवन-भूषा—असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यह निर्विचिकित्स्य है कि जिस प्रकार गोपुर-द्वारों एवं साधारण महाद्वारो में वास्तुकलात्मक भेद है उसी प्रकार प्रतोली एवं द्वारों मे भी। प्रतोली-महाद्वारो एव गोपुर-महाद्वारो की ये दोनों परम्परायें वास्तु-विद्या की दो प्राचीन परम्पराओं का प्रातिनिध्य करती हुई प्रतीत होती हैं—गोपुर दक्षिण वा० वि० एवं प्रतोली उत्तरी वा० वि०।

प्रतोली की दूसरी विशिष्टता यह है कि इस पर हर्म्य का निवेश भी अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मूषाओं (little doors) चन्द्रशालाओं एवं गवाक्षकों का इसके प्रकोष्ठकों में न्यास करना चाहिये। साथ ही साथ इस प्रतोली-भवन में विभिन्न प्रकार के यत्र, शस्त्र एवं अस्त्र का संभार भी एकत्रित करना चाहिये—क्योंकि पुर की रक्षा-संविधान का ही तो यह भी अंग है। व्यालजाल, शतघ्नी आदि शस्त्र एवं यंत्रों का न्यास न केवल पुर की शोभा के लिये अपितु उसकी रक्षा के लिये भी अभिप्रेत हैं।

प्राकारादि-विनिवेश (fortification) का अन्तिम अवशिष्ट अंग 'रथ्या' है। रथ्याओं पर पिछले अध्याय (दे० मार्ग-विनिवेश) में यथोचित विवेचन हो चुका है। अत इस स्तम्भ को यहीं पर समाप्त कर पुर की विभिन्न आकृतियो एवं उनके अपालन से गर्हित-पुरों के प्रादुर्भाव पर विवेचन, जो आगे के अध्याय का विषय है, आवश्यक है।

८

पुर-आकृति एवं गर्हित पुर

पुर-आकृतियाँ

पुर-निवेश के विभिन्न अंगों की समीक्षा के उपरान्त इस अध्याय में पुर की विभिन्न प्रशस्त आकृतियों की ही समीक्षा नहीं अभिप्रेत है वरन् कौन-कौन सी आकृतियाँ वास्तु-शास्त्र में अप्रशस्त प्रतिपादित की गयी हैं—इस पर भी विचार प्रासंगिक है। अप्रशस्त आकृतियों से प्रादुर्भूत गर्हित पुरों पर समराङ्गण का प्रवचन उसका वैशिष्ट्य है। अतः इन दोनों दृष्टियों से हमें इस विषय की इस अध्याय में विवेचना करनी है।

पुर-विशेष की आकृति का प्रकल्पन पुर-निवेश के संस्थान (Lay out) मानोन्मान (Measurements) एवं मार्ग-विन्यास तथा भवन विन्यास आदि से सम्बन्ध रखता है। प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय परम्परा में निर्दिष्ट पुर-निवेश के नियमों का अणुमात्र भी उल्लंघन असह्य था। अतएव समराङ्गण का आदेश है:—

> शास्त्रज्ञः स्थपतिस्तस्मात् प्रयत्नपरया धिया।
> यथावत् कथितं चारु नगरं विनिवेशयेत् ॥ (१०-६१)

यह प्रवचन न केवल नगर-निवेश के नियमों के आपूर्ण पालन के लिये ही प्रेरणा प्रदान करता है वरन् 'सुन्दर' सन्निवेश पर भी जोर देता है। नगर-निवेश वास्तु-कला का एक प्रधान विषय है। कोई भी कला हो उसमें चारुता होनी ही चाहिये। जो कला सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करती, कल्याणकारिणी नहीं, अथच पूर्वजों के पुञ्जीभूत अनुभव (सत्य) का सम्यक् पालन एवं अनुगमन नहीं करती वह कदापि फलवती नहीं हो सकती। इसी जीवन-दर्शन एवं कला-मर्म को दृष्टि में रखकर समराङ्गण के लेखक ने गर्हित पुरों की अविरल अवतारणा (आगे देखिये) कर सत्य ही कहा है:—

> पुराण्यप्रशस्तानि संस्थानानीदृशानि यत्।
> एकस्मिन्नपि तेनैषां न पुरं विनिवेशयेत् ॥
> संस्थानमेकमप्येषां प्रमादात् क्रियते यदि।
> तदा राष्ट्रं निपीड्येत क्षुद्व्याधिमृत्युभिः ॥ (१०-९७-८)

इस प्रवचन से प्रकट है प्राचीन नगर-निवेश में संस्थान—आकृति एवं मानोन्मान का पालन अनिवार्य था। उसका अपालन अथवा अर्धपालन न केवल पुर-विशेष के लिये ही अशुभ माना जाता था वरन् उस राष्ट्र—देश अथवा जनपद (जिसका वह पुर-विशेष एक इकाई—unit—शृङ्खला थी) के लिये भी अशुभ माना जाता था।

पुर के संस्थान—आकृति के इस औपोद्घातिक निर्देश के बाद अब हमें यह देखना है कि कौन सा आकार विशेष प्रशस्त माना गया है। समराङ्गण सूत्रधार चतुरश्राकार ही सर्व-प्रशस्त आकार मानता है। सत्य तो यह है कि प्राचीन परम्परा में चतुरश्राकार ही न केवल सर्वश्रेष्ठ माना गया है वरन् वह पूर्ण भी समझा गया है। वास्तु-निवेश में चतुरश्राकार की यह परम्परा वैदिक यज्ञवेदी की पावनता एवं उसके आकार का अनुगमन करती है। यज्ञ-वेदी की ही आधार-शिला पर भारतीय स्थापत्य का भव्य भवन खड़ा है। चतुरश्र (चौकोर) आकार की मीमासा में इतना ही सकेत आवश्यक है कि इस आकार में मानव जीवन की पूर्णता निहित है और इसमें संस्थान की पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्रतिष्ठित है। कोई भी सस्थान जो चौकोर नहीं वह पूर्ण नहीं—इस सत्य को हम सब लोग समझ सकते हैं। चार वेद, चार वर्ण, चार आश्रम, चार अवस्थायें, जिस प्रकार ज्ञान, मानवता, मानव-पुरुषार्थ एवं मानव-विकास के प्रतीक हैं, उसी प्रकार वास्तु-रचना में चार अश्रों (चतुरश्र) का महत्व है। अतएव भोज ने (युक्ति-कल्पतरू तथा स० सू०—दोनों में) पुरों के चतुरश्र-विनिवेश में विशेष अभिनिवेश दिखाया है। यही कारण है, जहाँ मयमत, मानसार आदि ग्रंथों ने पुर की प्रतिष्ठा में ८१, ६४, ४६ आदि जिस किसी भी वास्तु-पद का विन्यास प्रतिपादित किया है, वहाँ समराङ्गण ने पुर-निवेश मे ६४ पद-वास्तु का ही उल्लेख किया है। ६४ पद-वास्तु चतुरश्राकृति का आदर्श साइट-प्लान है।

ऊपर संकेत किया गया है नगर के शास्त्र-निर्दिष्ट संस्थान के प्रतिकूल जो संस्थान प्रमादवश प्रकल्पित किये जाते हैं वे ही अप्रशस्त-संस्थान गर्हित पुरों के जनक बनते हैं। परन्तु शास्त्रों का ऐकमत्य नहीं। जहाँ समराङ्गण चतुरश्र-संस्थान को सर्वोपरि मानता है वहाँ मयमत (अ० १०) में चतुरश्र, आयताश्र, वृत्त, वृत्तायत एवं गोलावृत्त—सभी आकृतियों में पुर-निवेश हो सकता है। देवी-पुराण (अ० ७२) में भी विभिन्न-कोटिक पुर-आकृतिया देखने को मिलती हैं—जिनमें त्र्यश्र एवं दीर्घ भी हैं। अग्नि एवं मत्स्य इन दोनो पुराणों के पुर के आकृति-विषयक प्रवचन समराङ्गण के निकट पहुँचते हैं। परन्तु जहाँ अग्नि में चंद्रार्धाकृति की निन्दा है वहाँ मत्स्य में उसकी बड़ी प्रशंसा है। सरिताकूलस्थ (Riparion) नगरो के लिये यह आकार विशेष उपयुक्त है। काशी की चंद्रार्धाकृति से हम सभी परिचित हैं। भविष्योत्तर-पुराण में समराङ्गण के अनुरूप दीर्घ एवं चतुरश्राकार पुरों की ही उपादेयता स्वीकार की गयी है। दीर्घाकार पुर ऐश्वर्य, सुख, शाति एवं स्थायित्व प्रदान करते हैं। चतुरश्राकार मे चतुर्वर्गों (धर्मार्थकाममोक्ष—पुरुषार्थचतुष्टय) की सिद्धि होती है। त्र्यश्र नाशकारक है तथा वर्तुल तो बरबाद ही कर देता है।

श्री दत्त महाशय (see T. P. in Ancient India p. 105) ने ठीक ही लिखा है.—It is clear that the rectangular or square shapes were the most favourable with the Indo-Aryan town-planners and were generally adopted in practice. The circular, triangular multiangular or any irregular civic contours were denounced because such shapes would react upon the planning of sites and buildings and their orientation,

अर्थात् यह स्पष्ट है कि भारतीय आर्य पुर के आयताकार अथवा चतुरश्राकार को ही सर्वाधिक स्थान देते थे और विशेषकर ये ही आकार प्रयोग में भी लाये जाते थे। वर्तुल, त्र्यश्र (तिकोना) बह्वश्र (बहुकोना) अथवा अन्य विषम नगर-आकृतियाँ हेय समझी जाती थीं। क्योंकि इन आकृतियों से पुर का पद-विन्यास ही नहीं बाधित होता था वरन् में निवेश्य भवन-वीथिया और उनके दिक्-साम्मुख्य भी बाधित बन जाते थे।

गर्हित पुर—

'चतुरश्र' आकृति के प्रतिकूल जो साधारणतया संभाव्य आकृतियाँ हैं उन्हीं में निविष्ट पुर गर्हित-पुर के नाम से समराङ्गण में संकीर्तित किये गये हैं। समराङ्गण (१०, ५३-६६) की दिशा मे गर्हित पुर की निम्नलिखित संज्ञायें हैं.—

१. छिन्नकर्ण
२. विकर्ण
३. वज्राकृति
४. सूचीमुख
५. वर्तुल
६. व्यजनाकार
७. चापाकार
८. शकटद्विसम
९. द्विगुणायतसंस्थ
१०. विदिकस्थ
११. भुजंगकुटिल

छिन्नकर्ण—

यथा-नाम जिस नगर के कर्ण ही छिन्न हो गये हो वह क्या कभी प्रशस्त माना जा सकता है। ऐसे कनकटे अर्थात् अचतुराश्राकार पुर में रहने वाले सदैव संकटमय जीवन से आक्रान्त रहते हैं। चौर्यमय, रोग, व्याधि एवं शत्रु-आतक सदैव वहाँ पर व्याप्त रहते हैं।

विकर्ण—

छिन्नकर्ण के भाई विकर्ण की भी यही करुण कहानी है। ऐसे नगर के तथा-कथित नागरिक ईर्षा, द्वेष, अनपत्यता एवं अनायुष्य के हमेशा शिकार रहते हैं।

वज्राकार—

वज्राकार से सम्भवतः अष्टाश्रि—अठकोने नगर का अभिप्राय है। जिस नगर के इतने कोने हैं उस नगर के निवासी भी सदैव यदि कोना ही झाँकते रहते हों तो आश्चर्य की क्या बात ? स्त्री-दासता, विषरोग, षड्यन्त्र आदि धूर्ततायें इस नगर की विशेषतायें हैं। अग्निपुराण (अ. १०६) में भी यह आकृति अप्रशस्त प्रतिपादित है।

सूचीमुख—

यथानाम सूची (सुई) के समान आकृतिवाले (अर्थात् बहुत लम्बा एवं चौड़ा बिलकुल नहीं) इस पुर में दुर्भिक्ष एवं व्याधि का विशेष बोल-बाला रहता है।

वर्तुल—

गोलाकृति पुर को भी समराङ्गण ने अप्रशस्त पुरों में ही परिगणित किया है। समराङ्गण, जैसा कि हम पूर्व ही प्रतिपादित कर चुके हैं, चतुरश्राकृति ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। अतः वर्तुलाकृति भी उसे मान्य नहीं। ऐसे गोल नगर में रहनेवाले नागरिकों के लिये सभी कुछ गोल है। दारिद्र्य, अनायुष्य आदि परिणाम स्वतः सम्भाव्य हैं।

इसके विपरीत ब्रह्माण्ड (अ० ७२) एवं कालिका (अ० ८४) पुराण वर्तुलाकृति पुर को प्रशस्त मानते हैं।

व्यजनाकार—

व्यजन का अर्थ पंखा हम जानते ही हैं। ऐसी आकृति के नगर में झूठों की प्रमुख बस्ती बतायी गयी है। साथ ही साथ यहाँ के निवासी वात-रोग से विशेष पीड़ित रहते हैं। अथच शरीर की वात-व्याधि के अनुरूप यहाँ के निवासी चञ्चल-चित्त भी सदैव रहते हैं।

कालिकापुराण (अ० ८४) ने भी इस आकृति को गर्हित माना है और निदर्शन-रूप यह उल्लेख किया है महापराक्रमी दानवेन्द्र महाराज बलि की महाराजधानी सौनितपुर अपनी व्यजनाकृति के कारण ही नाश को प्राप्त हुई।

चापाकृति—

धनुषाकार पुर के प्राशस्त्य पर हम पूर्व-संकेत कर आये हैं तथा चन्द्रार्धाकृति (धनुषाकृति) के निदर्शन में पुण्यपुरी विश्वनाथपुरी वाराणसी का बखान भी कर आये हैं। परन्तु यह समझ में नहीं आता, समराङ्गण ने इसे भी क्यों गर्हित माना? सम्भवतः चौकोर नहीं। अग्निपुराण तो इसे सर्वाधिक प्रशस्त मानता है। इसी प्रकार कालिका-पुराण ने इसे बड़ा प्रशस्त आकार स्वीकार किया है तथा निदर्शन भी दिया है कि इक्ष्वा-कुओं की प्रिय नगरी अयोध्या की महनीय कीर्ति का कारण उसकी धनुषाकृति है। धनुष शौर्य एवं वीर्य का प्रतीक है। परन्तु समराङ्गण के अनुसार ऐसे नगर के निवासी स्वयं षण्ड एवं उनकी स्त्रियाँ दुश्चरित्र होती हैं।

शकटद्विसमाकार—

दो शकटों—गाड़ियों को बराबर खड़ा करने पर जो आकार निष्पन्न होता है उसे 'शकटद्विसमाकार' कहा गया है। ऐसी आकृतिवाले पुर में रहनेवालों को रोग, शोक, अनल एवं स्तेन (चोर) से भय सदैव विद्यमान रहता है। यही नहीं आरम्भ से ही ऐसे पुर के वासियों की सिद्धियां समाप्त हो जाती हैं, विप्रों को भय समुपस्थित होता है तथा ज्ञातिजनों (कुटुम्बियों) में भेद भी उत्पन्न होने लगता है अर्थात् उनमें परस्पर कलह रहता है। साथ ही साथ समस्त पौरजनों एवं उनके स्वामी (राजा) के गज, वाजि का क्षय भी ध्रुव है।

द्विगुणायतसंस्थान—

आयताकार पुर तो चतुरश्राकार की कोटि में ही आपतित होता है, परन्तु यदि वह द्विगुणायत (जिसकी लम्बी समानान्तर रेखायें चौड़ाई से दुगुनी हों) संस्थित होता है तो वह अप्रशस्त माना गया है। ऐसा पुर रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। बलवान शत्रुओं के आक्रमण से वह पददलित हो जाता है एवं वे ही उस पुर के भोगी बनते हैं।

दिङ्मूढ—

पद-विन्यास के विवेचन के अवसर पर पद के दिक्-साम्मुख्य की ओर पूर्ण रूप से संकेत किया जा चुका है। कोई वास्तु-कृति विदिक्स्थ नहीं होनी चाहिये। चार दिशाओं

एवं चार उपदिशाओं में ही निवेश विहित है। अतः विदिक्स्थ पुर निन्दित है। इसमें निर्योग (शान्ति एवं सुख) का सतत अभाव रहता है। जननाश, अग्निदाह, स्त्रीकृत भय विशेष उल्लेखनीय हैं।

भुजङ्गकुटिल—

यथानाम उस पुर-विशेष की संज्ञा दी गयी है जिसकी आकृति सर्प के समान टेढ़ी मेढ़ी विनिविष्ट की गयी हो। इस पुर के निवासी सदैव शत्रों (युद्ध के प्रतीक) अनिल (आधी आदि) पिशाचों, अग्नि, भूत (प्रेतबाधा) यक्ष आदि के भय से भयभीत रहते हैं। वे रोगी भी रहते है और उनका जीवन शीघ्र ही शेषता को प्राप्त हो जाता है।

समराङ्गण के इन गर्हित पुरो के वर्णन के उपरान्त कतिपय और भी पुर की अप्रशस्त आकृतिया हैं जिन पर भी थोड़ा सा संकेत आवश्यक है। वैसे तो समराङ्गण का यह प्रवचन सागोपाग है एवं एतद्विषयक इतने विस्तृत विवरण अन्यत्र अप्राप्य हैं तथापि कुछ संज्ञा-वैषम्य से उनका भी दिग्दर्शनमात्र यहाँ अभीष्ट है।

मत्स्यपुराण (अ० २०७) पुर की 'यवमध्याकृति' निन्दित मानता है। कालिका-पुराण (अ० ८४) में 'मृदङ्गाकृति' पुर की गर्हता के प्रतिपादन के साथ-साथ यह भी निदर्शन-स्वरूप उल्लेख है कि रावण की सोने की नगरी लंका अपने मृदंगाकृति-निवेश से मिट्टी में मिल गयी।

गर्हित पुरों पर इस विवेचन एवं पुराणों के निर्वचनो में उल्लिखित गर्हित पुरों के दृष्टान्तों से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राचीन भारत के ये वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ कोरे 'शास्त्र' नहीं थे उनमें वस्तु-स्थिति का पूर्ण समन्वय था। जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा के समृद्ध विकास का द्योतक है उसी प्रकार भारतीय वास्तु-शास्त्र के ये ग्रन्थ प्राचीन समृद्ध एवं वैज्ञानिक पुर-निवेश-परम्परा के ही प्रतीक हैं। स्थापत्य कोरा न तो शास्त्र है न विज्ञान। उसमें जीवन एवं संस्कृति—दोनों का समन्वय होना चाहिये। संसार के कतिपय नगरों के जिन आकृति-विशेषों के कारण उनका अवसान अथवा अभ्युत्थान हुआ, उसी को दृष्टि में रखकर आकृति की हेयता प्रतिपादित नहीं वरन् पुर-निवेश में पुर की रक्षा, पौरजनो के विविध सौविध्य एवं उनके स्वास्थ्य आदि के सम्पादन में जो आकृति अनुकूल हो सकती है वही निवेश्य है। 'चन्द्रार्धाकृति' केवल नाद्य-नगरों के लिये ही प्रशस्त है न कि सर्व-साधारण-व्यवस्था।

आधुनिक नगर-निवेश

में

प्राचीन नगर-निवेश

(की देन)

आधुनिक नगर-निवेश

नगर-निवेश की जो पद्धति आजकल प्रचलित है अथच जिसका विकास विशेषकर पश्चिमादि देशों में हुआ और जो आज समस्त सभ्य ससार की स्थायी सम्पत्ति सी बन गयी है उस के विषय में भी थोड़ी सी यहाँ पर जब हम प्राचीन भारतीय नगर-निवेश-पद्धति पर विचार कर चुके हैं, चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। सच तो यह है कि आधुनिक नगर-निवेश की प्रक्रिया—प्राचीन नगर-निवेश-पद्धति के ही आधारभूत सिद्धान्तों पर आश्रित है—हा यह अवश्य है कि परिस्थितिया विभिन्न हैं, अतः श्रोक के शब्दा में 'Modern town planning can be said to be an adaptation of the ancient ideals of T. planning. The basic principles have not changed. It is but putting old wine in new bottles. अर्थात् आधुनिक नगर-निवेश प्राचीन नगर-निवेश का आधुनिक संस्करण है जिसमें आधुनिक परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव है। आधारभूत सिद्धान्त नहीं बदले, शराब वही है, पुरानी है, नयी बोतल में रखी है। साथ ही, इसके कि प्रथम हम आधुनिक नगर-निवेश पद्धति की समीक्षा करें, हम यह भी देखेगें कि आधुनिक सभ्यता में प्राचीन सभ्यता की अपेक्षा कौन कौन सी नवीनताओं का समावेश हो गया है जिनके कारण इस पद्धति मे नवीन घटको का समावेश करना आधुनिक नगर-निवेशकों (Town planners) के लिये आवश्यक हो गया है।

पिछले प्रकरणों में हम इस तथ्य का बहुत बार उद्घाटन कर चुके हैं कि प्रत्येक नगर की अपनी वैयक्तिकता individuality अवश्य होती है। नगर के व्यक्तित्व का निर्माण उस नगर के निवासी—नागरिक करते हैं। प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश मे नागरिकों के रहन सहन, विचार आचार, भोजन-भजन, चाल-चलन आदि परिस्थिति-वश परिवर्तित होते रहते हैं। अतः स्वाभाविक ही है कि आज के मानव में पुराने काल के मानव से उपर्युक्त सभ्यता-सम्पादक, संस्कृति-विधायक जीवन के तरीकों मे वैलक्षण्य होवे ही। आधुनिक युग वैज्ञानिक युग कहा जाता है। विज्ञान ने हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं। विज्ञान के द्वारा जहाँ विभिन्न प्रकार से विशिष्ट ज्ञानार्जन से हमारे रहन सहन आदि जीवन के अंगों मे परिवर्तन उपस्थित हो गये हैं वहाँ

यातायात, व्यवसाय, कार्य-व्यापार, युद्ध आदि में भी बड़े अभिनव परिवर्तन घटित हो गये हैं। स्थान-स्थान पर बड़े बड़े कारखाने, फैक्टरियां, मिल, स्टेशन, व्यावसायिक केन्द्र (Industrial areas) तथा बन्दरगाह स्थापित हो गये हैं तथा प्रतिदिन स्थापित होते जा रहे हैं। सौविध्यवश तथा यातायात के साधन-सौलभ्य के कारण ये कारखाने विशेषकर किसी महानगर के समीप अथवा उसके अभ्यन्तर प्रदेश में स्थापित होते हैं। अतः जब सभ्यता प्रतिदिन उदीयमान है और प्रत्येक सभ्य मानव सुन्दर वेष-भूषा, सद्व्यवहार एवं सद् आचार-विचार के साथ सन्निवास की प्रथम आवश्यकता समझ रहा हो तो आश्चर्य ही क्या ? अतः इस बीसवीं शताब्दी में 'नगर-निवेश' का विषय सार्वभौमिक रूप से सबको समाकृष्ट कर रहा है।

आधुनिक नगर-निवेश-कला के अनुसार इस कला का एक मात्र उद्देश्य किसी एक नये नगर के निर्माण हेतु योजना बनाना ही अभिप्रेत नहीं है, वरन् निर्मित-नगरों के सुधार, प्रधार, विस्तार एवं संहार आदि से किस प्रकार से उसको नये ढंग से नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु सन्निविष्ट एवं सुनिर्मित किया जावे जिससे रहने के सभी साधन एवं सुख समुपलब्ध हो सकें—यह भी परम अभीप्सित होता है। इस दृष्टि कोण से एक नगर के निवेश मे उसके एक मात्र विभिन्न अंगों—जैसे मार्ग-विनिवेश, प्रतोली-विन्यास, हर्म्य-निवेश, पादपारोपण, उद्यान-योजना, पुरजन-विहार-प्रस्तावना आदि आदि के सम्यक् सन्निवेश से ही नगर-निवेश की पूर्ण अभीष्ट-सिद्धि की सफलता का अंकन नहीं किया जा सकता जब तक नगर-निवेशक की अपनी निजी प्रेरणा तथा उत्तरदायित्व के पूर्ण परिपाक के उसमें दर्शन नहीं होते। ठीक भी है। जिस प्रकार से विभिन्न वर्णों (Colours) की संभृत सामग्री से ही चित्र का निर्माण नहीं होता जबतक चित्रकार की प्रतिभा एवं तूलिका इन दोनों का योग नहीं मिलता। अथच जिस प्रकार एकमात्र शब्द-चयन से ही कविता का जन्म नहीं होता जब तक कवि अपनी वरद प्रतिभा से उन में एक दिव्य ज्योति नहीं प्रदान करता। उसी प्रकार एक नगर-निवेश की अपनी पद्धति के साथ-साथ नगर-निवेशकों की अपनी प्रेरणाओं तथा उत्तर-दायित्व के योग का सामञ्जस्य जब तक नहीं स्थापित होता है तब तक यह कार्य ठीक नहीं उतरता।

अतः निर्विवाद है कि नगर-निवेश की वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार नगर में आवश्यक विभिन्न विनिवेश्य इस प्रकार विनिविष्ट हों कि उनका परिणाम सुखद, सुन्दर, सौविध्य-पूर्ण, बहुद्रव्य-निर्व्यपेक्ष्य एव सर्वांग-पूर्ण हो। किसी नये नगर के निवेश में अथवा पुराने नगर के सुधार अथवा प्रसार में, जलदान (Water supply) स्वच्छता (Sanitation), मार्ग-विन्यास-कौशल, प्राकृतिक सुषमा-विरचना, व्यावसायिक वीथियों के विनियोग में यातायात की सुविधा-प्रदान, जनावासों की विभिन्न श्रेणियों का विन्यास, औषधालयों, पुरजन-विहारों, उद्यानों, क्रीडाक्षेत्रों का सम्यक् विनियोग आदि सभी दृष्टि कोणों से नगर-निवेशक अपनी मेधा के सहारे वह रूप दे देता है जो सभी प्रकार की सुविधाओं एवं सुखं की सृष्टि कर सकता है। अथच नगर-निवेश के समय उस प्रान्त अथवा जनपद जिसमें वह नगर आता हो उसको भी दृष्टि में रखना आवश्यक होता है। आधुनिक नगर-निवेश की भाषा में उसे—Regional Planning कहते हैं। सच तो यह है कि

नगर-निवेश (Town-Planning) Regional Planning का ही एक अंग है। यद्यपि यह प्राचीन शिल्प-शास्त्रों में शाब्दिकरूप से नहीं प्रतिपादित किया गया, परतु व्यावहारिक दृष्टि से प्राचीनों का भी इस ओर ध्यान अवश्य था। समराङ्गण तो देश-निवेश अथवा राष्ट्र-निवेश के अन्तर्गत ही नगर-निवेश को मानता है—यह हम पूर्व ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अतः Regional Planning का आधुनिक T. Planning में बड़ा महत्व है तथा होना भी चाहिये। वह प्राचीन पद्धति में भी था।

इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर आजकल हम सर्वत्र बडे-बडे नगरों के सुधारार्थ मास्टर-प्लान का सुमधुर गान प्रायः प्रतिदिन सुनते हैं। बात यह है कि ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ती जाती है, कारखानों की संख्या और उनमें काम करनेवालो की संख्या बढ़ती जा रही है त्यो-त्यो नगरों के विपुलतम प्रसार की आवश्यकता ही नहीं, अनायास अवकाश भी मिलता जाता है। साथ ही साथ एक बात और भी है। आजकल जीवन कठोर है। यथासाध्य योजनाओं की पूर्ति शीघ्रता से नहीं होती। अतः प्रायः सभी नगरों की कार्य-संचालिका नगर-पालियाँ (Municipalities) अथवा कारपोरेशंस नगर-पुनरुद्धार अथवा नगर-सुधार या नगर-पुनर्निर्माण की सुदीर्घ-कालीन योजनायें बनाती हैं और उनकी पूर्ति के लिये प्रतिवर्ष यथा-साध्य कुछ न कुछ कार्य किया करती हैं। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि चूंकि जीवन प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, युग भी बदलता है, अतः मास्टर-प्लान की सभी योजनायें जो किसी काल-विशेष में बनी थीं, वे सर्वदा के लिये तो अविकल रूप से कार्यान्वित नहीं की जा सकतीं—परिस्थितियाँ बदल सकती हैं—आवश्यकतायें भी बदल सकती हैं। अतः मास्टर-प्लान के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है और यहीं पर मास्टर-प्लानर की प्रतिभा की परीक्षा भी है कि उन मास्टर-प्लानों में वर्तमान-कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तो वहाँ पूर्ण अवसर हो ही साथ ही साथ भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार भी उनमें यथोचित गुंजाइश हो। अतः एक आधुनिक नगर-निवेश के लिये जिन विशेषताओं की अनिवार्यता सभी को मुक्तकंठ से स्वीकार होगी वे निम्न रूप से अङ्कित की जा सकती हैं:—

१. यथोचित एवं उपयुक्त विन्यास-योजना।
२. नगर की अपनी वैयक्तिकता।
३. विपुल वायुसचारार्थ खुली जगहें।
४. आबादी की असंकीर्णता।
५. विस्तृत मार्ग।
६. सुन्दर स्वच्छता।
७. प्रचुर-जल-कल-व्यवस्था।
८. पूजा, शिक्षा, क्रीडा तथा मनोरञ्जन के उपयुक्त स्थानों की यथोचित स्थिति।
९. जन-पुरीषालय तथा नालियों की सुव्यवस्था।
१०. घृणित तथा असुन्दर एवं अादर्शनीय दृश्य का अभाव—जैसे धूम्र, धूलि तथा शोरगुल।
११. सौविध्य-पूर्ण तथा सस्ते यातायात के साधन।
१२. जोनिंग—विभिन्न कार्यों एवं आवश्यकताओं के लिये विभिन्न आवासों की रचना।

१३ नगर-संचालन का सुन्दर शासन-प्रबन्ध
१४ नागरिकों का उसमें अनुकूल सहयोग तथा संतोष

अतः स्वयं सिद्ध है कि नगर के प्रमुख घटक (Components) जिन पर उसका नगरत्व आश्रित है वे हैं उनके १ निर्माण २ खुली जगहें तथा ३ यातायात के साधन (means of communication) । इनमें जहाँ तक नगर के निर्माणों (Structures) का सम्बन्ध है वे, जैसा हमने पूर्वपीठिका में प्राचीन नगरों के विकास के प्रकरण में देखा, वे नगर की स्थिति (Situation) से प्रभावित हैं। नगर की यह स्थिति किसी मैदान में है या प्लेटों पर है अथवा पर्वत की उपत्यका में है ? उसकी भूमि समतल है अथवा विषमतल ? उस स्थान का वातावरण किसी धार्मिक स्थान अथवा ऐतिहासिक स्मारक से प्रभावित तो नहीं ? वह स्थान नदी का किनारा है अथवा नदियों का संगम ? किसी पुष्करिणी का तट, या सागर-वेला अथवा औद्योगिक केन्द्र या खानों (mines etc.) का वह स्थान तो नहीं ? अथवा फिर उस स्थान की कोई (Strategic) महत्ता तो नहीं है—ये सभी स्थितिया नगर के निर्माण में पूर्ण प्रभाव डालती हैं। अथच निर्माण में निर्मित स्थान—भवन, मार्ग आदि तथा अनिर्मित स्थान—खुली जगहें—इन दोनों की दृष्टि से एक आधुनिक नगर के निम्नलिखित अवयव विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१ भवन
अ. प्रासाद, हर्म्य, निकुञ्ज—समृद्धों के भवन
ब. साधारण जनावास—फ्लैट्स—जन-वास-वीथिया
स. दरिद्र-वसतियाँ
२ व्यापार-मालिका—(Commercial buildings, banks, offices etc.)
३. औद्योगिक-भवन – कार्यालय तथा मिल (factories, workshops and mills)
४. संस्था-भवन—विद्यालय, महाविद्यालम, पुस्तकालय
५. चिकित्सालय, अस्पताल, रसायनशालायें, स्वास्थ्यशालायें
६. सर्वसाधारण-स्थान (Public places)— नगर-सभा-भवन, न्यायालय, विश्वविद्यालय, रेलवे-स्टेशन
७. हट्टालय
८. मनोरञ्जन के स्थान—प्रेक्षागृह, नाट्यशालायें, चित्र-गृह, स्टेडियम्स, तैरण-तड़ाग
९. पार्क, उद्यान, पुष्प-मण्डप, लतावितान
१०. मार्ग, जलकल, रेल
११. वायुयान-विराम एवं पोत-स्थान
१२. दाह-स्थान

इस प्रकार से हम देखते हैं कि आधुनिक नगर-निवेश की सागोपाग संपन्नता के लिये सागोपाग निवेश-पद्धति की आवश्यकता स्वभावतः होती है। प्राचीन कालीन शिल्पीय ग्रंथों में स्थपति की योग्यता के सम्बन्ध में जो-जो बातें मिलती हैं (देखिये पूर्व अध्याय स्थपति एवं स्थापत्य) वे आधुनिक काल में एक विज्ञ कारीगर (mason) अथवा ओवरसियर या इंजीनियर या नगर-पालिका-संचालक, किसी एक के बूते की बात नहीं है। नगर

निवेश की सुसमीचीन योजना के लिये विशाल ज्ञान-भाडागार की आवश्यकता होती है। हा, नगर-निवेश के सहायकों की ज्ञानराशि के साथ उसकी दूर-दर्शिता, विस्तृत पर्यवेक्षण (wider outlook) के सहारे ही एक नगर के सम्यक् सन्निवेश की सिद्धि हो सकती है।

आधुनिक नगर- निवेश के नियमों में भी प्रथम स्थान भूमि-चयन आदि (preliminary survey) को ही दिया गया है। इस सर्वे में भौगोलिक, भौगर्भिक, तथा जलवायु-परिस्थितयों के साथ-साथ वहा की आर्थिक स्थिति, राजनैतिक परिस्थिति, यातायात के साधन, आबादी, व्यापार-वाणिज्य एवं व्यवसाय, सास्कृतिक कार्यकलाप, प्रसार, स्थानीय सुधार आदि की पर्यवेक्षा करनी पड़ती है।

नगर-निवेश की इस प्रारम्भिक परीक्षा में मान-चित्रों की उपयोगी सहायता लेनी चाहिये। विना मान-चित्रों के समीचीन सन्निवेश की सागोपाग समीक्षा नहीं बनती। भूमि, भूमि-प्रभुता, भूमि-सीमा, जनपद, मार्ग, प्राकृतिक साधन — वन, सरिता, पर्वत, खानें, जलवायु उपज, कृषि, व्यापार, व्यवसाय आदि को दृष्टि में रखकर इस परीक्षा में तत्पर हुआ जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में परम्परागत मानचित्रीय-व्यवस्था के अतिरिक्त वायु-यानीय परीक्षण-विधि परमोपयोगी है। वायु-यानीय पर्यवेक्षण (Aerial-survey) से आजकल के युग में किसी भी स्थान-विशेष के मान-चित्र-निर्माण में सहायता मिल सकती है, विशेपकर ऐसे स्थानों की जहाँ पर प्राकृतिक साधन विपुल होते हुए पहले कभी मानवावास न रहा हो। आधुनिक नगरों के निवेश के सम्बन्ध में भी इतना स्मरणीय है, जो कि सनातन से सार्वभौमिक रूप से सभी प्राचीन एवं पराचीन, पाश्चात्य तथा पूर्वीय सभी नगरो की समान कहानी है, कि किसी नगर की कहानी उस काल की सभ्यता की कहानी है।

नगर-निवेश की पद्धति Formal तथा informal दोनो प्रकार की हो सकती है। प्रथम से अभिप्राय है रैखिक (Geometrical)—यह खाका आयताकार (rectangular) हो सकता है अथवा वृत्ताकार (circular with rings and radial lines) अथवा दोनों का मिश्रण। आधुनिक दुनियाँ के महान नगरों के रेखा-चित्रों को यदि हम देखें तो पता लगेगा कि भिन्न-भिन्न इन विशाल नगरों का विकास अपने-अपने स्थानीय भौगोलिक विशेपताओं के कारण इतना सुविस्तृत एवं सुसमृद्ध हो सका है। योरोप के पेरिस लन्दन, बर्लिन, मास्को आदि बडे-बडे महानगरों के निवेश-मण्डलीकरण ने मकड़ीजाल के स्वरूप को धारण कर लिया है। इसके विपरीत न्यूयार्क, एथेन्स, वाशिङ्गटन आदि महानगरो के निवेश में आयताकृति का स्वरूप अब भी स्थिर है।

प्राचीन पुरो के समान आधुनिक नगरो को भी हम अपनी अपनी प्रयोजन-विशेपताओं अथवा कार्य-व्यापारों के अनुरूप विभिन्न वर्गों में बाँट सकते हैं—औद्योगिक व्यापारिक, विद्यापीठीय, राजपीठीय, स्वास्थ्य-सम्बन्धी, अवकाशयापनीय आदि आदि।

आधुनिक नगर-निवेश की सर्व-प्रमुख विशेपता है—वर्गीकरण—जोनिंग (zoning)। इस जोनिंग-पद्धति का उद्देश्य यह है कि किस प्रकार से नगर की शोभा सम्पन्नता, उसका

सौंदर्य, नागरिकों के सौविध्य आदि के साथ-साथ नगर की उपयोगिता, स्वच्छता, सुरक्षा तथा सुविधा की वृद्धि हो सके। किसी नगर की जोनिंग के लिये उस नगर के विभिन्न विभाग-क्षेत्रों जैसे बसती तथा-खुली जगह, यातायात के साधन के केन्द्र—मार्ग, रेलवे लाइनें जलमार्ग, वायुक्षेत्र के साथ-साथ आमोद-प्रमोद के स्थान—पार्क, उद्यान और पुरजन-विहार इन सभी की व्यवस्था को दृष्टि में रखना पड़ता है। इस प्रकार एक शहर के विभिन्न विभागों के सुव्यवस्थित एवं सुन्दर सन्निवेश के द्वारा उसका निर्माण सुधार अथवा विस्तार को जोनिंग कहते हैं। इस जोनिग-प्रक्रिया के सहारे आधुनिक वास्तु-शास्त्रियों के मतानुसार नगर-निवेश सुसम्पन्न हो सकता है। इस प्रक्रिया के अनुसार नगर को प्रथम जोनों (zones) में बाँट दिया जाता है—भविष्य में आवश्यकीय स्थलों को भी परिगणित कर लिया जाता है तथा पुन. उन सबकी उपयोगितानुरूप व्यवस्था की जाती है। साथ ही साथ गृहों की संख्या तथा उनकी ऊँचाई आदि की व्यवस्था भी आवश्यक होती है, अन्यथा आबादी के संकीर्णता-दोषों से कैसे बचाव हो सकेगा? जोनिंग के अंगों पर थोड़ा सा संकेत किया गया है परन्तु यदि थोड़ा सा और विस्तार देवें तो जोनिग-पद्धति के अनुसार एक आधुनिक नगर के अभीप्सित निम्न वर्ग (zones) आवश्यक हैं :—

१. सरकारी तथा अर्ध-सरकारी इमारतों के वर्ग
२. वाणिज्य-वीथी-वर्ग
३. शिक्षा-निकेतन तथा प्रयोगशालाओं के वर्ग
४. औद्योगिक स्थानों के वर्ग
५. आवास-मालिका के वर्ग
६. क्रीडा-क्षेत्र-वर्ग

पुर-निवेश, पुर-सुधार एवं पुर-प्रसार के सम्बन्ध में मास्टर प्लान—बृहद्-योजना का जिक्र हो चुका है। जोनिंग मास्टर-प्लान का ही एक अति आवश्यक अंग है। अतः इस जोनिंग-प्रक्रिया से हमें एक कठोर अथवा अपरिवर्तनीय व्यवस्था नहीं समझना चाहिए।

आधुनिक-नगर-निवेश-पद्धति के अनिवार्य सिद्धातों के अनुसार नगर-निवेश के विवरणों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें नगर के राजमार्ग, जनपथ, प्रतोली, पादवीथी, रेलवे, ट्रामपथ, मोटरबस तथा अन्यान्य यातायात के मार्ग आदि के सम्यक्-निवेश की ओर ध्यान देना होगा। पुनः स्थान-स्थान पर हट्टालय, चिकित्सालय, विद्यालय, पुस्तकालय, उद्योगालय आदि आदि के साथ-देवालय अथवा पूजालय एवं पुरजन-विहार-स्थान आदि के समीचीन एवं उपयुक्त सन्निवेश के लिये पूर्ण अवकाश प्रदान करना होगा। तीसरे भिन्न-भिन्न आवास-स्थलों में आबादी तथा आबादी के विभिन्न वर्गों के अनुकूल विभिन्न वर्गों की सुविधा और स्वास्थ्य का ख्याल रखना होगा।

इस प्रकार नगर-निवेश में इन आधुनिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों से प्रादुर्भूत अनुभवों के परिशीलन से पता लगेगा कि नगर-निवेश एकाध आदमी के बूते की बात नहीं है। नगर-निवेश की सर्वाङ्गपूर्णता के लिये नगर-निवेश से सम्बन्धित आवश्यक विभिन्न ज्ञान के वेत्ताओं के सहयोग से ही उसकी पूर्ण योजना तथा उसकी कार्यरूप में परिणिति सम्भाव्य है। वास्तु-वित् स्थपति के साथ इञ्जीनियर, सौंदर्य-शास्त्री, अर्थशास्त्री, कानूनदां, कृषि-कुशल,

उद्यान-विशारद, समाज-शास्त्री, जन-स्वास्थ्य-कोविद आदि सभी के सहयोग की इसमें आवश्यकता होगी।

अथच आधुनिक नगर-निवेश-विचक्षणों के सम्मुख सब से बड़ी समस्या आधुनिक महानगरों में विकसित एवं अत्युग्रभावेन पल्लवित स्लम-समस्या का निराकरण है। इस समस्या ने आधुनिक कथित नामधारी विज्ञान युग पर महाकलंक की कालिमा पोत दी है। शहरों की आबादी का एक प्रमुख भाग कर्मकारों तथा साधारण-जीविकोपजीवियों का है। प्रायः धनाभाव एवं अन्य आधुनिक सुविधाओं के अभावों से आक्रान्त ये बेचारे छोटे छोटे कमरों—(कोठरियों) में एक दो नहीं चार-चार पाच-पाच की संख्या में पशुओं के सदृश बाड़ों में रहते हैं, सोते हैं। इस प्रकार विभिन्न रोगों से आक्रान्त तथा ग्रस्त होकर अकाल ही काल के ग्रास बनकर अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर देते हैं। किसी भी देश के राष्ट्रीय-जीवन के लिये इससे बढ़कर और कौन अभिशाप होगा ? अतः प्रायः सभी बड़े बड़े शहरों में स्लम-समस्या के निवारणार्थ इम्प्रूवमेंट-ट्रस्ट, डेवलेपमेंट-बोर्ड आदि आदि नामिका संस्थाओं के तत्वावधान में मास्टर-प्लानें—बृहद्-योजनायें बन रही हैं—बड़ी बड़ी बातें की जा रही हैं-कार्य तो अभी कुछ हो नहीं पाया है। दूसरे, युद्ध के कुपरिणामों के कारण आधुनिक जीवन इतना संकटमय एवं कटु तथा कठोर हो रहा है कि समस्या सुलझती नहीं दीख पड़ती। तब भी सभी सभ्य देश तथा उनकी सरकारें इस ओर सचेष्ट हैं—दत्तावधान हैं—यह तो निस्सन्देह अच्छा लक्षण है। अथच यद्यपि उद्योगधंधों की बढ़ती, मिलों तथा कारखानों की स्थापना, आजकल के न्यूनता-युग (Scarcity age) में उपेक्ष्य नहीं है परन्तु सरकार को किसी फैक्टरी अथवा मिल के संचालन एवं संस्थापन-व्यवस्था की स्वीकृति देने के पूर्व उनमें आवश्यक कर्मचारियों की निवाससमस्या एवं वास-योजना पर पूर्ण रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। साथ ही साथ वर्तमान स्लम-भवनों के सुधारार्थ अथवा उनके आमूल संहारार्थ जो विभिन्न विचार विद्वानों ने प्रकट किये हैं उनको समीक्षा आदि लेखक को यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ पर तो आधुनिक नगर-निवेश की व्यवस्था एवं समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करके प्राचीन भारतीय नगर-निवेश पद्धति की संतुलनात्मक समीक्षा के ज्ञानार्जन से यह व्यवस्था करनी है कि स्वतंत्रता के इस नव-प्रभात में भूतकालीन स्वर्णिम बुनियाद पर वर्तमान के भव्य प्रासाद को हम कैसे बना सकते हैं ? आज हमारे देश में इसी प्रेरणा की आवश्यकता है, इसी उपचेतना की जरूरत है—नहीं तो प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न विकास-योजनायें अथवा सुधार-व्यवस्थायें जो बन रही हैं, वे कामयाब नहीं हो सकेंगी।

अतः संक्षेप मे यहाँ पर इतना ही विशेष उल्लेखनीय है कि चूँकि आजकल नगर-निवेश के आन्दोलन में विशेपकर वर्तमान नगरों का सुधार ही विशेष अभिप्रेत है, अतः उनके नव्य-निवेश एवं उनके सुधार को दृष्टि में रखकर निम्न योजनाओं को कार्यन्वित्त करना ही विशेष अभीष्ट होता है:—

१. भवन-योजना

२. प्रसार-योजना

३. सुधार तथा विकास की योजनायें

४. मार्ग-प्रसार तथा उनके विस्तार की योजना

५. नवीन मार्ग-निर्माण

६ स्लम-सुधार-योजना

७. स्लम-संहार

१. भवन-योजना

भवन-योजना प्रत्येक नगर-निवेश-योजना की एक प्रमुख एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण योजना है। भवन मनुष्य के जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सभ्य मनुष्य की प्रथम आवश्यकता आहार न होकर निवास है। यही सभ्यता एवं असभ्यता किंवा वन्य जीवन के विभेद का निर्णायक है। भवन मनुष्य का स्वर्ग है। अतः यदि पुर-निवेश मे भवन-निवेश का ठीक तरह से ध्यान न रखा गया तो वह स्वर्ग नर्क में परिणत हो जाता है। हत-भाग्य बहुसंख्यक मनुष्यों की यही तो इस कथित सभ्य युग में आत्म-कहानी है। घर कैसा होना चाहिये, घर में कमरों की स्थिति कैसी होनी चाहिये आदि आदि—इस सम्बन्ध में लेखक का भवन-प्रकरण द्रष्टव्य है।

२. विस्तार, प्रस्तार तथा विकास-योजनायें

आधुनिक युग में उद्योग-धंधों के बाहुल्य तथा उनके द्रुततर प्रसार के कारण प्रायः सभी नगरों मे निवास-स्थानों की कमी पद-पद पर महसूस की जा रही है। अतः नगर के बाह्य प्रदेश अथवा समीपस्थ भू-भागों में वसतियों (Localities) के प्रसार एव नव-निर्माण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कालान्तर पाकर ये वसतिया उस नगर के अभिन्न अंग बन जाते हैं और वह नगर एक महानगर में बदल जाता है। नगर-प्रसार में सरकारी पुर-निवेश-विभाग के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह इस दिशा में बड़ी सतर्कता से काम ले, अन्यथा 'विनायकं कुर्वाणो रचयामास वानरम्' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। लोग अपनी अपनी होड़ में अस्त-व्यस्त तरीकों से अव्यवस्थित एवं अवैज्ञानिक तरीकों से घर बनवाने लगते हैं—न मार्गों का ख्याल, न अन्य यातायात एवं अनिर्वाय आवासोपयोगी साधनों की चिन्ता—फल दुःसह तथा अव्यवस्थित निवेश। अतः नगर-निवेश विभाग को इस सम्बन्ध में अपनी एक बृहद्-योजना (Master plan) बना लेनी चाहिये, पुनः सभी दृष्टियों से नगर मे निवेश्य स्थानों की व्यवस्था को ध्यान मे रखकर प्लाटों में समस्त भू-भाग को विभाजित कर उस पर अपनी प्रभुता स्थापित कर मार्ग, नालियां, रेलवे-लाइन तथा जलकल आदि के निर्माण एवं निवेश की योजना बनाकर ही उन प्लाटों पर सुव्यवस्थित घर बनवाने की आज्ञा प्रदान करनी चाहिये—प्रायः यह व्यवस्था न्यूनाधिक रूप में बर्तने लगी है—यह शुभ चिन्ह है।

३. मार्ग-विस्तार योजना

इस योजना का सम्बन्ध नव नगर-निवेश से न होकर पुराने नगरों में संकीर्ण-पथों के सुधार से है। ज्यों ज्यों नगर की आबादी बढ़ती जाती है—उस विशाल जनसंख्या के आवागमन की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए अथच एक विकसित एवं उदीयमान नगर के लिये आवश्यक आधुनिक यानों—ट्राम्स, मोटर, बस आदि के यातायात-सौविध्य के लिये एक सङ्कटाकीर्ण एवं संकुचित मार्ग को विस्तीर्ण करना अनिवार्य हो ही जाता है। परन्तु पथ-विस्तार का कार्य बिना पथ पर स्थित भवनों के संहार के कैसे हो सकता है? अतः इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिये बड़े बडे नगरों में उन भवनों को ध्वंस कर उन का हर्जाना Compensation भवन-पतियों को देकर यह कार्य सम्पन्न करना चाहिये।

स्लम-सुधार

स्लम के विषम परिणामों पर थोड़ा सा संकेत ऊपर किया जा चुका है। अतः स्लम-सुधार एवं स्लम-संहार के लिये यह आवश्यक है कि सरकार स्लम में रहने वाले कर्मकरों—मजदूरों तथा गरीबों के रहने के लिये उपयुक्त स्थानों पर भूमि देकर उनके आदर्श-निवास बनाने की व्यवस्था करे। यह बहु-द्रव्य-साध्य समस्या है। इसमें पूजीपतियों, मिल मालिकों, कार्यालय-सचालकों तथा मजदूरों के भी परस्पर सहयोग एवं साहाय्य की परम आवश्यकता है। गवर्नमेंट इस दिशा मे जागरूक अवश्य है परंतु अभी कोई विशेष परिणाम नहीं निकले। विशेष ध्यान तथा प्रयत्न की आवश्यकता है।

प्राचीन नगर-निवेश की देन

इस अध्याय के पूर्वार्ध में आधुनिक नगर-निवेश की व्यापक आवश्यकताओं एवं तदनुरूप व्यापक सिद्धान्तों के साधारण समीक्षण के उपरान्त अब क्रमप्राप्त प्राचीन-नगर-निवेश के कतिपय उन सिद्धातों का निर्देश करना है जिनके अनुगमन एवं अनुवर्तन से हम आधुनिक नगर-निवेश को विशेष उपादेय एवं सफल बना सकते हैं।

प्राचीन एवं अर्वाचीन समाज एवं संस्कृति मे बड़ा अन्तर है। विज्ञान की उन्नति ने समाज एवं संस्कृति में काया-कल्प कर दिया है। अतः ऐसे समाज के अनुरूप नगर-निवेश मे प्राचीनों के बहुत से नगर-निवेश-नियम व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं। नगर-निवेश का सर्वभेदक घटक प्राकारादिविन्यास का आधुनिक नगर-निवेश में कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। देवतायतय-निवेश के प्रति आजकल प्रायः सभी अ-धार्मिक (Secular) राष्ट्रों का कोई अभिनिवेश हो ही नहीं सकता। 'मार्ग-विन्यास,' 'आरामोद्यानादि विनिवेश' मे भी पर्याप्त संस्करण एवं परिवर्तन की आवश्यकता है।

अथच आधुनिक जटिल जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं के अनुरूप—अन्तर्राष्ट्रीय व्यसाय, पारस्परिक राजनैतिक आदान-प्रदान (Embassies) एवं विभिन्न राजनैतिक, सास्कृतिक एवं व्यावसायिक सम्बन्धो के साथ-साथ राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों (Mills, Factories) तथा अर्थ-प्रवहणियों (Banks, Insurances) सरकारी कार्यालयों

(Secretariats, Magistracies, Collectorates and judicatures) के स्थान-विभाग के लिये आधुनिक नगर-निवेश में विशेषकर महानगरों एवं राजधानी-नगरों के निवेश में पर्याप्त ध्यान देना अनिवार्य हो गया है।

यही नहीं आधुनिक नगर-निवेश में विशेषकर भारतवर्ष ऐसे प्राचीन देश मे (जहाँ पर दीर्घ-कालीन पारतन्त्र के कारण आधुनिक विज्ञान एवं उद्योग के अनुरूप बहुत कम नगर-सुधार अथवा नगर-संहार हुए हैं) नवीन नगर-निवेश की उतनी जटिल समस्या नहीं जितनी प्राचीन नगरों के सुधार की। अतः आधुनिक नगर-निवेश के व्यापक कलेवर मे नगर-निर्माण, नगर-सुधार एवं नगर-संहार—तीनों ही अनायास समाविष्ट हैं। आधुनिक नगर-निवेश की इसी त्रिगुणात्मिका सृष्टि के लिये हमें यहाँ पर विवेचन करना है।

नगर-निर्माण

भारतवर्ष के नगर-निवेशकों को जिस आधारभूत सिद्धान्त (Fundamental Canon) को दृष्टि मे रखने की आवश्यकता है उसके सम्बन्ध मे इतना ही सूत्ररूप से निर्देश है कि नगर निवेश व्यापक भारतीय संस्कृति एवं विशाल भारतीय जीवन के ही अनुरूप हो। पश्चिमीय नगर-निवेश की जो रूपरेखा विकसित हुई है उसका पूर्ण रूप से अनुगमन (Copying) इस देश के लिये उपादेय एवं सफल नहीं हो सकता। हमारा रहन-सहन- आचार विचार, भोजन भजन, परिधान एवं पान, तथा परिवार एवं कुटुम्ब आदि वैसा ही नहीं हैं जैसा पाश्चात्यों का अतः कोई भी नगर-निवेश जो इन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं परिवारिक घटकों का विचार नहीं रखता वह कल्याण कारक नहीं बन सकता।

इसके अतिरिक्त भौगोलिक वातावरण—भूमि, जल, वायु, ऋतु, पादप, पुष्प, शाक एवं फल आदि भी तो सभी देशों के एक समान नहीं। अतः नगर-निवेश में सांस्कृतिक एव सामाजिक घटकों के अतिरिक्त भौगोलिक परिस्थियों का ध्यान भी आवश्यक है।

चिरन्तन से इस देश में मानव का प्रकृति-सान्निध्य प्रसिद्ध रहा है। सरिता के कूल, पर्वत की उपत्यकायें अरण्य का एकांत प्रदेश—विद्यार्जन, तपश्चरण एवं दर्शनानुसन्धान आदि के लिये इस देश की प्राचीनों ने सदैव चुना। इसके अतिरिक्त इस देश की आबादी का बहुत बड़ा भाग ग्राम है। अतः ग्राम-सुधार के लिये नवीन नगर-निवेश मे किसी न किसी समृद्ध ग्राम को निवेश विन्दु (Unit) मानकर इस देश में नव-नगरों की सृष्टि की जा सकती है। अतः जैसा पूर्व ही प्रतिपादित किया जा चुका है (दे. ग्राम-प्रभेद) भारत के राष्ट्रीय नगर-निवेश का प्रारम्भ गावों से करना चाहिये। विभिन्न महानगरो के समीप समृद्ध ग्रामों को चुनकर उनको शाखा-नगर (Branch-towns) के रूप मे यदि हम निवेश करें तो बहुत बड़ी समस्या हल हो सकती है।

हर्ष का विषय है इस ओर आधुनिक नगर-निवेश-विभाग (Town-planning Depts) अग्रसर हो रहे हैं। उत्तर प्रदेश के कतिपय नगरो मे इस प्रकार से शाखा-नगर योजनायें कार्यान्वित की जा री है (उदा० लखनऊ में महानगर-योजना -- परन्तु ऐसी योजनाओं के कार्यान्वित होने में विलम्ब लगेगा। अतः इनको व्यापक बनाने के लिये नागर-

संभारों—पक्की सड़कों, बहु-द्रव्य-साध्य जलकल-व्यवस्था एवं जल-निर्गम व्यवस्था (pipe line & Drainage) तथा पक्के जन-भवन तथा सुसंस्कृत (Well laid) पुर-जन-विहार आदि को कुछ समय के लिये, जब तक यह देश विशेष समृद्ध नहीं हो जाता, स्थगित करना होगा।

(अ) शाखा-नगर—

विभिन्न इतस्ततः फैले हुए समृद्ध ग्रामो के चुनाव से एवं वहा की सुलभ एवं स्वल्पव्यय-साध्य संभारो से अत्यावश्यक आधुनिक यातायात, सूचना, प्रसार एवं शिक्षा के साधनों से समन्वित कर 'शाखानगरों' के रूप में निवेश करने से हम द्रुतगति से नव-नगर-निवेश का राष्ट्रीय कार्य बढा सकते हैं। इस प्रकार प्राचीनों का 'शाखानगरीय' सिद्धान्त (दे 'नगर प्रभेद' अ० ३, पु० नि० पू० पी०) आधुनिक नगर-निवेश के लिये बड़ा उपादेय सिद्ध हो सकता है। पश्चिम के देशों ने भी इस सिद्धान्त को अपनाया है। लन्दन न्यूयार्क, बर्लिन, लेनिनगार्ड, मास्को आदि योरोपीय महानगरों के प्रत्येक के प्रायः प्रचुर-सख्यक शाखा-नगर देखने को मिलते है।

इन शाखा-नगरों की द्रुतगति से स्थापना तभी सम्भव है जब हम एक ऐसी नगर-निवेश धारा (Town Planning Act) बनावे जिसके अनुसार वे लोग जिनका नगर से साक्षात्संबन्ध नहीं है, नगर में रहने के अधिकार से वंचित कर दिये जावें। ऐसे लोगों में रिटायर्ड, राजन्य (Princes) नवाब, मुसाहब, जमीन्दार तालुकेदार आदि विशेष आपतित होते है जो अनायास ही अपने मनोरम शाल-भवनो (Villas) को बनाकर इन शाखानगरो की स्थापना में सहयोग दे सकते है। मत्स्यपुराण (अ० २१७) का यही मर्म है।

प्राचीनो का यह 'शाखा नगर' शब्द बड़ा दी मार्मिक हैं। एक महानगर को यदि हम प्रकाण्ड पादप का तना मानें तो उसके चतुर्दिक इतस्ततः फैले हुए छोटे छोटे नगर (Suburbs) शाखानगर (Branch-towns) हुए, शब्दकल्पद्रुम ने प्राचीन वास्तु शास्त्रीय इसी दृष्टि के अनुरूप 'शाखानगर' की निम्न परिभाषा दी है:—

मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य स्थानाय मूलनगरस्य समीपे प्रक्षे वा या यदन्यत पुरं नगरान्तरं क्रियते तत् शाखानगरं मूलनगरस्य तरुस्थानीयस्य शाखेव।

इस प्रकार ये शाखानगर न केवल नगर की आबादी की बाढ़ को ही रोकेंगे और यदि आकस्मिक संक्रान्ति के समय ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तो प्रधान नगर की आबादी को आत्मसात करने में ही समर्थ न होंगे वरन् उस महानगर के, जिसके कि ये छोटे छोटे नगर, शाखा-नगर है, प्रसार मे भी सहायक बन सकते हैं।

इसी सिद्धान्त को और आगे बढ़ाइये तो इन शाखा नगरो के 'पल्लव ग्राम' की शृंखला भी बाधी जा सकती है जो कालान्तर मे नगर एवं जनपद को जोड़ने मे ही नहीं कृतकाय होगी वरन् नगर के आधुनिक सुलभ साधन—सुविधापूर्ण यातायात, सुलभ सूचना एवं शिक्षा तथा आमोद प्रमोद के विभिन्न उपकरण—प्रेक्षागृह, नाट्यशालायें, चित्रगृह

किसी भी राष्ट्र के प्रजातन्त्रात्मक राज्य के सुसंचालन के लिये भी परमोपयोगी सिद्ध हो सकता है। नगर एवं जनपद (नगर को छोड़कर अवशेष देश 'जनपद' के नाम से पुकारा गया है—नगरं वर्जयित्वान्यत् सर्वं जनपदः स्मृतः स-सू-१८-७६) दोनों को जोड़ने का यही परम साधन है, जो जनतन्त्र का साध्य है।

(ब) केन्द्र-निवेश

इस उपर्युक्त शाखा-नगरीय व्यापक सिद्धान्त के अतिरिक्त नव-नगर-निवेश के सम्बन्ध में एक दो और तथ्यों का संकेत आवश्यक है। इन शाखानगरों के रूप में इन नवीन नगरों का निवेश-बिन्दु केन्द्रस्थ कोई तरु-वीथी अथवा प्रकाण्ड पादप, तड़ाग अथवा सभा-मण्डप (जो आजकल के टाउन-हाल के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है 'प्रजातंत्र' में टाउन हाल ही सबसे बड़ा टेम्पिल—प्राचीनों का देवतायतन है) अथवा पुरजविहारोद्यान होना चाहिये। ये सभी प्रकृति-सुलभ हैं। विशेष व्यय-साध्य भी नहीं हैं। अतः कृत्रिम बड़ी बड़ी इमारतों के स्थान पर इन स्वल्प व्यय-साध्य निवेशों के द्वारा हम कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं। पीछे 'पुर-वसति' नामक अध्याय के विभिन्न-कोटिक निवेश-पद्धतियों के परिशीलन से केन्द्र-निवेश की यह प्राचीन परिपाटी का हम आधुनिक नगर-निवेश में अनुगमन कर सकते हैं।

(स) पद-विन्यास—

आधुनिक नगर-निवेश की रूपरेखा में जोनिंग-प्रक्रिया के सिद्धान्त की समीक्षा इस अध्याय के पूर्वार्ध में हो चुकी है।

आधुनिक नगर की यह जोनिंग-पद्धति प्राचीनों के 'पद-विन्यास' के सिद्धात का एक मात्र संस्करण है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के बहुसख्यक नगरों एवं महानगरों में पद-विन्यास का सर्वथा अभाव पाया गया है। अतः नव-नगरो के निवेश मे नगर-वसति के निवेश में पद-विन्यास का (zoning method) पूर्ण विचार रखना होगा। इस पद्धति का प्रयोजन यह है कि नगर को विभिन्न पदों (blocks) में बाटकर प्रत्येक पद पर जो वसति आदिष्ट हो उसमें रहने वाले समान-धर्मा एवं समान-कर्मा के साथ-साथ सतीर्थ एवं सजातीय भी हों। भले ही प्राचीनों की वर्णाश्रम-पद्धति के अनुरूप यह विभाजन न हो परन्तु यदि पद-वसति मे एक-वर्गीयता हो तो उससे सहयोगिता, सहाध्यवसायिता एव पारस्परिक आदान-प्रदान, व्यवहार एवं वर्ताव में स्फूर्ति एवं प्रेरणा अवश्य प्राप्त हो सकती है। इसी को आजकल की भाषा में (Colonisation) के नाम से पुकार जाता है—मजदूर-कालोनी, टीचर-कालोनी, सेक्रेटेरियट-कालोनी आदि आदि। प्राचीनों का पद-विन्यास वर्णाश्रम-व्यवस्था से अनुप्राणित था। आधुनिक नगर-निवेश मे उसे एक-वर्गीयता की आधार-शिला पर खड़ा किया जा सकता है, जो जनतत्र के लिये बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है तथा जिससे सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा भी मिल सकती है।

(य) शाल-भवन—

केन्द्र-निवेश एवं पद-विन्यास के सिद्धांतों के अनुगमन के साथ-साथ भाग-विनिवेश पर कुछ समीक्षण आवश्यक था, परन्तु वह तो पिष्ट-पेषण ही है। प्राचीनों एवं नवीनों दोनों की पद्धतियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उसमें नगरानुरूप परिवर्तन एवं संस्करण सर्वदा किये ही जा सकते हैं। परन्तु आजकल के संकटापन्न परिस्थिति में एक महत्वपूर्ण समस्या नवीन-गृह-निर्माण-योजना है। प्रायः बड़े-बड़े नगरों की नगरपालिकायें इस ओर बहुद्रव्य-साध्य भवन-मालिकाओं का निर्माण करा रही हैं। विभिन्न राज्यों की सरकारें भी अपने-अपने वार्षिक बजटों में इस कार्य के लिये धन सुरक्षित कर रही हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इस महादेश की महती जनसंख्या के निवासार्थ पक्के मकानों के निर्माण में बहुत बड़ी रकम चाहिये जो साध्य नहीं है। अतः समराङ्गण के शाल-भवनों, जिनके निर्माण में प्राकृतिक, उस सुलभ भवन-सामग्री की ही प्रधानता रहती है, जो स्थान-स्थान पर सुविधा से पायी जाती है, का अङ्गीकरण हमारी इस राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति में योग दे सकती है। अथच, जैसा हम आगे 'भवन' पटल में इन शाल-भवनों की समीक्षा में देखेंगे, इन भवनों में सुलभ वन्य-दारु (पेड़ों की लकडी) से ही विभिन्न भवनाग—स्तम्भ एवं छाद्य (छतें) आदि विनिर्मित हो सकते हैं। साथ ही साथ लकड़ी की छतें पक्की छतों की अपेक्षा उष्ण-प्रधान इस देश के निवासियों के वासयोग्य भी विशेष हैं। शाल-भवनों के रेखा-चित्र (Plans) तथा अन्य ज्ञातव्य पर विशेष समीक्षा का यहा पर अवसर नहीं है।

नगर-सुधार एवं नगर-संहार

नगर-निर्माण के कतिपय प्राचीन नियमों के उल्लेख के उपरात अब नगर-सुधार मे प्राचीनों की पद्धति क्या थी और क्या उससे आधुनिक नगर सुधार में कुछ सहायता मिल सकती है—इस सम्बन्ध मे इतना ही संकेत पर्याप्त है कि प्राचीन भारत मे नगर-सुधार के लिये राज्य की ओर से एक पृथक् विभाग होता था। श्री बी. बी. दत्त महाशय अपनी पुस्तक—'प्राचीन भारतीय नगर-निवेश' मे लिखते हैं.—'यद्यपि आधुनिक सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित नगर सुधार विभागो के समकक्ष प्राचीनो के इन विभागों का लेखबद्ध इतिहास नहीं प्राप्त होता है तथापि विभिन्न एतद्विषयक सकेतो मे यह अनुमान लगाना एवं निष्कर्ष निकालना असगत न होगा कि प्राचीन काल एवं मध्यकाल मे राजा के विभिन्न अधिकारियों में स्थपति एवं उसके विभिन्न सहयोगी आधुनिक नगर-निवेश-मण्डल (Town Planning dept) के अग्रदूत (Prototype) कहे जा सकते हैं। प्राचीन शिल्प-शास्त्रों के व्यापक एव विस्तीर्ण तथा सागोपाग नगर-निवेश-सिद्धातों—पद-विन्यास, मार्ग विन्यास, जनवीथी, राजहर्म्य, सभाभवन, पुरजनविहार, आगम, देवतायतन, वापी,कूप तड़ाग आदि के निवेश-नियमो के साथ साथ स्वच्छन्द प्रकाश एवं स्वच्छन्द समीर के भवन-निवेश-नियम, दो भवनो का परस्पर अवकाश,भवनो के भूमिका -कल्पन-नियम आदि से यही निष्कर्ष निकलेगा कि भवन-रचना मे तथा नगर-निवेश मे राज्य की ओर से पूर्ण उत्तरदायित्व निभाया जाता था तथा उनपर पूर्ण प्रतिबन्ध एवं बाइलाजों के द्वारा पूर्ण शासन भी था यह जभी हो सकता था जब राज्य की ओर से इस परमोपयोगी विभाग के लिये

बहुसंख्यक पदाधिकारी हों। स्थपति तो था ही उसके सहायक इञ्जीनियर और ओवरसियर भी थे जो सूत्रग्राही आदि स्थपति-कोटियों से अनुमेय है। ये सब कर्मचारी गृहाधिपति राजामात्य के अधीन रहते थे। शुक्रनीतिसार में इस ओर पूर्ण निर्देश मिलता है। नगर की परिखाओं, प्राकारों आदि की निगरानी की पूर्णव्यवस्था थी। अतः निश्चय ही उस अतीत में भी पुर-निवेश का सुसंचालित विभाग था।

अतः प्रकट है नगर-सुधार के लिये राज्य की ओर से एक स्थायी विभाग होना चाहिये। योरोप के समृद्ध सभी राज्यों में नगर-निवेश विभाग बहुत काल से काम कर रहे हैं। नव भारत में भी विभिन्न प्रान्तीय सरकारें इस दिशा में जागरूक दिखाई पड़ती हैं तथा नगर-निवेश विभाग स्थापित किये गये हैं। उत्तर प्रदेश राज्य मे यह विभाग विशेष जागरूक है। अत. नगर-सुधार के लिये आज कल देश में विभिन्न योजनाओं (Master Plans) का निर्माण किया जा रहा है। विशेष कर महानगरों की महती योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये विशेष प्रयत्न किये जारहे हैं परन्तु सफलता अभी दूर प्रतीत हो रही है।

नगर-सुधार का कार्य नगर-संहार पर आश्रित है। महानगरो की उपकण्ठ भूमियों पर शाखा-नगरों के स्थापन से ही नगर-सुधार नहीं सम्पन्न हो सकता है। नगराभ्यन्तर संकीर्ण पथ्यायों, जर्जर भवन-वीथियों, अस्वच्छ बसतियों, मजदूरों के अति संकीर्ण कुटीरों (Slums) का जब तक संहार नहीं किया जाता तब तक नगर-सुधार कैसे हो सकता है? अतः नगर-संहार नगर-सुधार के लिये परमावश्यक है।

नगर-संहार-जन्य नागरिकों की नव-बसति-निवेश के लिये शाखा-नगरों का निर्माण अपनाया ही जा सकता है साथ ही साथ प्राचीनों के कतिपय नियम भी कार्यान्वित किये जा सकते हैं।

मत्स्यपुराण के नगर की आबादी के नियमन का नियम निर्दिष्ट किया जा चुका है। देवीपुराण के अनुसार प्रकृतियों (निम्नवर्गीय जनता—मेहतर, धोबी आदि) के निवास-कुटियाँ नगर के बाह्य भाग पर विन्यस्त करना चाहिये। सार्वभौम जन-तन्त्रवाद में यद्यपि प्रत्येक देशवासी का राजनैतिक अधिकार समान है परन्तु मानवता कभी भी एक समान नहीं पनप सकती। वंश Hereditary, वातावरण, व्यवसाय (पेशा) आदि के आधार-भूत घटकों की पृष्ठ-भूमि पर पनपी मानवता समान-धार्मिणी कैसे हो सकती है। अतः यदि नगर-निवेश को सुसंस्कृत एवं सुनियोजित बनाना है तो कोई न कोई आन्तर-योजना Bifercation स्वीकार ही करना पडेगा।

नगर के बाह्य भाग पर विन्यस्त इन शाखा-नगरीय बसतियों को सभी सुविधायें प्रदान करना चाहिये जिससे किसी को असन्तोष न रहे, शिकायत की गुञ्जाइश न रहे। देवीपुराण के अनुरूप ही मयमुनि का भी मत है। नगर के बाह्य भाग पर प्रतिष्ठापित ऐसे उप-नगरों की संज्ञा प्राचीनों ने 'बाहिरिका' दी है।

नगर-सुधार में प्राचीनों का एक दूसरा अनुगमन हम यह कर सकते हैं कि विभिन्न नगरों के विभिन्न प्रयोजनों के स्वरूप-निर्धारण पर विशेष ध्यान दें। जिस

किसी भी नगर को हम विश्वविद्यालयीय नगर अथवा व्यावसायिक-नगर नहीं बना सकते। सभी नगरों में मिलों की स्थापना कदापि आदेश्य नहीं। प्राचीनों के पुर-प्रभेद नगर, पत्तन, पुटभेदन, खेट, खर्वाट, निगम का यही रहस्य था कि नगरों का निवेश नगर-प्रयोजन पर आधारित रहता था। हम भी अपनी नगर-निवेश-धारा के अनुसार यह निश्चित कर दें कि किसी राज्य-विशेष में कौन से नगर किस प्रयोजन का विशेष सम्पादन कर सकते हैं। उन्हीं की आधार-शिला पर नगर-सुधार अथवा नगर-प्रसार प्रारम्भ करना चाहिये।

प्राचीन काल एवं पूर्व तथा उत्तर मध्यकालों में नगर-सुधार के कार्य इसी प्रकार से वैज्ञानिक ढंग से बर्ते जाते थे। श्री बी बी दत्तमहाशय ने अपने ग्रथ में (T. P. in Ancient India Ch. vii) इस विषय की अच्छी समीक्षा की है। प्राचीनों ने क्या किया कैसा किया—यह सब हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। हम को अपनी नवीन आवश्यकताओं एवं नवीन युग के अनुरूप उनमें संस्करण, परिवर्तन एव सवर्धन करके अपने देशकी निवेश-योजना बनानी चाहिये।

अन्त में एक निर्देश यह है कि नगर-निवेश एक कला है। कला मे चारुता का सन्निवेश अनिवार्य है। अतः नगर-निवेश में चारुता के लिये केन्द्र, चतुष्पथ एवं चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं में किसी न किसी वास्तु-भूषा की अवश्य संयोजना करनी चाहिये।

केन्द्र में तड़ाग, पुष्करिणी अथवा उद्यान या पुर-जन-विहार या देवतायतन या फिर टाउनहाल ही सही विनिवेश्य हैं। मार्ग-चतुष्पथों पर कोई न कोई नगरानुरूप भव्याकृति विहित है। अथच पुर की आठों दिशाओं में पुर-द्वारों City gates के समान कोई न कोई वास्तु-भूषा प्रदान करनी चाहिये। बम्बई की शोभा इन्डियागेट है। अतः इस किञ्चित्कर सकेत से विज्ञ आधुनिक नगर-निवेशक घटाव बढ़ाव से इस दिशा में अवश्य कृतकार्य हो सकते हैं।

पूर्व-पीठिका की आधार-शिला पर प्रतिष्ठापित एवं उत्तर-पीठिका के विभिन्न नागरिक उपकरणों की मध्याकृतियों से प्रद्योतित नगर-निवेश का जो स्वरूप विकसित हुआ उसके उपसंहार में केवल इतना ही यहाँ पर संकेत पर्याप्त होगा कि नगर-निवेश का जहाँ विभिन्न भौतिक उपकरणों—पद-विन्यास, मार्ग-निवेश, रथ्या-विभाग, स्थान-विभाग, देवतायतन एवं रक्षा-संविधान तथा आकार-विधान आदि—के द्वारा उसके भव्य कलेवर का निर्माण होता है वहाँ उस पार्थिव कलेवर में सांस्कृतिक ज्योति पुञ्ज के प्रकाश से उसका आध्यात्मिक कलेवर निष्पन्न होता है। गन्ध-विहीन पुष्प की क्या कीमत? संस्कृति-विहीन कोई भी मानवीय व्यापार क्या कभी कल्याण का विधायक बन सकता है। अतः नगर-निवेश तब तक अपूर्ण ही कहा जावेगा जब तक नागरिकों एवं नागरिता का पूर्ण उसमें योग न हो। अच्छे नागरिक सुनिविष्ट नगर की श्रीवृद्धि करते हैं। बुरे नागरिक, गन्दे नागरिक, असंस्कृत एवं अशिक्षित नागरिक उसका स्वरूप ही बिगाड़ देते हैं। मार्गों की सफाई, नालियों की स्वच्छता एवं असंकीर्णता, पुरजन-विहारों एवं जन-भवनों (Public Places) की रक्षा आदि के प्रति जब तक नागरिक सचेष्ट एवं जागरूक नहीं रहते तब तक नगर नगर नहीं रह सकता।

अथच कोई भी मानव-वसति जब तक सहयोगिता, साहचर्य एवं सहाध्यवसाय के उदात्त मानवीय व्यापारों के सहारे नहीं प्रतिष्ठित है तब तक उस मानव-वसति की उन्नति असंभाव्य है। इसी को नागरिकता कहते हैं। नागरिकता के भावों का उदय ही महानगरों की सृष्टि है। नागरिकता ही आधुनिक जनतंत्रवाद की जननी है। अतः जनतंत्रात्मक समाज की सुरक्षा के लिये नागरिकता के भावों की दैनंदिन वृद्धि होनी चाहिये। नगर-निवेश के सांस्कृतिक पक्ष के इसी दृष्टिकोण से हमने उत्तर-पीठिका के विषय-प्रवेश में नागरिक-सभ्यता से सम्बन्धित अथवा नागरिकता के प्रतीक विभिन्न सांस्कृतिक कलाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था।

यद्यपि विभिन्न-वर्गीय नगरों (जैसे विद्यापीठीय नगरों—University towns व्यावसायिक नगरों—Commercial towns राजपीठीय नगरों—Capital towns, स्वास्थ्य-पीठों—Health resorts आदि) की अपनी-अपनी संस्कृति एवं वैयक्तिकता अलग होती हैं, तथापि इन सभी में जो एक सामान्य विशेषता होती है उसे ही नागरिकता कहते हैं।

वास्तव में नगर नागरिकों का प्रतीक है तथा विभिन्न युगों के सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक नवचेतनाओं एवं जागृतियों के ही अनुरूप नगरों का भी विकास हुआ। नगर नागरिकों एवं नागरिकता के स्थावर महाचित्र हैं। साहित्य यदि समाज का दर्पण है तो नगर भी नागरिकों के मन-मुकुरों के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। नगर-

विकास मानव-सभ्यता के विकास की खुली पुस्तक है। अतः मानव-सभ्यता के विकास के इस महासोपान के निर्माण में, रक्षण एवं संवर्धन में प्रत्येक नागरिक के योग दान की अनिवार्यता पर दो रायें नहीं हो सकतीं?

भारत के प्राचीन नगर-निवेश की जो रूपरेखा प्राचीनों ने निर्मित की उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र समान रूप से पाई जाती है। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र (ईसा से लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन) वाल्मीकि की रामायण (और भी अधिक प्राचीन) बाण की कादम्बरी (ईसवीय षष्ठ शतक) आदि सभी प्राचीन साहित्यिक स्रोतों में ही नहीं प्राचीन भग्नावशेषों में भी नगर-निवेश की एक सामान्य परम्परा पर प्रकाश पड़ता है।

अतः अधुनिक नगर-निवेश का, देश एवं समाज की विभिन्न नैसर्गिक एवं अनैसर्गिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के अनुरूप, स्वरूप-स्थिरीकरण परमावश्यक है।

विगत अध्याय (प्राचीनों की देन) में नगर-निवेश के कतिपय प्राचीन सिद्धान्तों का दिग्दर्शन किया गया है। उनके अपनाने से एवं आधुनिक नगर-निवेश के उदीयमान अनुकूल निवेश-सिद्धान्तों (Planning Canons) के भी आदान से हम एक अपनी पद्धति निर्माण कर सकते है जिसमें अपनी आत्मा की रक्षा करते हुए शरीर की भूषा में आधुनिक उपकरणों के द्वारा संयोग एवं समावेश भी कर सकते हैं।

भारतीय नगर-निवेश की जो पद्धति निर्मित हो उसमें भारतीय आत्मा के अक्षुण्ण रक्षण की ओर पूर्ण अवकाश हो तथा वह पद्धति सच्ची हो (अपनी संस्कृति के प्रति) कल्याण-दायिका हो (अपने वर्तमान के लिये) तथा सुन्दर हो (दूसरों के अनुकरण के लिये और अपने सुख के लिये भी)। सत्यं, शिवं, सुन्दरं का यही मर्म है।



परिशिष्ट

विकास मानव-सभ्यता के विकास की खुली पुस्तक है। अतः मानव-सभ्यता के विकास के इस महासोपान के निर्माण में, रक्षण एवं संवर्धन में प्रत्येक नागरिक के योग दान की अनिवार्यता पर दो रायें नहीं हो सकतीं ?

भारत के प्राचीन नगर-निवेश की जो रूपरेखा प्राचीनों ने निर्मित की उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र समान रूप से पाई जाती है। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र (ईसा से लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन) वाल्मीकि की रामायण (और भी अधिक प्राचीन) बाण की कादम्बरी (ईसवीय षष्ठ शतक) आदि सभी प्राचीन साहित्यिक स्रोतों में ही नहीं प्राचीन भग्नावशेषों में भी नगर-निवेश की एक सामान्य परम्परा पर प्रकाश पड़ता है।

अतः आधुनिक नगर-निवेश का, देश एवं समाज की विभिन्न नैसर्गिक एवं अनैसर्गिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के अनुरूप, स्वरूप-स्थिरीकरण परमावश्यक है।

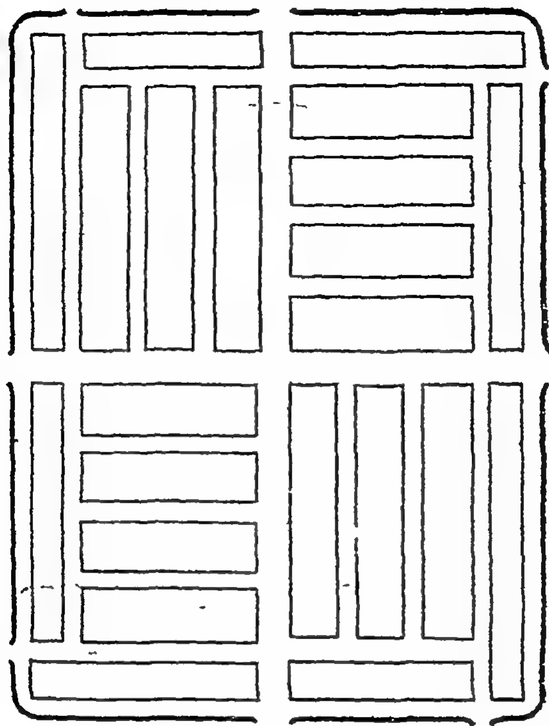
विगत अध्याय (प्राचीनों की देन) में नगर-निवेश के कतिपय प्राचीन सिद्धान्तों का दिग्दर्शन किया गया है। उनके अपनाने से एवं आधुनिक नगर-निवेश के उदीयमान अनुकूल निवेश-सिद्धान्तों (Planning Canons) के भी आदान से हम एक अपनी पद्धति निर्माण कर सकते है जिसमें अपनी आत्मा की रक्षा करते हुए शरीर की भूषा में आधुनिक उपकरणों के द्वारा संयोग एवं समावेश भी कर सकते हैं।

भारतीय नगर-निवेश की जो पद्धति निर्मित हो उसमें भारतीय आत्मा के अक्षुण्ण रक्षण की ओर पूर्ण अवकाश हो तथा वह पद्धति सच्ची हो (अपनी संस्कृति के प्रति) कल्याण-दायिका हो (अपने वर्तमान के लिये) तथा सुन्दर हो (दूसरों के अनुकरण के लिये और अपने सुख के लिये भी)। सत्यं, शिवं, सुन्दरं का यही मर्म है।

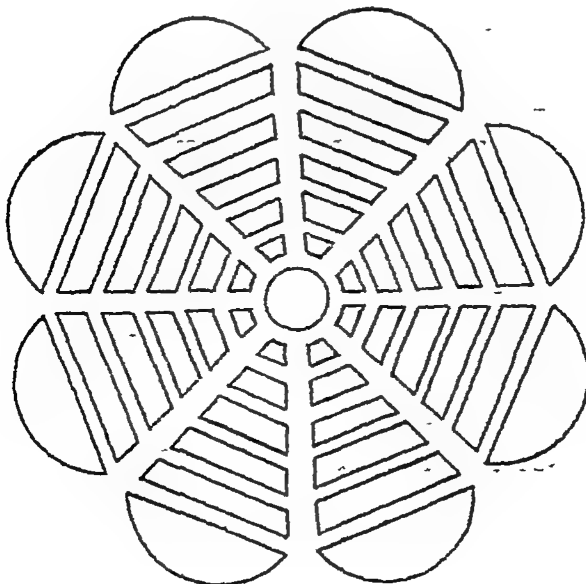


स्वस्तिक

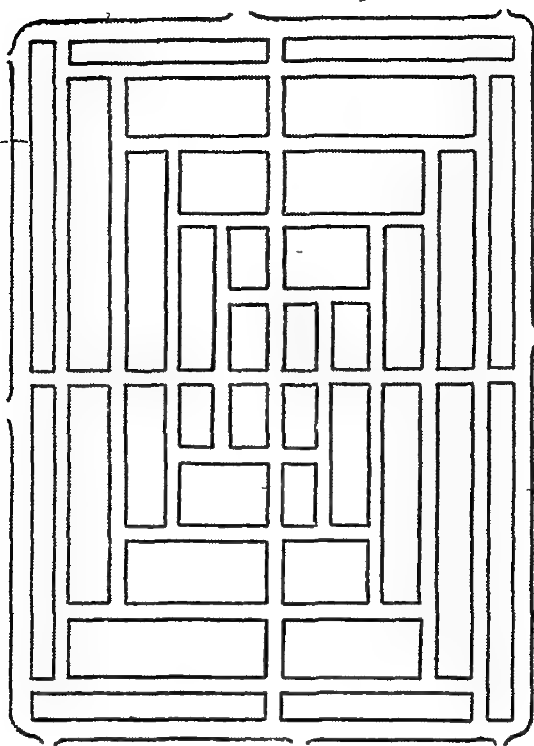




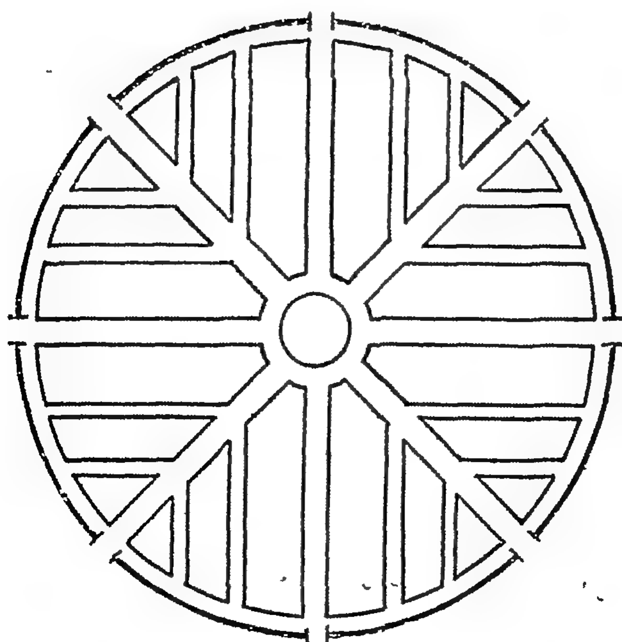
पद्मक



नन्द्यावर्त (चतुरस्र)



नन्द्यावर्त (वर्तुल)



परिशिष्ट (ब)

समराङ्गण-वास्तु-कोष

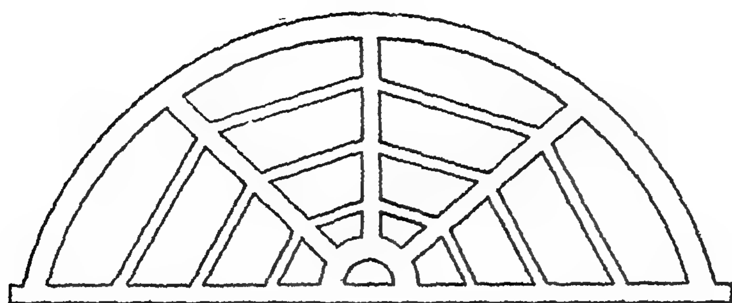
रूपरेखा (out-line)

समीक्षा-पद्धति (दे० अ० १ वा० वि० प्र० प०) में हमने यह संकेत किया था कि एक वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन तभी सम्भव है जब उसकी व्याख्या वास्तु-कला के निदर्शन-स्मारकों से समन्वित हो। शास्त्र एवं कला-दोनों का समन्वय—यही आदर्श अध्ययन है।

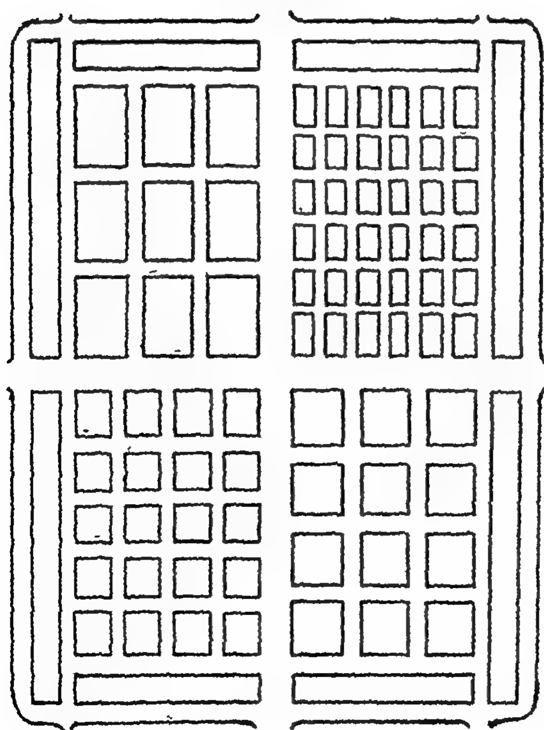
दुर्भाग्यवश हमारे देश में स्थापत्य-परम्परा विद्वान् स्थपतियों के हाथ में न रहकर अपढ़ कारीगरों की सम्पत्ति बन गयी है। कला में वे अवश्य अब भी निष्णात हैं, परन्तु शास्त्रज्ञान-शून्य। पुनश्च जो स्थापत्य-कौशल उत्तर-मध्य-काल तक इस देश की महा-विभूति रही वह अब लुप्त-प्राय सी हो गयी है। वास्तु-शास्त्रों शतशः में ऐसे पारिभाषिक शब्द भरे पड़े हैं जिनका अर्थ लगाना बड़ा ही कठिन अनुसन्धान है। प्रासाद-रचना को ही लीजिये। प्रासाद के विभिन्न अंगों, उपागों, भूषणों एवं भूषाओं के साथ-साथ उसके आधार एवं आधेय, प्रदक्षिणा एवं सहायक-संस्थानों (मण्डप आदि अथवा गोपुर आदि) के शतशः ऐसे शब्द हैं जिनका मर्म समझना बड़ा कठिन हो गया है। अतः भारतीय-विज्ञान के इस विशाल एवं अप्रतिम क्षेत्र—वास्तु-शास्त्र एवं वास्तुकला—के अनुसन्धान, गवेषण एवं चिन्तन तथा मनन में इन परिभाषिक वास्तु-शब्दों का अर्थानुसन्धान एवं निर्मितियों का समन्वय-विधान एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अन्वेषण है। वास्तु-तत्त्व-शोध का यह कार्य एकआध व्यक्ति का काम नहीं। इस ओर विचक्षण विद्वान् जभी अग्रसर हो सकेंगे जब ऐसे शोध को राज्य एवं समाज-दोनों की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। तब भी, जो इस शास्त्र के जिज्ञासु अनुसन्धान-कर्ता हैं, उनका पथ-प्रदर्शन इस अन्धकारा-वृत, गम्भीर एवं दुस्तर वास्तु-महासागर के संतरण में कुछ न कुछ सहायक अवश्य हो सकेगा—भले ही गहराई का पता न लगे अथवा 'रत्नाकर' के रत्न भी न हाथ लग सकें।

डा. प्रसन्नकुमार आचार्य ने इस दिशा में अपना बृहद्-कोष (Encyclopaedia of Hindu Architecture) लिखकर स्तुत्य प्रयत्न किया है। डा० साहब का कार्य दक्षिणी वास्तु-विद्या के प्रतिनिधि ग्रन्थ 'मानसार' (दे० वा० वि० प्र० प० अ०२) शिल्प-शास्त्र के वास्तु-शब्दों तक ही विशेष सीमित है—यद्यपि विभिन्न अन्य ग्रन्थों में उन शब्दों के जो अर्थ अथवा बोद्धव्य पदार्थ संकेतित हैं—उनके भी पृथुल सन्दर्भ दिये गये हैं—साथ ही साथ अन्य साहित्यक, शिलालेखीय एवं स्मारक-निबन्धनीय सामग्री का भी पूर्ण उपयोग किया गया है। तथापि यह कहना असगत न होगा कि भारतीय वास्तु-शास्त्र की एतद्विषयक सामग्री, एक बड़ी मात्रा में, अब भी अनुसन्धातव्य है। एकमात्र 'समराङ्गण-सूत्रधार', जिसे हमने उत्तरी वास्तु-विद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना है, के परिशीलन से शतशः ऐसे वास्तु-शब्द मिले हैं जिनका डा० साहब के कोष में कोई संकेत नहीं है। इन शब्दों की सूची तथा संकेतितार्थ एवं बोद्धव्य पदार्थ पर आगे के

कार्मुक



प्रस्तर



इस ग्रन्थ का विषय वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश से सीमित होने के कारण इनके आनुषङ्गिक काण्डों—वास्तु-काण्ड एवं पुर-काण्ड की एक अतिसंक्षिप्त रूप-रेखा का यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र अभीष्ट है। विशेष प्रयत्न समराङ्गण-वास्तु-कोष के स्वतन्त्र ग्रन्थ में द्रष्टव्य होगा।

वास्तु-काण्ड

स्थापक वर्ग—ब्रह्मा—वास्तु-स्रष्टा

विश्वकर्मा—प्रथम आचार्य, प्रथम स्थपति

पृथु—संरक्षक राजा

महासमा—पृथ्वी—आधार

विजय, जय, सिद्धार्थ, अपराजित—

विश्वकर्मा के मानस-पुत्र जो स्थपतियों के चतुर्वर्ग के प्रतीक हैं।

(Prototypes of the different orders of architects)

स्थपति-वर्ग—स्थपति	दे०	स्थपति एवं स्थापत्य	वा.	वि.	प्र.	प.	अ० ६
तक्षक	"	"	"	"	"	"	
वर्धकि	"	"	"	"	"	"	
सूत्र-ग्राहिन्	"	"	"	"	"	"	
स्थापत्य-वर्ग—							
अष्टाग-स्थापत्य	"	"	"	"	"	"	
वास्तु-वर्ग— वास्तुशास्त्र	दे०	विषय एवं विस्तार	वा.	वि.	प्र.	प.	अ ५
वास्तुविद्या	"		"	"	"	"	
वास्तु-कला	"		"	"	"	"	
वास्तु-पद	दे०	पद-विन्यास	पु०	नि०	उ० पी०	अ० ३	
वास्तु-पद-विन्यास	"		"		"	"	
वास्तु-पद-देवता	"		"		"	"	
वास्तु-पुरुष	"		"		"	"	
वास्तु-पुरुषाङ्गदेवता	"		"		"	"	
वास्तु-देवता-निघण्टु	"		"		"	"	
वास्तु-संस्थान-मातृका	दे०	वा० वि० प्र० प० अ० ३					
वास्तु-परम्परायें	दे०	वा० वि० प्र० प० अ० २					
वास्तु-ग्रन्थ*							

---

*वास्तु-ग्रन्थ

* टि० १—वास्तु-ग्रन्थों में सर्वप्रथम संकीर्तन अथर्ववेद, जिसका वास्तु-शास्त्र उपवेद है (दे० वा० वि० प्र० प० अ० ६), का होना चाहिये। पुनः ब्राह्मण-ग्रन्थों का

विभिन्न पटलों—भवन, राजहर्म्य, प्रासाद, प्रतिमा, चित्र—में यथासाध्य प्रयत्न किया जावेगा। डा० आचार्य के कोष में लगभग डेढ़ हजार वास्तु शब्दों की व्याख्या है। भारतीय वास्तु-शास्त्र मे लगभग दस हजार शब्द हैं जिनमें प्रतिमा-विज्ञान, चित्रकला, यंत्रकला, विभिन्न शैलियों के प्रासाद (मन्दिर) एवं सर्वविध भवन—सभी का समावेश है। यह कार्य साधारण रूप से साध्य नहीं है। बड़े व्यय, अनुसन्धान-कौशल एवं धैर्य की आवश्यकता है तथापि इस महाकार्य में योग देने के लिये कम से कम एक एक ग्रन्थ के अनुसन्धान से जो शब्द-रत्न हाथ लगें उनकी व्याख्या तो वाछित ही है।

अत. लेखक ने भी इस ओर अग्रसर होने की ठानी है। प्रश्न यह है कि इस दिशा में प्राचीनों एवं अर्वाचीनों की शब्द-संकलन की दो पद्धतियों में से कौन सी अपनानी चाहिये। हम जानते ही हैं हमारे देश के प्राचीन कोषकारों—यास्क तथा अमर आदि ने अकारादि (Alphabetical) क्रम से शब्द-संकलन एव उनका अर्थानुसन्धान नहीं किया। उनकी शब्द-संकलन-शैली विषयानुषङ्गिका है। विषयानुरूप शब्द-संकलन है न कि अकारादि क्रम। साधारण-शब्द-सूची में अकारादि-क्रम वर्तना तो अच्छा है—इससे किसी का भी वैमत्य नहीं हो सकता, परन्तु शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या अकारादि क्रम से न तो वैज्ञानिक ही है और न सौविध्य-पूर्ण। उदाहरण के लिये पुर के रक्षा-संविधान के जो प्राकारादि के प्रधान अंग हैं उनमें अट्टालक को 'अ' वप्र को 'व' तथा चरिका को 'च' 'परिखा' और 'प्राकार' को 'प' में संकलित करना कहाँ तक वैज्ञानिक है—यह समझने में देर न लगेगी। अतः यदि रक्षा-संविधान के प्रधान अङ्ग—परिखा, वप्र, प्राकार द्वार, गोपुर, अट्टालक, चरिका आदि सभी की एकत्र व्याख्या मिल सके तो ज्ञानार्जन में बड़ा सौविध्य प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार प्रासाद की व्याख्या में 'प्रासाद' के विभिन्न निवेश्यों को प्रथम प्रधान वर्गों में विभाजित करना होगा पुनः उनके अंगो, उपाङ्गों, अन्तरंगों एवं सहायकाङ्गों पर क्रमिक प्रकाश पड़ने से वह पूरी की पूरी प्रासाद वास्तु-परम्परा सहज बोधगम्य बन सकती है। इसी प्रकार शिला, स्तम्भ, भवन, मण्डप, शिखर एवं छायादि विभिन्नवर्गीय वास्तु-तत्त्वों की व्याख्या एवं समीक्षा दोनों ही सम्पादित हो सकती है।

इसी दृष्टि-कोण से लेखक ने अपने इस प्रयत्न को निम्नलिखित आठ प्रधान 'काण्डों' में विभाजित किया है जो क्रमशः अपने-अपने अध्ययन-'पटलों' में व्याख्येय हैं:—

१. वास्तु-काण्ड
२. पुर-काण्ड
३. भवन-काण्ड
४. यंत्र-काण्ड
५. प्रासाद-काण्ड
६ प्रतिमा-काण्ड
७. चित्र-काण्ड
८. मिश्र-काण्ड

इस ग्रन्थ का विषय वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश से सीमित होने के कारण इनके आनुषङ्गिक काण्डों—वास्तु-काण्ड एवं पुर-काण्ड की एक अतिसंक्षिप्त रूप-रेखा का यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र अभीष्ट है। विशेष प्रयत्न समराङ्गण-वास्तु-कोष के स्वतन्त्र ग्रन्थ में द्रष्टव्य होगा। . .

वास्तु-काण्ड

स्थापक वर्ग—ब्रह्मा—वास्तु-स्रष्टा

विश्वकर्मा—प्रथम आचार्य, प्रथम स्थपति

पृथु—संरक्षक राजा

महासमा—पृथ्वी—आधार

विजय, जय, सिद्धार्थ, अपराजित—

विश्वकर्मा के मानस-पुत्र जो स्थपतियों के चतुर्वर्ग के प्रतीक हैं।

(Prototypes of the different orders of architects)

स्थपति-वर्ग—	स्थपति	दे० स्थपति एवं स्थापत्य वा. वि. प्र. प. अ० ६
	तक्षक	” ” ” ” ” ”
	वर्धकि	” ” ” ” ” ”
	सूत्र-ग्राहिन्	” ” ” ” ” ”
स्थापत्य-वर्ग—		
	अष्टाङ्ग-स्थापत्य	” ” ” ” ” ”
वास्तु-वर्ग—	वास्तुशास्त्र	दे० विषय एवं विस्तार वा. वि. प्र. प. अ ५
	वास्तुविद्या	” ” ” ” ”
	वास्तु-कला	” ” ” ” ”
	वास्तु-पद	दे० पद-विन्यास पु० नि० उ० पी० अ० ३
	वास्तु-पद-विन्यास	” ” ” ”
	वास्तु-पद-देवता	” ” ” ”
	वास्तु-पुरुष	” ” ” ”
	वास्तु-पुरुषाङ्गदेवता	” ” ” ”
	वास्तु-देवता-निघण्टु	” ” ” ”
	वास्तु-संस्थान-मातृका	दे० वा० वि० प्र० प० अ० ३
	वास्तु-परम्परायें	दे० वा० वि० प्र० प० अ० २
	वास्तु-ग्रन्थ*	

---

*वास्तु-ग्रन्थ

* टि० १—वास्तु-ग्रन्थों में सर्वप्रथम संकीर्तन अथर्ववेद, जिसका वास्तु-शास्त्र उपवेद है (दे० वा० वि० प्र० प० अ० ६), का होना चाहिये। पुनः ब्राह्मण-ग्रन्थों को

यदि छोड़ दें तो शूल्व-सूत्रों का संकीर्तन भी कम प्रमुख नहीं है जिनमें वेदि-रचना के जो सिद्धान्त हैं वे ही कालान्तर में प्रासादविरचना के आधार-नियम प्रकल्पित किये गये।

टि० २—संहिताओं, ब्राह्मणों एवं सूत्र-ग्रन्थों के उपरान्त वास्तु-विद्या के आदि ग्रन्थों में कल्प एवं ज्योतिष वेदाङ्गों को नहीं भुलाया जा सकता (दे० वा. वि. प्र. प० अ० २)।

आगम—

टि० ३—२८ आगमों में से निम्नलिखित आगमों में वास्तु-विद्या पर विशेष प्रवचन मिलता है।

१. अंशुमद्भेदागम
२. कामिकागम
३. कर्णागम
४. वैखानसागम
५. सुप्रभेदागम

पुराण—

१८ पुराणों एवं उतने ही उपपुराणों में से निम्नलिखित पुराणों में वास्तु विद्या पर विशेष प्रवचन प्राप्त होते हैं:—

१. अग्निपुराण
२. गरुण ,,
३. नारद ,,
४. ब्रह्माण्ड ,,
५. भविष्य ,,
६. मत्स्य ,,
७. लिङ्ग ,,
८ वायु ,,
९. स्कन्द ,,
१०. देवी ,,
११ कालिका ,,

तन्त्र—

(दे० वा० वि० प्रथम पटल का अ० २)
हयशीर्ष पञ्चरात्र आदि

शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथ—

१. अगस्त्य-सकलाधिकार
२ अंक-शास्त्र
३. अपराजित-प्रच्छा
४. अपराजित वास्तु-शास्त्र

५. अंशुमत (काश्यपीय)
६. अंशुमान-कल्प
७ आगार-विनोद
८. आय-तत्त्व
९. आयादि-लक्षण
१०. आरामादि-प्रतिष्ठा-पद्धति
११. अभिलषितार्थ-चिन्तामणि
१२ कूपादि-जलस्थान-लक्षण
१३. कौतुक-लक्षण
१४ क्रिया संग्रह-पञ्जिका
१५. क्षीरार्णव
१६. क्षेत्र-निर्माण-विधि
१७. गार्ग्य-संहिता
१८. गृह-निरूपण संक्षेप
१९ गृह-निर्माण-विधि
२०. गृह-पीठिका
२१. गृह-वास्तु-प्रदीप
२२ गोपुर-विमानादि-लक्षण
२३. ग्राम-निर्णय
२४. घटोत्सर्ग-सूचनिका
२५. चक्र-शास्त्र
२६. चित्रकर्म-शिल्पशास्त्र
२७. चित्र-लक्षण
२८ चित्र-सूत्र
२९. जयमाधव-मानसोल्लास
३०. जालार्गल
३१. जलार्गल-यंत्र
३२. ज्ञानरत्न-कोष
३३. तच्चु-शास्त्र
३४. तारा लक्षण
३५ दश-ताल - न्यग्रोध - परिमण्डल-बुद्ध-प्रतिमा-लक्षण
३६ दशा-प्रकार
३७. दिक्-साधन
३८. दीर्घ-विस्तार-प्रकार
३९. देवता-शिल्प
४० देवालय-लक्षण
४१. द्वार-लक्षण-पटल
४२. नारद-संहिता
४३ नावा शास्त्र
४४ पक्षि-मनुष्यालय-लक्षण
४५. पञ्चरात्र-प्रदीपिका
४६ पिण्ड-प्रकार
४७. पीठ-लक्षण
४८ प्रतिमा-द्रव्यादिवचन
४९ प्रतिमा-मान-लक्षण
५०. प्रतिष्ठा-तत्त्व
५१. प्रतिष्ठा-तन्त्र
५२. प्रासाद-कल्प
५३. प्रासाद-कीर्तन
५४. प्रासाद-दीपिका
५५. प्रासाद-मण्डन-वास्तु शास्त्र
५६. प्रासाद-लक्षण
५७ प्रासाद-लक्षण
५८. प्रासादालङ्कार-लक्षण
५९. बिम्ब-मान
६०. बुद्ध-प्रतिमा-लक्षण
६१ बुद्ध-लक्षण
६२ मठ-प्रतिष्ठा-तत्त्व
६३. मनुष्यालय-चंद्रिका
६४. मंजुश्री-मूलकल्प
६५. मंत्र-दीपिका
६६. मयमत
६७ महानिर्वाण-तन्त्र
६८. मान-कथन
६९. मानव-वास्तु-लक्षण
७०. मानसार
७१ मानसोल्लास
७२ मानसोल्लास-वृत्तान्त-प्रकाश
७३ मूर्त्ति-ध्यान
७४. मूर्तिलक्षण
७५ मूलस्तम्भनिर्णय

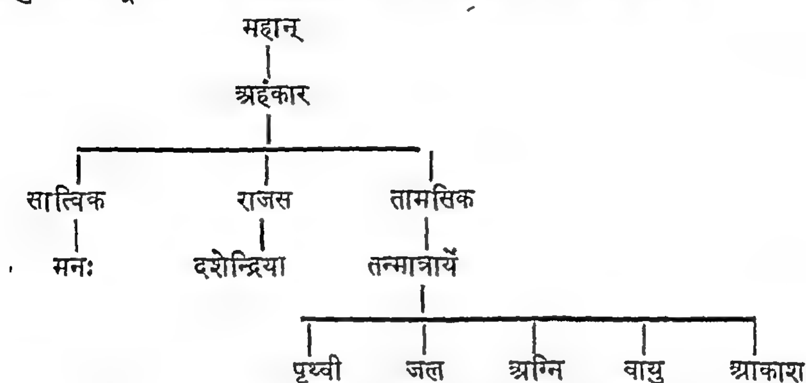
७६. रत्न-दीपिका
७७. रत्नमाला
७८ राजगृह-निर्माण
७९ राजवल्लभ-टीका
८० राशिप्रकार
८१ रूपमण्डन
८२ लक्षणसमुच्चय
८३ लघुशिल्प-ज्योतिष
८४ वलि-पीठ-लक्षण
८५ वास्तु-चक्र
८६ वास्तु-तत्त्व
८७ वास्तु-निर्णय
८८. वास्तु-पुरुष-लक्षण
८९. वास्तु-प्रकाश
९०. वास्तु-प्रदीप
९१. वास्तु-प्रबन्ध
९२. वास्तु-मंजरी
९३ वास्तु मण्डन
९४ वास्तु-योग-तत्त्व
९५ वास्तु-रत्न-प्रदीप
९६ वास्तु-रत्नावली
९७ वास्तु-राजवल्लभ
९८. वास्तु-लक्षण
९९. वास्तु-विचार
१००. वास्तु-विद्या
१०१ वास्तु-विधि
१०२ वास्तु शास्त्र
१०३- वास्तु-शिरोमणि
१०४ वास्तु-समुच्चय
१०५ वास्तु सरणा
१०६ वास्तु-संग्रह
१०७ वास्तु-संग्रह (तामिल)
१०८. वास्तु-सर्वस्व
१०९. वास्तु-सार
११०. वास्तु-सरणी
१११. वास्तु-सार-सर्वस्व-संग्रह
११२ विमान-लक्षण
११३. विश्वकर्मीय-शिल्प
११४. विश्वकर्म-प्रकाश
११५ विश्वकर्म-मत
११६ विश्वकर्म-ज्ञान
११७. विश्वकर्मा-पुराण
११८ विश्वकर्मा-सम्प्रदाय
११९. विश्वविद्याभरण
१२०. वेदान्तसार
१२१. वैखानस
१२२. शास्त्र-जलधि-रत्न
१२३ शिल्पकला-दीपिका
१२४. शिल्प-ग्रंथ
१२५ शिल्प-दीपिका
१२६ शिल्प-निघण्टु
१२७. शिल्प-रत्न
१२८. शिल्प-लेख
१२९. शिल्प-शास्त्र
१३०. शिल्प-शास्त्र-सार-संग्रह
१३१ शिल्प-सर्वस्व-संग्रह
१३२. शिल्प-सार
१३३. शिल्पार्थ-शास्त्र
१३४. शिल्प-शास्त्र
१३५. षड्विदिक-सन्धान
१३६. सनत्कुमार-वास्तु शास्त्र
१३७ सर्वविहारीय-यत्र
१३८ संग्रह-शिरोमणि
१३९. सारस्वतीय-शिल्प-शास्त्र
१४०. स्थल-शुभाशुभ-कथन
१४१. समराङ्गण-सूत्रधार

सृष्टि-वर्ग—दे० महदादिसर्ग (स० सू० अ० ४)

टि०—वास्तु-शास्त्र में सृष्टि-वर्णन का क्या सामञ्जस्य है—इस पर संके

के ५ वें अध्याय में पहले ही हो चुका है। तदनुरूप समराङ्गण में 'महदादि सर्ग' नामक चौथे अध्याय में सृष्टि वर्णन किया गया है।

सृष्टि के विभिन्न सोपान—युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था (ie the earth was a burning ball and hence unfit for any planning) एकार्णवी-अवस्था जब संवर्तक आदि महामेघों ने पृथ्वी को घोरवृष्टि से बुझाया (Cooled down), पुनः इसी सन्धि में हरिशयनावस्था (जो सृष्टि की गर्भावस्था कही जा सकती है) —'हरिः सुष्वाप सलिले कृत्वोदरगतं जगत्' के विराम के उपरान्त ब्रह्म-सुरेश्वर ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है जिन्होंने प्रथम मानसी सृष्टि के द्वारा समस्त विश्व की रूपरेखा तैयार की पुनः उसे मूर्त स्वरूप प्रदान करने के लिये भौतिक सृष्टि प्रारम्भ की:—



पृथ्वी आदि पाच महाभूत क्रमशः एक दूसरे के अधरोत्तर—नीचे नीचे—हैं। पहले पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे जल, जल के नीचे अग्नि, अग्नि के नीचे वायु, वायु के नीचे आकाश (जो आधार है—अवकाशदम्)।

निर्गुण एवं सगुण सृष्टि के दो रूपों में सगुण सृष्टि का उपक्रम बाधा गया जिसकी निम्न रूप-रेखा निभालनीय है.—

मन	से	सुर, असुर, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, पन्नग, नाग, मुनि, अप्सरायें,
नेत्रों	,,	सूर्य एवं चन्द्रमा
गात्रों	,,	नक्षत्र-चक्र
पंचेन्द्रियों	,,	ताराग्रहपञ्चक—'ग्रहत्वं पुनरेतेषामिन्द्रियग्रहणाद् विदुः'
केशों	से	अम्बुमुक्—मेघ
इच्छा	,,	वायु—त्रिलोकी-पावन—चण्ड-समीरण

वायु ने ही जगत् की एकार्णवी-अवस्था को सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों के सहयोग से सुखाया तभी पृथ्वी का उदय प्रारम्भ हुआ जिसे विष्णु की शय्या—शेष-नाग अनन्त (आकाश—आधार का प्रतीक) ने धारण किया। जहाँ जहाँ जल नहीं सूखा वे ही सागर बने। महाजल-वीचि-संघात से ताड़ित एवं महाप्रचण्ड वायु के झोंकों से उद्वेलित पृथ्वी यत्र-तत्र पर्वतों के रूप में प्रकल्पित हुई। पर्वतों ने पृथ्वी को चर्मावरण के समान वितत किया तथा कीलों के समान उसे धारणा-शक्ति प्रदान की। एक पर्वत को दूसरे ने सीमा-विभाजन के रूप में पर्वत-प्रवहिणी सरिताओं का उदय हुआ। इसी प्रकार सागरों के मध्यावकाश में द्वीपों एवं

महाद्वीपो का भी प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार सरिताओं, सागरों, पर्वतों एवं द्वीपों तथा महाद्वीपों में विभक्त पृथ्वी व्यक्त बनी (Became manifest)।

पृथ्वी के ही नीचे प्राणियों के कर्म-भोग के लिये रौरव आदि नरकों की भी सृष्टि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने की। पुनः भूत-ग्राम (चराचर संसार) की रचना की।

जरायुज—द्वेधा—मनुष्य तथा पशु। सात ग्राम्य—मनुष्य, गो, तुरग, छाग मेष, वेगसर तथा खर। सात आरण्य—सिंह, गज, उष्ट्र, महिष, शरभ, गवय तथा कपि।

अण्डज—चतुर्धा—सुपर्ण, भुजग, कीट, पिपीलिका।

स्वेदज—क्लेद (पसीना) एवं केश से उत्पन्न कृमि यूका (जुवा) आदि क्षुद्रजन्तु।

उद्भिज—पञ्चधा—द्रुम, वल्ली, गुल्म, वंश एवं तृण

भुवनकोश-वर्ग—'भुवनकोष, नामक पाचवें अध्याय में क्षिति-निवेश (Physical planning of the Earth) का ही वर्णन नहीं है वरन् सौर-मण्डल के अन्य विभिन्न ग्रहों (planets) की स्थिति एवं गति पर भी प्रकाश डाला गया है।

(i) विष्कम्भ १०१ ६००००० योजन अर्थात् लगभग १६३०४००००० मील

(ii) परिधि ३२६०८००:० योजन अर्थात् (लगभग) ५२१७२८०००० मील

(iii) बाहुल्य ४२००००योजन अर्थात् (लगभग) ६१२०००० मील

टि० चारों सागर, चारों महाभूत एवं महत् पृथ्वी से क्रमशः सौगुने बड़े हैं अर्थात् महत् सबसे बड़ा। यह पृथ्वी जल पर चक्राकर (वृत्तशालिनी) स्थित है।

द्वीप—द्वीपों से यहाँ पर अभिप्राय महाद्वीपों से है। महाद्वीपों की संख्या सात हैं:—

१ जम्बू द्वीप
२ शाकद्वीप
३ कुशाद्वीप
४ क्रौन्चद्वीप
५ शाल्मलिद्वीप
६ गोमेदद्वीप
७ पुष्करद्वीप

जम्बूद्वीप—यह सातों द्वीपों एवं सातों अम्बुधियों के मध्य में स्थित बताया गया है। इसका विस्तार एक लाख योजन है।

अ. जम्बू के पर्वत

इस जम्बूद्वीप के पर्वत उनकी ऊँचाई तथा उनके वासियों की तालिका निम्नाङ्कित है:—

पर्वत	ऊँचाई	वसति
१ हिमवान्	२½ हजार योजन	पिशाच, यक्ष एवं राक्षस।
१ हेमकूट	५ हजार योजन	चारण, गुह्यक आदि
३ निषध	१ हजार योजन	नाग—शेष, वासुकि तक्षक आदि
४. सुमेरु (मणि-कन्दर)	८४ हजार योजन	तैंतीस कोटि देवता अपनी अप्सराओं के साथ
५. नील (वैडूर्यमणि-शिखर)	१ हजार योजन	तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि लोग
६. श्वेत (सुवर्ण-शिखर)	५ सौ योजन	देव-शत्रु

७	शृङ्गी (महानील मणियों एवं मयूर-पिच्छो से बहुल)	२½ हजार योजन	पितृ-गण
८.	गन्धमादन	१ हजार योजन	सस्त्रीक सिद्ध एवं गन्धर्व
६	माल्यवान्	,,	,,

टि० १ इन पर्वतों मे मेरु को छोड़कर सभी अन्य आठ पर्वतों का विस्तार २ हजार योजन है । साथ ही साथ तल-विस्तार (Sub-terranian dimension) ऊंचाई के आधे प्रमाण में प्रतिपादित हैं।

टि० २ इन ६ पर्वतोंके अतिरिक्त १२ और पर्वत हैं जो सर्व दिशाओंमे समुद्राभ्यन्तर ही फैले हुए हैं, ऊपर नहीं—

पूर्व	धूम्रक,	दुंदुभि	आर्द्र
पश्चिम	नारद,	वराह,	सोमक
दक्षिण	मैनाक,	वलाह	चक्र
उत्तर	द्रोण,	कङ्क	चन्द्र

ब. जम्बूद्वीप के वर्ष

१ भारत (धनुपाकृति)—जिसके उत्तर में हिमालय और जिसके दक्षिण में लवण-समुद्र है।
२ किम्पुरुष—हिमालय एवं हेमकूट के बीच।
३ हरिवर्ष—हेमकूट और निषध के अन्तरावकाश में।
४ इलावर्ष—निषध, नील, माल्यवान् तथा गन्धमादन के बीच।
५. रम्यक —नीलोत्तर एवं श्वेतदक्षिण।
६. हैरण्यक—श्वेत-शृङ्गी के मध्य में
७ कुरुवर्ष—शृंगी के उत्तर यथा लवणसमुद्र के दक्षिण।
८. भद्राश्व—नील-निषध के अन्तर तथा माल्यवान पर्वत के पूर्व (समुद्र-पर्यन्त फैला हुआ)
६. केतुमाल—गन्धमादन के पश्चिम एवं पश्चिम समुद्र के पूर्व

टि० इन वर्षों के वासी—जीवन एव भोग आदि की निम्न तालिका देखने योग्य है: —

वर्ष	जीवन (वर्षों में)	भोजन आदि
भारत	—	—
किंपुरुष	अयुत	प्लक्ष-भोजी, स्वर्णकान्तिक।
हरिवर्ष	सायुत सहस्र	इक्षु रस के भोजी, रजत-कान्तिक।
इलावृत्त	सपादायुत	जम्बूफल के रस पर रहने वाले।
रम्यक	अयुत	न्यग्रोधफलभुक्
हैरण्यक	,,	लकुचाशी

कुरुवप	,,	अभीष्ट वृक्षों से
भद्राश्व	अयुत	नीलाम्रक-फलाहारी
केतुमाल	,,	पनस-भोजी

टि० यह वर्ष मेरुतटाच्छन्न होने के कारण सूर्य, चन्द्र एवं ताराओं के प्रकाश को नहीं प्राप्त कर पाता है। अपनी अपनी अंग कान्ति से ही लोग यहाँ रहते हैं—पद्म राग कान्तिक हैं ये न। जम्बूद्वीप की इन प्रधान विशेषताओं के उपरान्त अन्य द्वीपों का तो विशेष विस्तार ग्रन्थ में नही है और न यहीं पर हो सकता है। जहाँ जम्बू लवण-समुद्र से परिवृत है वहाँ शाकादि द्वीपषट्क क्षीर (दुग्ध), आज्य (घृत) दधि, मद्य, ईक्षुरस तथा मधुर समुद्रों से परिवृत बताये गये हैं। निम्न तालिका से इस द्वीप-षट्क के पर्वत एवं वर्षों का स्वरूप अवधार्य है:—

द्वीपषट्क	पर्वत	वर्ष
शाक	उदय, जलधर, नारक, रैवत श्याम, राजत तथा आम्बिकेयक—७	जलद, कुमार, सुकुमार मणीचक, कुसुमोत्तर, मोदाकी, महाद्रुमवन,७
कुश	विद्रुम, हेम, द्युतिमान, पुष्पवान्, कुशेशय, हरिद्मभृत् तथा मन्दर—७	उद्भिद, वेणुवत्, सराल, लम्बन, श्रीमत्, प्रभाकृत् कपिल तथा पन्नग—८।
क्रौञ्च	क्रौञ्च, अन्धकार, देव, गोविन्द, वामन, द्विविद तथा पुण्डरीक—७।	कुसल, अष्ट, परापत मनोनुग, मुनि, अन्धकार तथा दुन्दुभि—७।
शाल्मलि	रक्त, पीत तथा सित—३	शान्तभय एवं वीतभय—२
गोमेद	सुर तथा कुमुद—२	धातकी-खण्ड—१
पुष्कर	मानसोत्तर	महावीत

आगे विश्वकर्मा जी कहते हैं (७७—७९) कि इसी पुष्कर-द्वीप के महावीत वर्ष में उन्होंने निम्न देव-नगरियों का निवेश किया था:—

वस्वोकसारा	ऐन्द्री	पूर्व
सयमनी	याम्या	दक्षिण
सुखा	प्राचेतसी	पश्चिम
विभा	सौम्या	उत्तर

टि०—महदादिसर्ग एवं भुवनकोश-समराङ्गणीय इन दो अध्यायों की जिस सामग्री का संक्षेप में हमने यहाँ पर 'भूमि-निवेश' मे किया उसका एकमात्र वास्तु शास्त्रीय सम्बन्ध यह है कि कोई भी पार्थिव कृति वास्तु है। भूमि अपनी प्राकृतिक स्थिति मे 'भूमि' है, वही निविष्ट होने पर वास्तु है। अथच जैसा कि वास्तु के विषय एवं विस्तार मे हमने देखा समराङ्गण की वास्तु-दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। वास्तु-शास्त्र का विषय भवन-निवेश ही नहीं पुर-निवेश ही नहीं, देश विनिवेश ही नहीं—अखिल भूमण्डल ही निवेश्य है—अतः 'क्षिति-निवेश' की इस व्यापक वास्तु-दृष्टि का हम मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

त्रैलोक्य निवेश—सूर्यादि-ग्रह-स्थिति—सौरमण्डल में 'पृथ्वी' एक लघु इकाई है। भूलोक एव उसके निवासियों का जीवन अन्य लोकों से सदैव प्रभावित एवं अनुप्राणित रहता है। अतः क्षिति-निवेश के लिये अन्य ग्रहमण्डल के सदस्यों का सकेत भी कुछ न कुछ आवश्यक है। भूतल के ऊपर निम्न लोकों की क्रमिक ऊर्ध्वगामिनी सत्ता बतायी गयी है:—

१.	सूर्य	६.	अर्क (शनैश्चर)
२.	चन्द्र	७.	त्रिदशार्चि (बृहस्पति)
३.	धिष्ण्य (शुक्र)	८.	सप्तर्षि
४.	भौम	९.	ध्रुव
५.	शसित (बुध)		

इन ग्रहों (पृथ्वी से अर्किशनैश्चर तक) का परस्पर एक एक हजार योजन के अन्तर (Intervening distances) है। शेष चार ग्रहों के अन्तरावकाश का परिमाण दो दो लक्ष योजन है, इस प्रकार धरित्री और ध्रुव के बीच का अन्तरावकाश अर्थात् त्रैलोक्य का समुत्सेध १४ नियुत योजन हुआ।

त्रैलोक्य यहीं पर समाप्त नहीं होता है। वास्तविक त्रैलोक्य तो अभी और ऊपर है। ऊपर के लोक अपनी दूरी के साथ निम्न रूप से बोधव्य है:—

महः लोक—ध्रुव	से	एक करोड़	योजन	की दूरी	पर।
जनः ,,	,,	दो	,,	,,	,,
तपः ,,	,,	चार	,,	,,	,,
सत्य ,,	,,	आठ	,,	,,	,,

टि०—सत्यलोक के निवासियों की स्थिति अण्डकर्पर (ब्रह्माण्ड) के नीचे के निवासियों से १ करोड़ पचास नियुत योजन है।

आवरण—इन सभी लोकों के आवरण योग (Shielded as it were) पर ग्रंथ का प्रवचन यह है कि नीचे तिरछे तथा ऊपर सभी ओर से सात मरुतों (वायु-मण्डल) के आवरण हैं जो क्रमश. निम्नरूप से समझे जा सकते हैं:—

वह	मे	अब्द—जलद—मेघ मण्डल
प्रवह	,,	सूर्य
उद्वह	,,	चन्द्र
संवह	,,	नक्षत्र-मण्डल

आवह „ ग्रह-मण्डल
परिवह „ सप्तर्षि-मंडल
परावह „ ध्रुव

टि०—ये सातों वायु प्रतिक्षण इन सभी को (केवल 'ध्रुव' को छोड़कर—जो अटल है) घुमाते रहते हैं। ध्रुव के द्वारा यह समस्त ज्योतिश्चक्र मानों बद्ध है।

टि०—सूर्यादि ग्रहों की गति का विशेष सम्बन्ध ज्योतिष-शास्त्र से ही है। अतः उसका विस्तार अप्रासङ्गिक है।

सहदेवाधिकारवर्ग—इसकी विस्तृत-समीक्षा 'भवन' पटल में द्रष्टव्य है।

वर्णाश्रम प्रविभागवर्ग - यथा नाम मानव समाज को विभिन्न वर्णों (अध्यवसायों-पेशों मे विभाजित कर एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित समाज का निर्माण एवं प्रतिष्ठा किसी भी निवेश के लिये प्रथम सोपान है। अतः वास्तु का परमोपजीव्य विषय—निवेश (planning) के अनुरूप मानव समाज का सम्यक् निवेश प्रथम प्रक्रिया (pre requisite) है। अतएव समराङ्गण में 'वर्णाश्रम-प्रविभाग' नामक ७ वें अध्याय की अवतारणा की गयी है।

महाराज पृथु को वास्तु-निवेश संरक्षक के रूप मे हम पहले ही देख चुके हैं। अतः मानवों का जब देवों से विच्छेद हुआ (दे० सहदेवाधिकार स० सू० अ० ६) तो संतप्त मानव समाज की सुनियोजना के लिये एवं उनके शासन-पालन के लिये करुणार्द्र पितामह ब्रह्मा पृथु को लेकर उपस्थित हुए और कहा 'आज से यह पृथु तुम्हारा मरुतों-देवों के प्रभु वासव-इन्द्र के समान प्रभु होगा। दण्डधारी, लोकपाल प्रभावशाली, प्रतापतापितारातिसिंह, सिंह पराक्रम इस पृथु को तुम्हारे आधिपत्य में मैंने आज से अभिषिक्त किया। महाराज पृथु सज्जनों की रक्षा करेंगे और दुष्टों का नाश। आज से यह तुम्हारे राजा हुए' इस प्रथम राज-कल्पना में समाज की सुनियोजना (Ordered planning) का मर्म अन्तर्हित है।

समाज की सुनियोजना का दूसरा नाम चातुवर्ण्याश्रम स्थिति है। चातुर्वर्ण्य-विभाग एवं जीवन के चातुराश्रम्य-संस्थापना के परम्परागत तत्वों का विशेष उल्लेख न कर यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त है कि समाज की वृत्ति के लिये, अपने अपने कर्मों-कर्तव्यों क सम्पादन के लिये खेट, ग्राम, नगर, वेश्म आदि की रचना अनिवार्य है—यही वास्तु-शास्त्र में वर्णाश्रम-प्रविभाग का मर्म है।

स्थानादि-विनिवेश-कार्य को सुगम बनाने के लिये पृथु के गोदोहन की समीक्षा पहले ही हो चुकी है (दे० वा० वि० प्र० प० अ० ५)।

पुर-काण्ड

देश-वर्ग

१. जांगल (दे० 'देशचयन' पु० नि० उ० पी० अ० २)
२ आनूप „ „
३. साधारण „ „

देश-भूमि—१८ देशभूमियाँ

१. वालिशस्वामिनी—ऐसी सुन्दर एवं समृद्ध एवं भद्रजना भूमि जो वालिश राजा के भी द्वारा शास्य है।

२. भोग्या—यथा नाम सर्व प्रकार के भोग्य साधनों से संयुक्त भूमि तथा निवासी समृद्ध।

३. सीतागोचररक्षिणी—जहाँ नदी नदों की बहुतायत, मध्य तथा बाहर पर्वत, सीमायें एव क्षेत्र विभक्त।

४. अपाश्रयवती—भयकारिणी जनावास योग्या—सारितायें, वन एव पर्वत भयावह।

५. काता – वन, उपवन, अद्रि, सरित, कुञ्ज आदि से मनोहर अतएव काती।

६ खनिमती—सोने, चाँदी की खानों के साथ-साथ लवण का भी जहाँ आधिक्य हो।

७. आत्मधारिणी—अति स्वतंत्र अवश्य देश एवं स्फीतलोकाश्रय—बसतियाँ बहुत ही फैली हुई।

८. वणिक-प्रसाधिता—जहाँ पर क्रय-विक्रय का अत्यधिक सौलभ्य एवं वणिकजनो की विशेष वसति।

९. द्रव्यवती—शाक, अश्व, कर्ण, खदिर, श्रीपर्णी, स्यन्दन आसन, वेणु, वेत्र एवं शर आदि वृक्षों का आधिक्य।

१०. अमित्रघातिनी—जनपद सुविभक्त, शान्त, एवं मैत्री युक्त।

११. आश्रेणी-पुरुषा—वन्दियों से विरहित समन्तात् फैले दुर्गों से संश्रित एवं विनीत जनों से व्याप्त।

१२. शक्य-सामन्ता—सामन्त राजा जहाँ पर परस्पर उदासीन एवं मन्त्र-उत्साह आदि से विमुख।

१३. देवमातृका—अन-पेक्षित-वर्षाजल-प्रदेश।

१४. धान्यशालिनी—विना कर्षण के ही विना प्रयास धान्योद्गम वाली।

१५ हस्तिवनोपेता—हस्ति-प्रधान वनो एवं पर्वतों से युक्त तथा सैन्यवर्धिनी।

१६. सुरक्षा प्राकृतिक-रक्षा—विषमाद्रि सरिद्-गुप्ता।

दुर्गभूमि (दे० पु० नि० पू० पी० 'दुर्ग-प्रभेद' अ० ५)
वर्णभूमि (दे० पु० नि० उ० पी० भूमि चयन अ० २)

स्वादु-भूमि	"	"
शब्द-भूमि	"	"
स्पर्श-भूमि	"	"
गन्धभूमि	"	"

दुष्ट भूमि—

१. भस्माङ्गारवती
२. कपालास्थिवती
३. तुषकेशविषवती
४ नूपकोत्करवती
५. वल्मीकि-बहुला
६. शर्करिला

७.	रूक्षा	२५,	धूम्रवर्णा
८.	निम्न-पुरोहिणी	२६	मिश्रवर्णा
६.	भंगुरा	२७.	विवर्णा
१०.	सुषिरोषरा	२८.	रूक्षवर्णा
११.	वामावर्तजलस्राविणी	२६.	तिक्ता
१२	असारा	३०.	आम्ला
१३.	विषमोन्नता	३१	लवणा
१४.	कटुकण्टकिनिःसारशुष्कनिष्फलपादपा	३२	स्वेदला
१५	क्रव्यात्पक्षिसमाकीर्ण	३३.	रूक्षस्पर्शा
१६	क्रमिकीटवती	३४.	खरस्पर्षा
१७.	सुकृतनाशिनी	३५.	सदैवोष्णा
१८	सरित्पूर्ववहा	३६.	सदैवहिमा
१६.	वसागन्धा	३७.	अनिष्ट-सुखसंस्पर्शा
२०.	स्रक्गन्धा	३८.	क्रोष्टुस्वाना
२१	मज्ज-गन्धा	३६.	उष्ट्रस्वाना
२२	पक्षिविण्मूत्र-मलगन्धा	४०.	खरस्वाना
२३.	तैल-गन्धा	४१	निर्भरस्वाना
२४.	शव-गन्धा	४२.	भिन्नभाण्डसमक्रूर-स्वाना

भू-परीक्षा—दे० पु० नि०उ० पी० अ० २

मृत्तिका-परीक्षा— ,, ,,

पुर-वर्ग—

जनपद—दे० पु० नि० पू० पी० अ० २

नगर-विकास— ,, ,, २

नगर-प्रभेद— ,, ,, ३

ग्राम-प्रभेद— ,, ,, ४

दुर्ग-प्रभेद— ,, ,, ५

पुर-मार्ग—दे० पु० नि० उ० पी० अ० ४

पुर-वसति— ,, ,, ५

पुर-देवतायतन— ,, ,, ६

पुर-रक्षा— ,, ,, ७

गर्हित-पुर— ,, ,, ८

आधुनिक नगर—

निवेश के उपकरण—,, ,, ६

परिशिष्ट (स)

संक्षिप्त-समराङ्गण

(अवतरण)

प्रथम पटल (वास्तु-विद्या)

अ. वास्तु-शास्त्र का जन्म

(i) नयस्येति समाकर्ण्य विश्वकर्मा च तद् वचः ।
जगाद गर्जदम्भोदध्वनिगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥
साधु वत्स ! त्वया सम्यक् प्रज्ञयातिविशुद्धया ।
प्रश्नोऽयमीरितो वास्तुविद्याब्जवनभास्करः ॥ २ ॥
स त्वं निधाय प्रश्नानां समुदायममुं हृदि ।
वदतो मेऽवधानेन शृणु यद् ब्रह्मणोदितम् ॥ ३ ॥

(ii) तानुवाच मुनिर्वत्सा विदितं वो यथा पुरा ।
वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा ॥ ४ ॥
धर्म्यं कर्म तदा श्रैष्ठ्यप्राप्त्यै लोकावनानि च ।
व्यवस्थाप्य चकारैष लोकपालस्य कल्पनाम् ॥ ५ ॥
अहमप्यमुना विश्वनाथेनाम्बुजजन्मना ।
लोकानां सन्निवासार्थमादिष्टोस्मि स्वयम्भुवा ॥ ६ ॥
रम्याणि नगरोद्यानसभास्थानान्यथो मया ।
सुरासुरोरगादीनां निर्मितान्यात्मबुद्धितः ॥ ७ ॥
गव्योर्वी वैन्यनृपतेर्वत्साः प्रियचिकीर्षया ।
नगरग्रामखेटादीन् करिष्यामि पृथक् पृथक् ॥ ८ ॥
कार्ये स्वमस्मिन् सकले मम विश्वसृजार्पिते ।
स्थपत्साहाय्यकर्माण्य भवद्भिरिति नः स्थितम् ॥ ९ ॥
यतस्त्रिभुवनालोकप्रद्योतस्याब्जिनीपतेः ।
सहायतां तमश्छेदे कलयन्ति मरीचय. ॥ १० ॥
स्वयं करिष्येऽहमथो निवासाय पृथोः पुरीम् ।
विचित्रनगरग्रामखेटामतिमनोहराम् ॥ ११ ॥
भवन्तः पुनरागत्य चत्वारोऽपि चतुर्दिशम् ।
तांस्तान् निवेशान् कुर्वन्तु पृथग्जनकृताश्रयान् ॥ १२ ॥
अन्तरेष्वब्धपाथोधिशैलानां सरितां तथा ।
विधातव्यानि दुर्गाणि नृपाणां भयशान्तये ॥ १३ ॥

वर्णप्रकृतिवेश्मानि संस्थानानि च लक्ष्मभिः।
विधेयानि प्रतिग्रामं प्रतिभूः प्रतिपत्तनम् ॥ १४ ॥ (२, ४-१४)

(iii) पृथुनेत्यथ विज्ञप्तो भगवानब्जसम्भवः ॥ १५ ॥
उवाच बोधयन्नेनं कृत्वा भूमिं च निर्भयाम्।
इयं मही महीपाल ! विधिवत् पालिता सती ॥ १६ ॥
सस्यैरुपा (न्नाय) निष्पन्नैस्तव भोग्या भविष्यति।
यच्च ते स्यादभिप्रेतं स्थानादिविनिवेशनम् ॥ १७ ॥
तदेष त्रिदशाचार्यः सर्वसिद्धिप्रवर्तकः।
सुतः प्रभासस्य विभोः स्वस्रीयश्च बृहस्पतेः ॥ १८ ॥
विश्वातिशायिधीः सर्वं विश्वकर्मा करिष्यति।
राजन्नसौ महेन्द्रस्य विदधावमरावतीम् ॥ १९ ॥
अन्या अप्यमुना रम्याः पुर्यो लोकभृतां कृताः।
त्वया क्षेमीकृतां मूर्तिं दृष्ट्वा साद्रिद्रुमामसौ ॥ २० ॥
सन्निवेशान् पुरग्रामनगराणां विधास्यति।
तद्गच्छ वत्स ! लोकानामितस्त्वं हितकाम्यया ॥ २१ ॥
भयोज्झिता त्वमप्युर्वि ! पृथोः प्रियकरी भव।
काले स्मृतः स्मृतः पुण्यो राज्ञः प्रियचिकीर्षया ॥ २२ ॥
त्वमप्यखिलमेवैतद् विश्वकर्म (न्) ! करिष्यसि ॥२३॥ १,१६–२३)

(ब) वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र

(i) स्वातन्त्रिक

देशः पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम् ॥ २४ ॥
वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते ॥ २५ ॥ १, ४-५)

(ii) सार्वभौमिक

इदमासीद् युगान्ताग्निप्लुष्टं संवर्तकाद्भिः।
समुत्सृजद्भिरम्भांसि विश्वमेकार्णवीकृतम् ॥ २६ ॥
तमोभूते ततस्तस्मिन् भोगिपर्यंकमाश्रितः।
हरिः सुष्वाप सलिले कृत्वोदरगतं जगत् ॥ २७ ॥
अथास्य नाभावम्भोजमभूत् तस्मिन्नजायत।
सर्वज्ञानाश्रयः श्रीमांश्चतुर्वक्त्रः सुरेश्वरः ॥ २८ ॥
स कदाचिद् दधच्चेतः प्रजासृष्टिं प्रति प्रभुः।
महान्तमसृजत् तत्र पूर्वं विश्वस्य हेतवे ॥ २९ ॥

त्रिधाहंकृतमेतस्मान्मनोऽभूत् सात्त्विकादतः ।
राजसादपि चाक्षाणि तन्मात्राणि च तामसात् ॥ ३० ॥
तेभ्य. पञ्च महाभूतान्याविरासन्ननुक्रमात् ।
व्योमादीनि धरान्तानि स्वैः स्वैर्युक्तानि तैर्गुणैः ॥ ३१ ॥
अधरोत्तरभावश्च सम्यगेषां मयोच्यते ।
आदौ पृथ्वी ततोऽधस्तादापस्तासां च पावकः ॥ ३२ ॥
तस्याप्यधस्तात् पवनस्ततः खमवकाशदम् ।
भूतादिस्थ वियत् सोपि महता परिवारितः ॥ ३३ ॥
महांश्च विशति व्यक्तं व्यक्तमव्यक्तकं पुनः ।
ग्राह्यग्राहकभवेन व्यक्तो भूतसमुद्भवः ॥ ३४ ॥
आधाराधार्यभावश्च यथार्थौ च स्थितिव्ययौ ।
महाभूतानि सगुणान्येवं स्रष्टा ततः प्रभुः ॥ ३५ ॥
मनः पुनरसौ सर्गे भौतिके सम्यगादधौ ।
सुरासुरान् सगन्धर्वान् यक्षरक्षांसि पन्नगान् ॥ ३६ ॥
नागान् मुनीनप्सरसो मनसा समजीजनत् ।
अर्केन्दू चक्षु (षी ? षो) जातौ गगनभ्रमणक्षमौ ॥ ३७ ॥
गात्रेभ्योऽपि च नक्षत्रचक्रमस्मादजायत ।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्योऽभूत् ताराग्रहपञ्चकम् ॥ ३८ ॥
ग्रहत्वं पुनरेतेषामिन्द्रियग्रहणाद् विदुः ।
सुरेन्द्रचापचिन्हानां विद्युद्वलयशालिनाम् ॥ ३९ ॥
भीमाशनिभृतां चासीत् केशेभ्योऽम्बुमुचां भव ।
विश्वमापूरयन् कृत्स्नमाविरासीत् तदिच्छया ॥ ४० ॥
त्रिलोकीपावनस्तिर्यग्गामी चण्डः समीरण. ।
ततश्चण्डानिलोद्धूतमुपर्यर्कांशुतापितम् ॥ ४१ ॥
वायुभिः शोषमानीत जगाम घनतां पय. ।
तस्योपरिष्टादम्भोधेरधः कुण्डलितं वपुः ॥ ४२ ॥
विष्णोःशय्यात्वमभ्येत्य धत्तेऽनन्तोऽखिलां भुवम् ।
न तप्तं येषु येष्वम्भः प्रदेशेष्वर्करश्मिभि. ॥ ४२ ॥ (a)
नीत न वानिलैः शोष तत्र तत्राब्धयोऽभवन् ।
महाम्भोवीचिसंघाता विक्षिप्ताश्चण्डमारुतैः ॥ ४३ ॥
यत्र यत्रापुरैक्यं ते तत्र तत्राद्रयोऽभवन् ।
निश्चलत्वार्थमवनिश्चर्मवद् विततास्य तैः ॥ ४४ ॥
शैलैः कीलैरिव स्थानेष्वाचिता तेषु तेष्वियम् ।
धृर्द्दि गताद्रिनि ष्यन्दैर्भूतां प्रविभागजा ॥ ४५ ॥
निम्नगाभूत्ततोऽम्भोधे. कान्ता निम्नानुसारिणी ।
मेदिन्यन्तेषु जलधिपर्यन्तेषु विनिर्ययुः ॥ ४६ ॥

अम्भांसि यत्र यत्रासंस्ते द्वीपाश्चित्ररूपिणः ।
सनिम्नगाम्बुधिद्वीपा विभक्ताखिलभूधराः ॥ ४७ ॥
व्यक्ता बभूव कृत्स्नैव भूमिर्भूतानि बिभ्रती ।
स चक्रे रौरवादीनां निरयाणामधः क्षितेः ॥ ४८ ॥
स्वकर्मफलभुक्त्यर्थं स्थानं दुष्कृतकर्मणाम् ।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजैः सह स प्रभुः ॥ ४९ ॥
चतुर्धेत्यसृजल्लोके भूतग्रामचराचरम् ।
द्वेधा जरायुजास्तत्र मनुष्याः पशवस्तथा ॥ ५० ॥
ग्राम्याः सप्ताभवस्तेषु सप्तारण्यकृताश्रयाः ।
पुमान् गौस्तुरगच्छागौ मेषो वेगसरः खरः ॥ ५१ ॥
ग्रामवासैकनिरताः सप्तैते परिकीर्तिताः ।
सिंहद्विपोष्ट्रमहिषाः शरभो गवयः कपिः ॥ ५२ ॥
अरण्यगोचरा जीवाः सप्तैते वत्स ! निर्मिताः ।
धर्माधर्मविवेकित्वाच्छ्रेयान् ग्राम्येषु पूरुषः ॥ ५३ ॥
अरण्यचारिषु श्रेष्ठः सिंहः शौर्यबलादिभिः ।
सुपर्णा भुजगाः कीटाः येऽपि च स्युः पिपीलिकाः ॥ ५४ ॥
चतुर्धेत्यण्डजन्मानो जन्मिनस्ते प्रकीर्तिताः ।
क्लेदक्लेशसमुद्भूताः कृमियूकादिजन्तवः ॥ ५५ ॥
सर्वेऽपि स्वेदजन्मानस्ते प्रजापतिना कृताः ।
उद्भिज्जाः पञ्चधा भू (त्वा?था) निर्दिष्टाः स्थावराश्चते ॥ ५६ ॥
द्रुमा वल्लयश्च गुल्माश्च वशाः सतृणजातयः ।
छन्नान्तःकरणत्वं च स्वस्थानत्यागितापि च ॥ ५७ ॥
छिन्नप्ररोहिता चैषां वैशेषिकगुणत्रयम् ।
गायत्री भूतसंज्ञै (षां?पा) चतुर्विंशतिपर्विका ॥ ५८ ॥(४.४-३७)

(III) भौगोलिक

अथो यथाक्रमं भूमेः कृत्स्नायाः कथयामि ते ।
विष्कम्भपरिधी वत्स ! बाहुल्यमपि च स्फुटम् ॥ ५९ ॥
विष्कम्भोऽस्याः समुद्दिष्टो दशयोजनकोटयः ।
लक्षाण्यपि च मेदिन्यास्तद्वदेकोनविंशतिः ।
विष्कम्भत्रिगुणो यावद् विष्कम्भांशश्च पञ्चमः ॥ ६० ॥
मेदिन्याः परिधिस्तावद्योजनैः परिकीर्तितः ।
द्वात्रिंशत्कोटयः षष्टिर्लक्षाणि परिधिः क्षितेः ॥ ६१ ॥
अशीतिश्च सहस्राणि योजनानां प्रकीर्तितः ।
योजनानां सहस्राणि विंशतिर्लक्षयोर्द्वयम् ॥ ६२ ॥

इति बाहुल्यमेतस्याः क्षितेर्वत्स ! तवोदितम् ।
चतुर्णां सलिलादीनां भूतादेर्महतोऽपि च ॥ ६३ ॥
उत्तरोत्तरमुर्वीतो मानं शतगुणं विदुः ।
तोयादिषु स्थितेयं भूश्चक्रवद् वृत्तशालिनी ॥ ६४ ॥
पात्रस्थापरपात्रश्रीहारीण्यन्यान्यपि क्रमात् ।
प्रमाणमिदमेतेषां क्षित्यादीनां तवोदितम् ॥ ६५ ॥
द्वीपादीनां तु पाथोधिनिवेशः पुनरुच्यते ।
द्वीपानामम्बुधीनां च सप्तानामपि मध्यगः ॥ ६६ ॥
जम्बूद्वीपो भवेद् वृत्तः सहस्रशतविस्तृतः ।
हिमाद्रिर्हेमकूटाख्यो निषधो नीलसंज्ञितः ॥ ६७ ॥
श्वेतः श्रृंगी च षष्ठमो भवन्त्यस्मिन् कुलाचलाः ।
एतस्मादुत्तरेणाद्रेस्तुषारांकितमेखलात् ॥ ६८ ॥
पूर्वापरायताः सर्वेऽप्यद्रयो यावदम्बुधि ।
अन्तरा नीलनिषधौ जम्बूद्वीपस्य नाभिगः ॥ ६९ ॥
वृत्तः पुण्यजनाकीर्णः श्रीमान् मेरुर्महाचलः ।
उदग्याम्यायते मेरोः प्राग्भागे माल्यवान् गिरिः ॥ ७० ॥
सेवितःसिद्धनारीभिरानीलनिषधायतः ।
सुमेरोः पश्चिमेनाद्रिर्गन्धर्वकुलसङ्कुलः ॥ ७१ ॥
माल्यवत्सदृशायामो महीभृद् गन्धमादनः ।
पर्वतावुभयान्तस्थौ हिमवान् श्रृंगवांस्तथा ॥ ७२ ॥
योजनानां सहस्रे द्वे सार्धे स्यादुच्छ्रयस्तयोः ।
श्वेतश्च हेमकूटश्चेत्यन्तयोः पृथिवीधरौ ॥ ७३ ॥
योजनानां सहस्रार्धमेकैकस्योच्छ्रयस्तयोः ।
निषधाचलनीलाद्रिमाल्यवद्गन्धमादनाः ॥ ७४ ॥
सहस्रयोजनोच्छ्रायाश्चत्वारोऽमी पृथक्पृथक् ।
एतेऽष्टावपि शैलेन्द्राः सहस्रद्वयविस्तृताः ॥ ७५ ॥
उच्छ्रयार्धमधश्चापि विलग्नाः सह मेरुणा ।
मेरोः समुच्छ्रयोऽशीतिः सहस्राणिचतुर्युता ॥ ७६ ॥
षोडशाधः सहस्राणि द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतिः ।
जम्बूतरुर्महान् मध्ये सुमेरोर्निषधस्य च ॥ ७७ ॥
द्वीपस्यामुष्य यद्योगाज्जम्बूद्वीप इति श्रुतिः ।
श्रृंगैर्हिमशिलानद्धैः सर्वतो हिमवानयम् ॥ ७८ ॥
महान्तो निवसन्त्यत्र पिशाचा यक्षराक्षसाः ।
कूटैर्हेममयैर्हेमकूट इत्यवनीधरः ॥ ७९ ॥
यं सर्वतो निषेवन्ते सदा चारणगुह्यकाः ।
तस्यार्कसमाजाक्षमतिभो निषधाचलः ॥ ८० ॥

निवसन्ति सुखं तत्र शेषवासुकितक्षकाः ।
हेमाब्जकर्णिकाकारः सुमेरुर्मणिकन्दरः ॥ ८१ ॥
अत्रामराः साप्सरसस्त्रयस्त्रिंशद् वसन्ति ते ।
वैडूर्यनद्धैः शिखरैर्नीलो नीलमहीधरः ॥ ८२ ॥
कलयन्ति तपोनित्या यत्र ब्रह्मर्षयः स्थितिम् ।
श्वेतः स काञ्चनैः शृङ्गैर्गगनोल्लेखिभिर्वृतः ॥ ८३ ॥
दोर्दर्पशालिनां यत्र निवासस्त्रिदशद्विषाम् ।
महानीलमयो बर्हिपिच्छच्छायो बर्हिर्महान् ॥ ८४ ॥
पितृणामालयः शृङ्गैरुच्छ्रितैः शृङ्गवान् गिरिः ।
हिमाचलस्य याम्येन क्षाराब्धिवृतमन्यतः ॥ ८५ ॥
वर्षं स्याद् भारतं नाम प्रथमं कार्मुकाकृति ।
तुषारनिलयस्याद्रेर्हेमकूटाचलस्य च ॥ ८६ ॥
मध्ये किंपुरुषं नाम द्वितीयं वर्षमीरितम् ।
अन्तरे हेमकूटस्य निषधस्य च भूभृतः ॥ ८७ ॥
हरिवर्षमिति प्रोक्तं तृतीयं वर्षमुत्तमम् ।
निषधाचलनीलाद्रिमाल्यवद्गन्धभूभृताम् ॥ ८८ ॥
चतुर्णां मध्यगं वर्षं तुर्यमस्मिन्निलावृतम् ।
उत्तरे नीलशैलस्य याम्ये च श्वेतभूभृतः ॥ ८९ ॥
पञ्चमं वर्षमत्यर्थरम्यं रम्यकसञ्ज्ञितम् ।
श्वेतशृङ्गवतोः शैलराजयोरनयोरिह ॥ ९० ॥
मध्ये षष्ठं हिरण्याख्यस्य हैरण्यकाह्वयम् ।
अस्योत्तरे शृङ्गवतो याम्ये च क्षारवारिधेः ॥ ९१ ॥
कुरुवर्षाभिधं वर्षमुत्तरेण प्रचक्षते ।
अन्तरा नीलनिषधौ प्राग्भागे माल्यवद्गिरेः ॥ ९२ ॥
भद्राश्वमष्टमं वर्षं प्राक्समुद्रान्तमीरितम् ।
गन्धमादनशैलस्य प्रत्यक् प्राक् चापराम्बुधेः ॥ ९३ ॥
नवमं वर्षमाचार्याः केतुमालं प्रचक्षते ।
इति प्रोक्तानि वर्षाणि नवामूनि मया तव ॥ ९४ ।
साम्प्रतं पुनरेतेषां प्रमाणमवधारय ।
प्रमाणेन सहस्राणि चतुस्त्रिंशच्चतुर्दिशम् ॥ ९५ ॥
योजनानामिहेच्छन्ति चतुरस्रमिलावृतम् ।
प्राक्प्रत्यग्भागगे वर्षे तस्योदग्याम्यतः समे ॥ ९६ ॥
एकत्रिंशत्सहस्राणि किञ्चित् प्राक्प्रत्यगायते ।
यान्युक्तानि षडन्यानि वर्षाण्येभ्योऽपराणि ते ॥ ९७ ॥
तेषां नवसहस्राणि प्रत्येकं विस्तृतिर्मता ।
वर्षे किम्पुरुषे नार्यो नराश्च प्लक्षभोजनाः ॥ ९८ ॥

जीवन्त्ययुतमब्दानां जात्यजाम्बूनदत्विषः ।
हरिवर्षे नरा नार्यो वसन्तीक्षुरसाशिनः ॥ ९९ ॥
सायुतं च सहस्रं ते जीवन्ति रजतत्विषः ।
इलावृते नराः पद्मरागभासोद्गतास्तथा ॥१००॥
जम्बूफलरसाहाराः सपादायुतजीविनः ।
नास्मिन् मेरुतटच्छन्ने तारकार्केन्दुरश्मय. ॥ १०१॥
स्वांगप्रभाभिः किन्त्वत्र कृतोद्योता वसन्त्यमी ।
कैरवोदरसच्छाया भद्राश्वे सांगना नराः ॥१०२॥
नीलाम्रकफलाहारा भवन्त्यत्रायुतायुषः ।
दलत्कुवलयश्यामाः केतुमाले शरीरिण. ॥१०३॥
शरदामयुत तेषामायुः पनसभोजिनाम् ।
श्वेताभो रम्यके रम्ये न्यग्रोधफलभुग् जनः ॥१०४॥
हरिवर्ष इव प्रोक्तमेतस्मिन् मानमायुषः ।
श्यामत्विषः स्त्रियो वर्षे पुमांसश्च हिरण्यके ॥१०५॥
जीवन्त्ययुतमब्दानां सर्वेऽपि लकुचाशिनः ।
कुरुष्वभीष्टदैवृ[illegible]र्जीवन्ति स्त्रीयुता नराः ॥१०६॥
सपादमयुत देवगर्भा गौरकान्तयः ।
पुण्यकर्मा वसत्येषु वर्षेषु निखिलो जनः ॥१०७॥
शोकव्याधिजरातङ्कशङ्कोन्मुक्तः सदा सुखी ।
वनैः कीर्णानि सर्वाणि कुसुमस्तवकानतैः ॥१०८॥
उद्भिज्जाद्भिर्नदीभिश्च तैस्तैस्तुंगैश्च पादपैः ।
उदग्रवीचिमालेन लावणेनाब्धिना बहिः ॥१०९॥
परिक्षिप्तोऽयमुक्तस्ते जम्बूद्वीपो मयाखिलः ।
द्वादशाम्बुनिधावत्र पृथग् भूमिभृतः स्थिता. ॥११०॥
त्रयस्त्रयो दिशि दिशि स्फारोर्मिस्थगितोपलाः ।
मैनाकश्च बलाहश्च चक्रनामा च दक्षिणे ॥१११॥
नारदाख्यो वराहश्च सोमकाख्यश्च पश्चिमे ।
उदग्भागेऽपि च द्रोणकङ्कचन्द्रा इति त्रयः ॥११२॥
धूम्रको दुन्दुभिश्चैव साङ्कश्चेति पूर्वतः ।
सहस्रं योजनानां ते दीर्घास्तस्यार्धमुच्छ्रिताः ॥११३॥
मग्नास्तदर्धमम्भोधौ विस्तृताश्च धराधराः ।
जुष्टाः सर्वे सुरैः शृंगप्रौढिलीढविहायसः ॥११४॥
स्वर्जितोपमय. कान्तविचित्रद्रुमवीरुध. ।
द्वीपाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मल्य इति च क्रमात् ॥११५॥
गोमेदः पुष्कराख्यश्च षडमी बाह्यतः स्थिताः ।
क्षीराज्यदधिमद्येक्षुरसस्वादम्भमोर्णवाः ॥११६॥

द्वीपान् शाकादिकानेते परिवार्य स्थिताः क्रमात् ।
स्वद्वीपतुल्याः सर्वे ते प्रमाणेन यथाक्रमम् ॥११७॥
अमी शाकादयो द्वीपा जम्बूद्वीपप्रमाणतः ।
यथाक्रमं स्युर्द्विगुणास्तथाम्भोनिधयोऽपि च ॥११८॥
शाके सप्ताद्रयस्तेषूदयो जलधरस्तथा ।
नारको रैवतः श्यामो राजतोऽथाम्बिकेयकः ॥११९॥
चतुःसाहस्रिकस्तेषां विष्कम्भोऽर्धसमुच्छ्रयः ।
तदर्धं भूप्रदेशश्च सेवितानां सुरर्षिभिः ॥१२०॥
वृत्तानां द्वीपवत् तेषां बाह्यतोऽमून्यनुक्रमात् ।
वर्षाणि सन्निविष्टानि सप्त तानि ब्रवीमि ते ॥१२१॥
जलदाख्यं कुमारं च सुकुमारं मणीचकम् ।
कुसुमोत्तरमोदाकीमहाद्रुमवनानि च ॥१२२॥
कुशे विद्रुमहेमाख्यौ द्युतिमानथ पुष्पवान् ।
कुशेशयो हरिश्चाभून्मन्दरश्च कुलाचलाः ॥१२३॥
विष्कम्भोऽष्टसहस्राणि तेषां प्रत्येकमीरितः ।
तदर्धमुच्छ्रयस्तद्वदुच्छ्रायार्धमधोगमः ॥१२४॥
उद्भिदं वेणुवत्सञ्ज्ञं सरालमथलम्बनम् ।
वर्षं श्रीमत् प्रभाकृच्च कपिलं पन्नगाभिधम् ॥१२५॥
क्रौञ्चे क्रौञ्चोऽन्धकारश्च देवो गोविन्दवामनौ ।
द्विविदः पुण्डरीकश्चेत्यस्मिन् सप्त कुलाद्रयः ॥१२६॥
विष्कम्भोऽयुतमेतेषां विष्कम्भार्धं समुच्छ्रयः ।
अधोगतिस्तदर्धं च वर्षाण्येषां तु बाह्यतः ॥१२७॥
कुसलाख्याष्टवर्षाख्ये परापत्तमनोनुगे ।
मुनिवर्षान्धकाराख्ये सप्तमं दुन्दुभीति च ॥१२८॥
गिरयः शाल्मलिद्वीपे रक्तः पीतः सितस्तथा ।
वैपुल्यमेषां द्वात्रिंशत्सहस्राणि प्रचक्षते ॥१२९॥
वैपुल्यार्धं समुच्छ्रायस्तदर्धमवनौ गतिः ।
वर्षे शान्तभयं वीतभयं चेत्यत्र संस्थिते ॥१३०॥
गोमेदे तु सुरश्चेति कुमुदश्चेति भूधरौ ।
योजनानां चतुःषष्टिस्तौ सहस्राणि विस्तृतौ ।
उच्छ्रायो विस्तरस्यार्धं तदर्धं चाप्यधोगतिः ।
धातकीखण्डनामास्य मध्ये वर्षमुदीरितम् ॥१३२॥
अस्त्यद्रिः पुष्करद्वीपे मानसोत्तरसञ्ज्ञितः ।
बाह्यतो वर्षमेतस्य महावीतमिति स्मृतम् ॥१३३॥
विस्तृतोऽष्टौ सहस्राणि शैलोऽयं द्वे तथायुते ।
सहस्रशतमन्यच्च सुरसिद्धर्षिसेवितः ॥१३४॥

व्यासार्धेनोच्छ्रयस्तस्य तदर्धेनाप्यधोगमः ।
सुरेशानां नगर्योऽस्मिन् मया वत्स ! निवेशिताः ॥१३५॥
ऐन्द्री वस्वोकसारा प्राग् याम्या संयमनी ततः ।
प्राचेतसी सुखा पश्चात् तथा सौम्युत्तरे विभा ॥१३६॥
धर्मरक्षार्थमेतासु चत्वारश्चतसृष्वपि ।
तथा लोकव्यवस्थार्थं पृथग् लोकभृतः स्थिताः ॥१३७॥
लोकालोकाचलः स्वादुसलिलाद् द्विगुणो बहिः ।
स्वादूदाब्धिप्रमाणात् स विस्ताराद् द्विगुणोऽपिच ॥१३८॥
समुच्छ्रितोऽसौ नियुतं नियुतार्धमधो गतः ।
पञ्च कोशा. प्रतिदिशं नियुतानि तथा नव ॥१३९॥
तद्वच्च नियुतस्यार्धं मेरुमध्यात् तदन्तरम् ।
समुद्भासितदेहार्धस्तिग्मांशोः किरणैरयम् ॥१४०॥
तत्समेन च भूम्यर्धेनावृतः परितः पुनः ।
भौतान्यावरणान्युर्व्या यस्यैतानि स्थितान्यधः ॥१४१॥
याह्यतोऽपिच भूम्यूर्ध्वं निविष्टानि तथानघ ॥१४२॥ (९, १०-८४३)

(iv) खगोलीय

इति वत्स ! तव प्रोक्तः सन्निवेशोऽखिलः क्षितेः ॥१४३॥
स्थितिं गतिं च कथयाम्यर्कादीनामतः परम् ।
सूर्येन्दुधिष्ण्यज्ञसितभौमार्कित्रिदशार्चिता. ॥१४४॥
सप्तर्षयो ध्रुवश्चेति भूमेरूर्ध्वं क्रमात् स्थिता· ।
चत्वारि द्वे तथा भूमेरूर्ध्वमा सूर्यनन्दनात् ॥१४५॥
षडेवमन्तराणि स्युः सहस्राणां शत शतम् ।
ग्रहान्तराणि यान्यन्यान्यत्रशिष्टान्यनुक्रमात् ॥१४६॥
तानि चत्वार्यपि द्वे द्वे लक्षे प्रोक्तानि मानतः ।
धरित्रीध्रुवयोर्मध्ये योजनानां चतुर्दश ॥१४७॥
नियुतानि समुत्सेधश्च लोकत्रयस्य प्रकीर्तितः ।
एकाथ द्वे चतस्रोऽष्टावन्तरं कोटयः क्रमात् ॥१४८॥
महोजनस्तपः सत्यलोकानामुपरि ध्रुवात् ।
ये स्थिताः सत्यलोकोर्ध्वमधस्तादण्डकर्परात् ॥१४९॥
एका कोटिर्भवेत् तेषां पञ्चाशन्नियुतान्विता ।
अथावरणयोगोऽस्य विदितः (स १ प) प्रजम्माना ॥१५०॥
यथैवाधस्तथा तिर्यक् तथैवोर्ध्वमपि क्रमात् ।
वहेऽब्दाः प्रवहे सूर्यः स्थित शीतांशुरुद्वहे ॥१५१॥
संवहस्थानि नक्षत्राण्यावहस्थाः पुनर्ग्रहाः ।
सप्तर्षय परिवहे ध्रुवश्चापि परावहे ॥१५२॥

प्रदक्षिणममी सप्त मरुतो भ्रमयन्त्यमून् ।
मेधीभूतः स्थितो मध्ये सुमेरुक्ष्माभृति ध्रुवः ॥१५३॥
समस्तमपि तद्बद्धं ज्योतिश्चक्रं भ्रमत्यधः ।
सप्ताश्वेनैकचक्रेण रथेन रथिनां वरः ॥१५४॥
तेजोमयेन सततं भ्राम्यति ज्योतिषां पतिः ।
केतुमाले (रजन्यर्धं ? व्रजन्नूर्ध्वं) करोत्यस्तं कुरुष्वपि ॥१५५॥
मध्यन्दिनं च भद्राश्वे (ष्टत्र ? स्तं ग) च्छन् भारते रविः ।
रसाब्धिपक्षसंख्यानि योजनानि निमेषतः ॥१५६॥
सप्तविंशतिकां चाष्टौ भागान् सर्पत्यहर्पतिः ।
योजनान्य (ध्विनंदसु ? ब्धिनन्दर्तु) गुणसंख्यानि काष्ठया ॥१५७॥
नवांशकचतुष्कं च क्रामत्यहिमदीधितिः ।
वह्न्यग्निवसुखेन्दुक्ष्मासंख्यातान्यब्जिनीपतिः ॥१५८॥
योजनस्य त्रिभागं च प्रयाति कलयैकया ।
वियत्खव्योमभूताश्विगुणपावकसंख्यया ॥१५९॥
योजनान्युष्णकिरणो मुहूर्तेन प्रसर्पति ।
रात्र्यह्नेण सहस्राणि पञ्चाशन्नवकोटयः ॥१६०॥
लक्षाणि सप्तनवतिर्गतिः स्यात् तिग्मरोचिषः ।
मध्येन पुष्करद्वीपस्यार्को गत्यानया व्रजन् ॥१६१॥
नभस्तलेन पुनरप्युदयादुदयं श्रयेत् ।
इत्थं गतिरियं सम्यक् तिग्मभानोर्निरूपिता ॥१६२॥
गतिं चन्द्रग्रहर्क्षाणां भोगं चार्काद् विभावयेत् ।
प्रोक्तं तवेत्यहोरात्रप्रमाणमधुनानघ ॥१६३॥
पक्षमासर्तुवर्षादीन् व्यवहाराय कल्पयेत् ॥१६४॥ (५, ८४½-१०४½)

(v) भौगर्भिक (Geological)—

कति देशाः कति भुवः पृथक्त्वेन निरूपिताः ।
कार्यः क्व च कथं सन्निवेशो जनपदाश्रयः । १६५॥
व्यक्तचिन्हैः स्वनस्पर्शगन्धवर्णरसादिभिः ।
काः शस्ता निन्दिताः काश्च पुरग्रामेषु भूमयः ॥१६६॥

(स) वास्तुशास्त्र का विषय (Subject)—

(i) विज्ञान के रूप में (As a Science)

अथ तेषु जयो नाम वाक्यं तद् विश्वकर्मणः ।
श्रुत्वा कृताञ्जलिः प्राह स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥१६७॥

ज्ञानैकनिधिरप्यस्मान् यद् सहायतया किल ।
वृणोषि तेन न वयमात्मानं बहु मन्महे ॥१६८॥
तदिदानीं हितार्थं नः प्रजानामपि च प्रभो ! ।
अप्रमेयप्रभावस्त्व सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥१६९॥
पूर्वमेकार्णवे जाते जगति प्रलयं गते ।
महाभूतामरपुरीज्योतिषां कथमुद्भवः ॥१७०॥
किमाकारा किमाधारा किंप्रमाणा च मेदिनी ।
विस्तृतिः परिधिश्चास्या बाहुल्यमपि कीदृशम् ॥१७१॥
वच्छ्रायव्यासदीर्घत्वैः कैः केऽस्यां कुलभूभृतः ।
कति ख्यातानि वर्षाणि द्वीपा नद्योऽम्बुधयस्तथा ॥१७२॥
काः सूर्येन्दुग्रहर्क्षादिगतयश्च पृथक् पृथक् ।
भूमेरुपरि किं चैषामन्योन्य प्रोक्तमन्तरम् ॥१७३॥
किमाधारं दिवि ज्योतिश्चक्रं भ्रमयते च कः ।
लोके कथं महाभूतान्यूर्ध्वाधो बिभ्रति स्थितिम् ॥१७४॥
युगधर्मव्यवस्थाभिः काश्चादौ लोकवृत्तय. ।
कश्चादिमस्ततो राजा प्रहाणां वर्णिनां कथम् ॥१७५॥
कति देशाः कति भुवः पृथक्त्वेन निरूपिताः ।
कार्यः क्व च कथं सन्निवेशो जनपदाश्रयः ॥१७६॥
व्यक्तचिन्हैः स्वनस्पर्शगन्धवर्णरसादिभिः ।
काः शस्ता निन्दिताः काश्च पुराणामपि भूमयः ॥१७७॥
कार्यं केन विधानेन भूमृत्पुरनिवेशनम् ।
किं फलं सुनिविष्टेस्मिन् दुर्निविष्टे च किं पुनः । १७८॥
कतिप्रकारं दुर्गं च दुर्गकर्मक्रमश्च कः ।
किमग्रपुरसंस्थानमनिन्द्यं किं च निन्दितम् ॥१७९॥
कश्चाग्रानुक्रमविधिः प्रमाणैरुपपादितः ।
प्राकारगोपुराट्टालपरिखावप्रकर्मं च ॥१८०॥
तमंगनिर्गमद्वारप्रतोल्यट्टालकादिभि' ।
कीदृशः प्रविभागश्च रथ्याचावरवर्त्मभिः ॥१८१॥
भूमिप्रमाणसंस्थानां सीमा च क्षेत्रदिक्पथैः ।
नगरग्रामखेटानां निवेशा. स्युः पृथक् पृथक् । १८२॥
पुरस्याभ्यन्तरे पूर्वं केर्द्रंस्थावश्ववक्रमः ।
कस्मिन् स्थाने कथं कार्यं शक्रध्वजनिवेशनम् ॥१८३॥
प्रतिसंवत्सर तस्य नियुक्तस्य कथं पुनः ।
हिताय नृपलोकानां विधातव्यो महोत्सवः ॥१८४॥
गृहेषु केषु केष्वग्र कासु कासु ककुप्सु च ।
भागैर्बाह्यान्तरे. कैः कैः कार्या. काः काश्च देवताः ॥१८५॥

कैः कैर्यानपरीवारवर्णरूपविभूषयैः ।
कार्याः कैः कैः सुरा वस्त्रवयोवेषायुधध्वजैः ॥१८६॥
प्रमाणमितिसंस्थानसंख्यानोच्छ्रयलक्षमभिः ।
प्रासादाः कस्य के वा स्युः सुरराजद्विजातिषु ॥१८७॥
प्राकारपरिखागुप्तं पुरे स्याद् गोपुरं क्व च ।
युग्ममध्याम्बुवेश्मानि क्व च स्युः क्व महानसम् ॥१८८॥
कोष्ठागारायुधस्थानभाण्डागारनिवेशनैः ।
व्यायामनृत्तसंगीतस्नानधारागृहादिभिः ॥१८९॥
शय्यावासगृहप्रेक्षावेश्मादर्शगृहैः पृथक् ।
क्रीडादोलालयारिष्टगृहान्तःपुरवेश्मभिः ॥१९०॥
विटंकभ्रमनिर्यूहकक्षासंयमनादिभिः ।
अशोकवनिकाभिश्च लतामण्डपवेश्मभि ॥१९१
वापीभिर्दारुगिरिभिश्चित्राभिः पुष्पवीथिभिः ।
एतैर्विशेषैरन्यैश्च विचित्रैर्विपिनाश्रयैः ॥१९२॥
मानोन्मानक्रियायामद्रव्याकृतिविनिर्मितः ।
निकेतननिवेशः स्याद् राज्ञां भागाश्रितः कथम् ॥१९३॥
पुरोधःसैन्यभूश्रेष्ठदैवचिन्तकमन्त्रिणाम् ।
कं कं च भागं प्राप्य स्युर्निवेशा नृपवेश्मनः ॥१९४॥
पुरे स्युर्दिक्षु भागेषु पदभागेषु केषु च ।
विप्रराजन्यविट्शूद्रास्तज्जैरन्तरजैः समम् ॥१९५॥
तथा कृषितुलाशिल्पकलापण्योपजीविनः ।
हिंसाश्रिताश्च पुरुषा निवेश्याः स्युः कथं क्व च ॥१९६॥
निवेशाः कीदृशाश्चैषां कियन्तो वा भवन्ति ते ।
शस्यन्ते केन वा केषां कैः प्रवेशजलभ्रमैः ॥१९७॥
धिष्ण्यमाद्यं कतिविधं द्रव्याण्याद्यानि कानि वा ।
हेतुरेषां च सर्वेषां स्याच्च कीदृगनुक्रमः ॥१९८॥
भजन्ते योगमन्योन्य कानि द्रव्याणि कैः सह ।
कानि योगं न गच्छन्ति कैर्वा कः क्व वसेत् पुमान् ॥१९९॥
इष्टकाकर्म किं चेष्ट कीर्तिता कतिधा च भूः ।
परिकर्मक्रमस्तासां वहास्नुप्लवनैश्च कः ॥२००॥
गुरुवर्णिध्वजोर्वीशतद्भृत्यप्रतिमा (?) पुराम् ।
धृचाः के के प्रशस्ताः स्युर्गृहार्थं के च गर्हिताः ॥२०१॥
तच्छेदस्रावसंभूतं शब्ददिक्पातगर्भजम् ।
विज्ञायते कथ कर्तृकारकादिशुभाशुभम् ॥२०२॥
प्रमाणं तच्छ्वणच्छेदैः शोधितानां कथं भवेत् ।
आहृत्य स्थापनं पूर्वं दारुणां स्थानके क्व च ॥२०३॥

सामान्यतोऽखिलानां काः काश्च जातेर्विशेषतः ।
प्रशस्तेलक्षमभियुक्ता भूमयः परिकीर्तिताः ॥२०४॥
शल्योद्धारविधिः कीदृक् कीदृशं भूमिकर्म च ।
दिग्ग्रहः सूत्रणा चाधिवासनं च कथं भवेत् ॥२०५॥
प्रमाणं मूलपादस्य शिलान्यासे च को विधिः ।
विभज्यते कथं वेश्म शालालिन्दविभाजनैः ॥२०६॥
मानानि कानि भित्तीनां पीठानामुच्छ्रयाश्च के ।
कथं तानि विकल्प्यानि वर्णानां मेखलादिभिः ॥२०७॥
समस्तकानां स्तम्भानां द्वारस्तम्भासनैः सह ।
नागवीथ्युपधानानां सम कण्ठविनिर्गमैः ॥२०८॥
जयन्तीसद्मग्रहतुलाकार्याणां वास्तुनोपि च ।
कीदृश फलकानां च प्रमाणं परिकीर्तितम् ॥२०९॥
स्वमानात् सर्ववर्णानां तलोच्छ्रायास्तु कीदृशाः ।
का गवाक्षकपोतालिवेदिकाजालकक्रियाः ॥२१०॥
स्थूणा निस्पिटकोरसूका मृगा (ल्यो।ल्यु) पतुलास्तथा ।
सान्तः प्राणिशिरोवशाः किंप्रमाणाः प्रकीर्तिताः ॥२११॥
छाद्योदयाः कियन्तः स्युर्स्तच्छाद्यक्रमश्च क ।
व्यथाणां खण्डवृत्ताना लुपानां च क्रियाः कथम् ॥२१२॥
सीमालिन्दशिर (स्वा१स्वा) सां कीदृशी चावलम्बना ।
कतिप्रकाराः प्रासादशिरसां च विकल्पनाः ॥२१३॥
यच्चान्यदेवमादि स्यात् प्रासादभवनादिषु ।
द्रव्यकाष्ठकलासंगि प्रमाण तस्य कीदृशम् ॥२१४॥
शालालिन्दप्रमाणानि चतुःशालेषु धामसु ।
ज्यायोमध्ययवीयस्सु सूपाभिः काष्ठकल्पना ॥२१५॥
एकद्वित्रिचतुःशालान्येषां संयोगतोपि च ।
कथं कति च वेश्मानि कल्प्यन्त प्रविभागशः ॥२१६॥
कथं च षोडशचतु. षष्ट्येकाशीतयः शतम् ।
सविभागा. पदाना स्युः कथमत्रामरस्थिति ॥२१७॥
आद्यो नवपदो वास्तुरन्यः साहस्रिकः कथम् ।
अगमर्यगभागेषु केषु केषु क्व तस्थुषः ॥२१८॥
कथमेते सुराः सर्वे वास्तोरस्य व्यवस्थिता ।
एतद्वंशशिरश्चक्षु कुक्षिहृन्मूर्धमर्मसु ॥२१९॥
जायेत पीडा द्रव्येषु सन्निविष्टेषु कस्य का ।
वास्त्वारम्भप्रवेशेषु यात्रायां स्थापनेषु च ॥२२०॥
दूतस्वप्ननिमित्तार्थैः कथं ज्ञेय शुभाशुभम् ।
दारुक्रियासु चित्रेषु तथा लेप्यक्रियासु च ॥२२१॥

योऽयं किं किमयोग्य च किं भूपभवनादिषु ।
हस्तस्य लक्षणं मानसंज्ञा वै जायते कथम् ॥२२२॥
किं द्रव्येष्वग्निलक्ष्म स्यात् किं च नियुक्तलक्षणम् ।
अनुक्रमेण वर्णानां वलिकर्म च कीदृशम् ॥२२३॥
विधेयं विधिना केन भवने च प्रवेशनम् ।
पतिते स्फुटिते जीर्णे प्लुष्टे वज्राशनिक्षते ॥२२४॥
निमग्नमग्ननिर्भिन्नप्रशीर्णेषु च वास्तुषु ।
मधुवल्मीकसंभूतौ प्रविरूढे च दारुणि ॥२२५॥
जायते किं फलं कुत्र प्रायश्चित्तेन को विधिः ।
इत्येवमादिकमनेकविधं विधाम वेश्मोपगं च पृथगाश्रयसम्भृतं च ।
अस्मास्वनल्पकरुणार्द्रितचित्तवृत्तिर्व्याख्यातुमर्हसि समस्तमनुक्रमेण ।
॥२२६॥ (३. १–६०)

(ii) कला के रूप में (As an art):—

चतुर्विध स्थापत्य

स्थापत्यमुच्यतेऽस्माभिरिदानीं प्रक्रमागतम् ।
ज्ञातेन येन ज्ञायन्ते स्थपतीनां गुणागुणाः ॥२२७॥
शास्त्रं कर्म तथा प्रज्ञा शीलं च क्रिययान्वितम् ।
लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत् ॥२२८॥
सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च ।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा ॥२२९॥
एतान्यंगानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान् ।
शास्त्रानुसारेणाभ्युद्य लक्षणानि च लक्षयेत् ॥२३०॥
प्रसिद्धशास्त्रदृष्टान्तैर्वास्तुज्ञानं प्रसाधयेत् ।
वास्तुनः ससिरावंशैर्मर्मवेधैः सुनिश्चितैः ॥२३१॥
वास्तुद्वारक्षणान् भूयः सर्वान् जानाति शास्त्रतः ।
यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिर्भवेत् ॥२३२॥
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ।
मिथ्याज्ञानादहंकारी शास्त्रे चैवाकृतश्रमः ॥२३३॥
अकालमृत्युर्लोकस्य विचरेद् वसुधातले ।
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ॥२३४॥
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ।
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ॥२३५॥
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशोऽन्येन वर्त्मसु ।
कर्म वास्तुविधेः स्थानं मानमुन्मानमेव च ॥२३६॥

चेत्रजा (दि?नि) च कर्माणि लुमालेखा (च?च)तुर्दश ।
च(स्वा?तु) रो गण्डिकाच्छेदान् वृत्तच्छेदेषु सप्तसु ॥२३७॥
सुश्लिष्टं सन्धिसन्धानैरधरोत्तरसयुतम् ।
याद्यरेखान्वितं शुद्धं यो जानाति स कर्मवित् ॥२३८॥
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपति. प्रज्ञया विना ।
फलेयुः कर्मभिरन्याभिः (?) स्यान्निर्मद इव द्विपः ॥२३९॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाह (त:?क) स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः । २४०॥
अप्रज्ञेय दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञापोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिरं (धिं) तरेत् ॥२४१॥
ज्ञानवांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ॥२४२॥
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अन्यचिन्त्यत्वमायाति दु.शीलानामविद्यायात् (?) ॥२४३॥
शीलवान् पूजितो लोके शीलवान् साधुसम्मतः ।
शीलवान् सर्वकर्माहः शीलवान् प्रियदर्शनः ॥२४४॥
शीलाधाने परं यत्नमा (घि?ति) ष्ठेत् स्थपतिः सदा ।
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ॥२४५॥
तथाचाष्टविधं कर्म ज्ञेयं स्थपतिना सदा ।
आलेख्यं लेप्यजात च दारुकर्मचयस्तथा ॥२४६॥
पाषाणसिद्धहेम्ना च शिल्पं कर्म तथैव च ।
एभिर्गुणैः समायुक्तः स्थपतिर्याति पूज्यताम् ॥२४७।
स्थापत्यमगैरिदमष्टभिर्यश्चतुर्विधं वेत्ति विशुद्धबुद्धिः ।
स शिल्पिनां ससदि लब्धपूजः परां प्रतिष्ठा लभते चिरायुः ॥२४८॥

(४४, १–२२)

अष्टांग स्थापत्य—

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
प्र्.मस्तदेव चेदानीमगैः सयुक्तमष्टभि. ॥२४९॥
तेष्वंगं प्रथमं प्रोक्त वास्तुपुंसो विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीय द्वारकर्म च ॥२५०॥
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागस्थानकानि च ॥२५१॥
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं तु ध्वजोच्छ्रितिः ।
पञ्चमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ॥२५२॥
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तम यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ॥२५३॥

यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ॥२५४॥
यो वेत्त्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।
यशो मानं स लभते पूज्यते च नराधिपैः ॥२५५॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिध्येत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥२५६॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥२५७॥

(४५. १–८)

द्वितीयपटल

पुर-निवेश

(औपोद्घातिक)

(अ) देशचयन एवं भू-परीक्षा Regional survey and the examination and selection of the site:—

(i) देश एवं देश-भूमियाँ

देशाश्च देशभूम्यश्च समासात् सव सम्प्रति ।
तत्संख्या तद्विभागश्च प्रोच्यन्तेऽवहितः शृणु ॥२५८॥
देशः स्याज्जांगलानूपसाधारणतया त्रिधा ।
त्रिविधस्याप्यथैतस्य यथावल्लक्षम कथ्यते ॥२५९॥
दूराम्बूरिरिणप्रायो ह्रस्वकण्टकिपादपः ।
रूक्षोष्णाचण्डपवनः कृष्णामृत्व तेपु जांगलः ॥२६०॥
निम्नो भूरिजल. स्निग्धो बहुमत्स्यामिपो हिमः ।
स्यादनूपः सरित्प्रायः स्निग्धोच्छ्रितबहुद्रुम. ॥२६१॥
यः पुनर्नातिशीतोष्णः स्याद् देशद्वयलक्षणः ।
स साधारण इत्युक्तो देशो देशविशारदैः ॥२६२॥
जांगलादिपु देशेपु त्रि (पुण्येष्वप्ये) पु स्वलक्षणैः ।
युक्ता. पोडश विज्ञेया भूमय. प्रविभागतः ॥२६३॥
वालिगस्वामिनी भोग्या सीतागोचररक्षिणी ।
अपाश्रयवती कान्ता खनिमत्यात्मधारिणी ॥२६४॥
वणिक्प्रसाधिता द्रव्यसम्पन्नामित्रघातिनी ।
आश्रेणीपुरुषा शक्यसामान्ता देवमातृका ॥२६५॥

धान्या हस्तिवनोपेता सुरक्षा चेति षोडश ।
भुव. संज्ञाभिरुद्दिष्टा लक्षमासामथ कथ्यते ॥२६६॥ (८, १-६)

(ii) देश-चयन एवं सुरम्य देश (Land and Landscape):—

धातुस्यन्दोज्ज्वलत्कुञ्जगुञ्जगुल्मलतावृतै. ।
उत्सङ्गिता: पृथुशिलै: समन्तादवनीधरै: ॥२६७॥
तीर्थावतारकांताभि: स्वादुतोयाभिरावृता ।
नदीभि: पुलिनप्रान्तैर्विचित्रद्रुमशालिभि ।२६८।
कोकिलालापसुभगैर्मधुमत्तालिशालिभि. ।
विचित्रफलपुष्पाढ्यै· काननैरुपशोभिता: ।२६९।
दलत्कुवलयश्रेणीकृणन्मधुपहारिभि: ।
सरसीदेवखाताद्यैर्भूषिता· प्राज्यवारिभि: ॥२७०।
समै: सुगन्धिभि: स्वादुशीतै: कान्तैरभङ्गुरै: ।
क्षेत्रैरुचितसीमान्तै. सस्यनिष्पादिभिर्वृता ॥२७१॥
निष्कण्टकाश्मवल्मीकै: प्रभूतयवसेन्धनै: ।
विभक्तक्षेत्रसीमान्तैर्गोचरैरुपशोभिता: ॥२७२॥
स्थले तृणसमुद्राणामन्तरेषु वसुन्धरा: ।
प्रशस्यन्ते समासन्नस्वादुशीतलवारय: ॥२७३॥
दुरात्मनामधृष्या यास्तथानेकाश्रयान्विता: ।
संरम्भग्रामनिर्मुक्त मनश्च रमयन्ति या: ॥२७४॥
तास्वेवगुणयुक्तासु महीषु विनिवेशयेत् ।
यथास्थानं जनपदान् खेटग्रामपुरादि च ॥२७५॥(८ २०-२५)
स्निग्धा: सारभृत. शुद्धा प्रदक्षिणजलाशया: ।
बहूदकास्तच्छन्ना निविडा प्रागुदक्प्लवा: ।२७६।
दूर्वास (रुवौ? ग्गौ) पर्णीमुन्जकुरन्दकुशवल्कलै: ।
परित: पग्णिद्धाश्च स्वादुस्वच्छस्थिरोदका: ॥२७७॥
वास्तुयज्ञामरस्थानाद्यारामोद्यानसंभृता. ।
तटाकवापीस्थानैश्च या: समन्तादलङ्कृता: ॥२७८॥
या वाहनानां सुखदा मिथुनानां रतिप्रदा ।
पुराद्यं ता: प्रशस्यन्ते भूमयो जनिनश्रिय. ॥२७९॥ (८, ४०-४३)

(iii) विविध भूमियां—चयन एवं परीक्षण Different soils and their selection and Examination.—

सिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही ।
विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषु मयवा हिता ॥२८०॥

स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात् ।
वर्णानां स्वादतः शस्ता सर्वेषां मधुराथवा ॥२८१॥
घर्मागमे हिमस्पर्शा या स्यादुष्णा हिमागमे ।
प्रावृष्युष्णहिमस्पर्शा सा प्रशस्ता वसुन्धरा ॥२८२॥
मृदंगवल्लकीवेणुदुन्दुभीनां समा ध्वनौ ।
द्विपा (न्दौष्य?श्वाब्धि) समस्वाना चेति स्युर्भूमयः शुभा. ॥२८३॥
(८, ४८–५१)

(IV) मृत्तिका-परीक्षा

करप्रमाणं कुर्वीत खातं तद्भूमिमध्यगम् ॥२८४॥
ततस्तन्मृदमाकृष्य तत् तयैवानुपूरयेत् ।
खाताधिकमृदुक्ता भूः श्रेष्ठा मध्या च तत्समा ॥२८५॥
प्रहीणखातमृत् क्षोणी हीना शस्ता न सा नृणाम् ।
खन्यमाने यदा खाते तन्मृदोऽन्तर्विलोक्यते ॥२८६॥
मणिशङ्खप्रवालादि तदातिश्रेयसी क्षितिः ।
सापि प्रशस्यते भूमिर्यस्यां स्युः खातपांसवः ॥२८७॥
तुषकेशोपलाङ्गारभस्मास्थिलववर्जिताः ।
भृत्वाद्भिः खातमापूर्य तस्मिन् पदशतं व्रजेत् ॥२८८॥
तावच्चेदागमेऽम्भः स्यात् तदा भूः सार्वकामिकी ।
मध्यमात्र प्रहीणे स्यात् ततो हीनतरेऽधमा ॥२८९॥
खाते सितादिमाल्यानि यस्यां निश्युषितानि च ।
यद्वर्णानि न शुष्यन्ति सा तद्वर्णेष्टदा मही ॥२९०॥
खातस्योदक्प्रभृतिषु दिक्षु प्रज्वालयीत वा ।
दीपान् यस्यां चिरं तिष्ठेत् तद्वर्णेष्टप्रदा हि सा ॥२९१॥
इत्येव कीर्तिताः कार्त्स्न्याल्लक्षणभिः पुरभूमयः ।
खर्वाटग्रामखेटानामेता एव स्मृता हिताः ॥२९२॥ (८, ६६½–७५)

ब. मान-योजना The standards of measurements:

(1) हस्त-विभाजन

रेणवष्टकेन वालाग्रं लिक्षा स्यादष्टभिस्तु तैः ।
भवेद् यूकाष्टभिस्ताभिर्यवमध्य तदष्टकात् ॥२९३॥
अष्टाभिः सप्तभिः षड्भिरङ्गुलानि यवोदरैः ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तच्चतुर्विंशतिः करः ॥२९४॥
सोऽष्टभिः पर्वभिर्युक्तः करः कार्यो विजानता ।
करस्यार्धं चतुःपर्वं शेषं स्याद् भक्तमङ्गुलैः ॥२९५॥
तत्राग्रे पर्वरेखाः स्युस्तिस्रः पुष्पकभूषिताः ।
शेषास्वङ्गुलरेखासु पुष्पाणि विदधीत न ॥२९६॥

अत्रार्धे मध्यतः कार्यं द्वेधा पञ्चममङ्गुलम् ।
म॰ त्रिधाष्टमं कार्यं चतुर्धा द्वादशं ततः ॥२६७॥
हस्तः स्यादङ्गुलमानेन विधेयाङ्गुल (मि?ह) ष्यते ।
तत् सार्धं द्विगुणं वापि बाहुल्यं तु तदर्धत. ॥२६८॥ (६. ४-६)

(॥) मान-विभाजन

स्यादेकमङ्गुलं मात्रा कला प्रोक्ताङ्गुलद्वयम् ॥२६६ ।
पर्वं त्रीण्यङ्गुलान्याहुर्मुष्टिः स्याच्चतुरङ्गुला ।
तल स्यात् पञ्चभिः षड्भि. करपादाङ्गुलैर्भवेत ॥३००॥
सप्तभि (र्दृ?दि) ष्टिरष्टाभिरङ्गुलैस्तूणिरिष्यते ।
प्रादेशो नवभिस्तैः स्याच्छयतालो दशाङ्गुलः ॥३०१॥
गोकर्णं एकादशभिर्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुला ।
चतुर्दशभिरुद्दिष्ट. पादो नाम तथाङ्गुलैः ॥३०२॥
रत्नि. स्यादेकविंशत्या स्यादरत्नि. करोन्मित. ।
द्वाचत्वारिंशता किष्कुरङ्गुलैः परिकीर्तितः ॥३०३॥
चतुरुत्तरयाशीत्या व्यामः स्यात् पुरुषस्तथा ।
पण्णवत्याङ्गुलैश्चापं भवेन्नाडीयुग तथा ॥३०४॥
शतं षडुत्तर दण्डो नल्वस्त्रि शद्धनुर्मितः ।
क्रोशो धनु.सहस्रं तु गव्यूतं तद्द्वय विदुः ॥३०५॥
चतुर्गव्यूतमिच्छन्ति योजनं मानवेदिन. ।
मान-संख्या
एक दश शतमस्मात् सहस्रमनु चायुतम् ॥३०६॥
नियुत प्रयुत तस्मादर्बुदन्यर्बुदे अपि ।
वृन्दखर्वनिखर्वाणि शंकुपद्मास्बुराशयः ॥३०७॥
ततः स्यान्मध्यमन्त्यं च परं चापरमप्यतः ।
परार्धं चेति विज्ञेयं दशवृद्धयोत्तरोत्तरम् ॥३०८॥
सख्यांस्थानानि कथितान्येवमेतानि विंशतिः ॥३०९॥
(६. २६$\frac{1}{2}$–४०$\frac{1}{2}$)

(॥।) मान प्रयोग

विभागायामविस्ताराः खेटग्रामपुरादिषु ॥३१०॥
प्रासादवेश्मपरिखाद्वाररथ्यासभादिषु ।
मर्गाश्च निर्गमा (यो?धौ) पां सीमदेशान्तराणि च ॥३११॥
वनोपवनभागाश्च देशान्तरविभक्तयः ।
योजनक्रोशगव्यूतिप्रमाणमपि चाध्वनः ॥३१२॥
प्राशयेन प्रमातव्याः स्यातस्कन्धराशयः ।
गर्तोच्छ्रयान् मूलपादान् जलोद्देशानध. स्थितः ॥३१३॥

तथा दोलाम्बुरासादि पातमानविनिर्णयम् ।
शैलखातनिकेतानि सुरंगामाननमान्तरम् ॥२१४॥
साधारणेन वास्यध्वमानं च परिकल्पयेत् ।
आयुधानि धनुर्दण्डान् यानं शयननासनम् ॥२१५॥
प्रमाणं कूपवापीनां गजानां वाजिनां नृणाम् ।
अरघट्टेक्षुयन्त्राणि युगयूपहलानि च ॥२१६॥
-शिल्प्युपस्करलौकत्रध्वजातोद्यानि यानि च ।
वृसीकर्नोसकरणपटवानादिकं च यत् ।
तत्त्वदण्डात्तथामात्राशयहस्तेन मापयेत् ॥२१७॥
(९.३०½–३९)

स. पद-विन्यास (Site plans):—

(I) वास्तुत्रय

एकाशीतिपदो य. स्यात् तथा शतपदश्च यः ।
चतुःषष्टिपदो यश्च वास्तुरत्र त्रिधोदितः ॥२१८॥(१२ १)

(II) वास्तु-प्रयोग

वर्णिनां भवनादीनि निवेशा राजवेश्मनाम् ।
एकाशीतिपदेनेन्द्रस्थानं च विभजेत् सुधीः ॥२१९॥
प्रासादा विविधास्तद्वद् विचित्राश्चात्र मण्डपाः ॥
तान् मापयेच्छतपदप्रविभागेन बुद्धिमान् ॥२२०॥
यः पुन. स्याच्चतुःषष्टिपदस्तेन विभाजयेत् ।
नरेन्द्रशिबिरग्रामखेटादि नगरादि च ॥२२१॥(१२.२–५)

य. नगर-प्रभेद

नगरं मन्दिरं दुर्गं पुष्करं साम्परायिकम् ।
निवासः सदनं सद्म चयः क्षितिक्षयस्तथा ॥२२२॥
यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः ।
शाखानगरसंज्ञानि ततोऽन्यानि प्रचक्षते ॥२२३॥
शाखानगरमेवाहुः कर्वटं नगरोपमम् ।
ऊनं कर्वटमेवेह गुणैर्निगम उच्यते ॥२२४॥
ग्रामः स्यान्निगमादूनो ग्रामकल्पो गृहस्त्वसौ ।
गोकुलावासमिच्छन्ति गोष्ठमल्पं तु गोष्ठकम् ॥२२५॥
तपस्थानं भवेद् राज्ञां यत्र तत् पत्तनं विदुः ।
बहुस्फीतवणिग्युक्तं तदुक्तं पुटभेदनम् ॥२२६॥

विधाय कुटिका यत्र पत्रशाखातृणोपलैः ।
पुलिन्दाः कुर्वते वासंप ल्ली स्वल्पा तु पल्लिका ॥२२७॥
नगरं वर्जयित्वान्यत् सर्वं जनपदः स्मृतः ।
नगरेण सम कृत्स्नं राष्ट्रं देशोऽथ मण्डलम् ॥२२८॥(१८.१–७)

राष्ट्रीय निवेश में ग्राम-निवेश की इकाई (unit)

Town planning as a unit of National planning:

नगरस्य विभागोऽयं यथावत् समुदीरितः ।
खेटं तदर्धविष्कम्भमाहुर्ग्रामं तदर्धतः ॥२२९॥
योजनेन पुरात् खेटं खेटाद् ग्राम प्रचक्षते ।
गव्यूतिपरिमाणेन ग्रामाद् ग्रामं प्रचक्षते ॥२३०॥
द्विक्रोशाद् विषये सीमा तदर्धेन पुरस्य सा ।
खेटके पुरसीमाथ ग्रामे खेटार्धतः स्मृता ॥२३१॥
त्रिंशद्धनूंषि विष्कम्भः पुरे दिग्वर्त्मसु स्मृतः ।
विंशतिः खेटके मार्गो ग्रामे दश च दर्शितः ॥२३२॥
नव ग्रामसहस्राणि नवति (श्चान्च) प्रचक्षते ।
चतु.षष्टिमपि ग्रामान् ज्यायो राष्ट्रं विदुर्बुधाः ॥२३३॥
दशार्धं च सहस्राणि ग्रामाणां त्रिशती तथा ।
ग्रामाश्चतुरशीतिश्च मध्यमं राष्ट्रमीरितम् ॥२३४॥
सहस्रमेक ग्रामाणा तद्वच्च शतपञ्चकम् ।
ध्रुना च ग्रामपञ्चाशत् कनीयो राष्ट्रमुच्यते ॥२३५॥
अध्यर्धसंख्ययैतेषां ज्येष्ठमध्यकनीयसाम् ।
विधाय नवधैकैकं विभजेद् विधिवत् सुधीः ॥२३६॥
राष्ट्रेष्वेवं विभक्तेषु यथाभागं विधानवित् ।
निवेशयेत् पुराण्येषु सप्त सप्त यथागमम् ॥२३७॥(१० ७१–८७)

ल. देवतायन Temples—Temple cities

निवेशनानि कुर्वीत त्रिदशानां यथाक्रमम् ।
नगराभिमुखं चित्रिवनमान्ति शुभानि च ॥२३८॥(१०.११०)

न- आरामोद्यानदिनियोजन— Gardens Orch ards and pools etc.—
Garden-cities

पूर्वं सशोष्य परिस्नाव्यितयं परितोऽम्भसि ,
विधेयमिष्टकाभिर्वा सम्यग्गदतलं स्थिरम् ॥२३९॥

सिरावारिभिरापूर्णां पूर्णां वागामिनाम्भसा।
विचित्रांऽत्रमनोहारि ससंग्राहाम्बुनिर्गमम् ॥३४०॥
सर्वपार्श्वेष्वथैतस्य गन्धान्धमधुपांगनान्।
सुमनोविटपारामान् कुर्याद् वासान् समुत्सुकान् ॥३४१॥
बाह्यभागं पुनस्तस्य विदध्यात् सर्वतोदिशम्।
द्रुममूलैर्लताजालैः कण्टकैरपि संवृतम् ॥३४२॥(१०.२२-२४)
दृष्टादृष्टोपभोगार्हान् सरिद्गिरिजलाशयान्।
पञ्चद्वाराणि कुर्वीत स्वेच्छया तत्र तत्र च ॥३४३॥
जलभ्रमान् पुरे कुर्याच्छिलादारुतिरोहितान्।
छिकरान् करमर्धं वा साम्भसोऽस्मिन् प्रदक्षिणान् ॥३४४॥
(१०. ४१-४२)

श. प्राकारादि-विन्यास Fortification

पुरस्य त्रिविधस्यापि प्रमाणमथ कथ्यते।
प्राकारपरिखाट्टालद्वाररथ्याध्वभिः सह ॥३४५॥(१०.१

ष. गर्हितपुर Inauspicious towns

छिन्नकर्णं विकर्णं च वक्रं सूचीमुखं तथा।
वर्तुलं व्यजनाकारं चापाकृतिधरं च यत् ॥३४६॥
शकटद्विसमं यच्च विस्ताराद् द्विगुणायतम्।
विदिक्स्थं सर्पचक्रं च तत् पुरं निन्दितं भवेत् ॥३४७॥(१०, ५३-५४)

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थानः—

प्रधान केन्द्र : १—शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद, लखनऊ।
२—C/o प्रो० डी० यन० शुक्ल, फैजाबाद रोड, लखनऊ।
३—लखनऊ के विख्यात हिन्दी बुकसेलर्स।

टि०—उत्तर-प्रदेश राज्य की सहायता ही के कारण इस अनुसन्धान-ग्रन्थ का मूल्य इतना कम रखा गया है।